जाति का प्रश्न और स्वतन्त्रता-पूर्व हिन्दी कथा साहित्य

Jaati Ka Prashna Aur Swatantrata-Poorv Hindi Katha Sahitya

[The Question of Caste and Pre-Independence Hindi Fiction]

पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध –निर्देशक

डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा

शोधार्थी

अमिष वर्मा

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2018

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 16/07/2018

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitle "**THE QUESTION OF CASTE AND PRE-INDEPENDENCE HINDI FICTION**" by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

Amish 16.07.18

AMISH VERMA
(Research Scholar)

16-7-18

DR. RAMAN PRASAD SINHA
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	**i-v**
प्रथम अध्याय	**1 - 76**
भारत में जाति संबंधी चिंतन	
(क) भारत में जाति संबंधी प्रारंभिक चिंतन	
(ख) स्वतंत्रता-पूर्व भारत में जाति संबंधी चिंतन	
(ग) स्वातंत्र्योत्तर भारत में जाति संबंधी चिंतन	
द्वितीय अध्याय	**77- 162**
स्वतंत्रता-पूर्व हिन्दी उपन्यास और जाति का प्रश्न	
(क) जाति का सामाजिक यथार्थ और जातिवादी शोषण	
(ख) चरित्र-चित्रण: व्यक्तिगत पहचान बनाम जातिगत पहचान	
(ग) जाति की समस्या: जिसके आगे राह नहीं	
तृतीय अध्याय	**163-227**
स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी कहानी और जाति का प्रश्न	
(क) जातिवादी शोषण का सामाजिक यथार्थ	
(ख) चरित्र-चित्रण: जाति के आईने में व्यक्ति का अक्स	
(ग) जाति और जातिवाद: मुक्ति की राहें	
चतुर्थ अध्याय	**228-266**
जाति का प्रश्न और शिल्प	
(क) शिल्प	
(ख) भाषा	
उपसंहार	**267-318**
ग्रंथानुक्रमणिका	**319-326**

भूमिका

जाति के सवाल के संदर्भ में हिन्दी साहित्य की परंपरा के पुनर्पाठ का काम अभी बाकी है। पूरी हिन्दी आलोचना ने हिन्दी साहित्य के पाठ के जो भी 'टूल्स' निर्मित किए, उसमें जाति के सवाल को कहीं शामिल नहीं किया गया। हिन्दी आलोचना पर 'वर्णाश्रमधर्मी और जातिवादग्रस्त' होने के आरोप तो लगते रहे (आचार्य रामचंद्र शुक्ल के संदर्भ में मुक्तिबोध का आरोप) लेकिन हिन्दी आलोचना के 'टूल्स' निर्मित होते रहे वर्ग चेतना के आधार पर। जाति और जातिवाद के सवालों को केंद्र में रखकर हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन से हिन्दी आलोचना लगातार परहेज करती रही है। वर्ग-चेतना का आग्रह सर चढ़कर बोलता रहा है। हिन्दी आलोचना ने जाति के सामाजिक यथार्थ को अनदेखा करके वर्ग के रूप में एक आभासी यथार्थ को निर्मित किया। एक ऐसा यथार्थ जो हमारे समाज का यथार्थ आज भी नहीं बन सका है। भारतीय समाज आज भी वर्ग समाज बनने की प्रक्रिया में बहुत पीछे है। दूसरी तरफ, जाति का सामाजिक यथार्थ अपने अनेक रूपों में समाज से लेकर साहित्य तक में व्याप्त है। हिन्दी के साहित्यकारों ने जाति के सामाजिक यथार्थ को कतई अनदेखा नहीं किया। ऐसे में हिन्दी आलोचना द्वारा जाति के सवालों को नजरअंदाज किया जाना खटकता है।

हिन्दी आलोचना के आईने में हिन्दी साहित्य का जो रूप दिखाई पड़ता है, उससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के लिए जाति कोई अहम मुद्दा नहीं है। लेकिन हिन्दी आलोचना के माध्यम से न देख कर सीधे हिन्दी साहित्य को देखा जाए तो हिन्दी आलोचना द्वारा हिन्दी साहित्य की बनाई गई तस्वीर थोड़ी भ्रामक लगती है। हिन्दी के साहित्यकार जाति के सवाल को लेकर काफी सचेत दिखाई पड़ते हैं। इस बात को मजबूती से और तथ्यात्मक ढंग से कहे जाने की जरूरत है। प्रस्तुत शोध कार्य इसी दिशा में एक लघु प्रयास है। प्रस्तुत शोध कार्य में

स्वतंत्रता पूर्व के हिन्दी कथा साहित्य में जाति के सवाल की उपस्थिति तथा अभिव्यक्ति के स्वरूप को जाँचने-परखने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध कार्य को अध्ययन की सुविधा के लिए चार अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय है- 'भारत में जाति संबंधी चिंतन'। इस अध्याय को तीन उप-अध्यायों- 'भारत में जाति संबंधी प्रारंभिक चिंतन', 'स्वतंत्रता-पूर्व भारत में जाति संबंधी चिंतन', और 'स्वातंत्र्योत्तर भारत में जाति संबंधी चिंतन' में बाँटते हुए वेद आदि प्राचीन ग्रंथों में मौजूद जाति-वर्ण संबंधी चिंतन से लेकर फुले, गाँधी, अंबेडकर और फिर लोहिया, एम. एन. श्रीनिवास और कुछ समकालीन समाजशास्त्रियों के जाति संबंधी चिंतन के आधार पर जाति की अवधारणा, उसकी उत्पत्ति तथा उसकी वर्तमान स्थिति को समझने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'जाति का प्रश्न और स्वतंत्रता-पूर्व हिन्दी उपन्यास' को तीन उप-अध्यायों में बाँटते हुए आजादी से पहले के हिन्दी उपन्यासों में जाति के सामाजिक यथार्थ की उपस्थिति एवं अभिव्यक्ति के साथ-साथ तमाम जातिगत टिप्पणियों, जातियों से जुड़ी अभिव्यक्तियों, चरित्र-निर्माण तथा चरित्र-चित्रण में जाति की भूमिका, जातिवाद के समाधान के प्रयास आदि की सूक्ष्मता से पड़ताल करते हुए उन पर विस्तार से विचार करने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता-पूर्व के हिन्दी उपन्यासकारों की जाति-दृष्टि को भी समझने की कोशिश इस अध्याय में की गई है।

तीसरा अध्याय 'जाति का प्रश्न और स्वतंत्रता-पूर्व हिन्दी कहानी' है। इसे भी तीन उप-अध्यायों में बाँटते हुए स्वतंत्रता-पूर्व की हिन्दी कहानी में जाति के सवाल को चिन्हित करने का

प्रयास किया गया है। जाति प्रश्न के संबंध में स्वतंत्रता-पूर्व के हिन्दी कहानीकारों के नजरिए को भी स्पष्ट करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

चौथे अध्याय 'जाति का प्रश्न और कथा-शिल्प' में जाति और कथा-शिल्प एवं कथा-भाषा के आपसी संबंध को समझने की कोशिश की गई है। प्राविधिक स्तर पर विभिन्न जातियों के अवलोकन बिंदुओं का प्रयोग अनेक कथाकारों ने किया है। इस तरह के प्रयोगों को रेखांकित एवं विश्लेषित करने की कोशिश की गई है। इसके अलावा भाषा के भीतर के जातिवाद तथा जातिवाद की भाषा को विश्लेषित करते हुए कथा-भाषा और जाति के सवाल के संबंधों की पड़ताल करने का प्रयास भी किया गया है।

उपसंहार अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो गया है। दरअसल इस बात की जाँच करने के लिए कि आजादी से पहले के कथा साहित्य में जाति के यथार्थ की अभिव्यक्ति का जो 'ट्रेंड' था, वह आजादी के बाद के साहित्य में मौजूद है अथवा नहीं, और अगर है तो किस रूप में है, शोधार्थी को यह आवश्यक लगा कि आजादी के बाद के कथा साहित्य में जाति के सवाल की उपस्थिति एवं अभिव्यक्ति के स्वरूप को भी संक्षेप में देखा-समझा जाए। साथ ही यह बात इसलिए भी जरूरी लगी ताकि हिन्दी आलोचना एवं हिन्दी साहित्य के समाजशास्त्र में जाति के सवाल की गैरमौजूदगी के कारणों को समझा जा सके। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य के विश्लेषण के आधार पर यह बात कही जा सकती है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य भी जाति और जातिवाद के सामाजिक यथार्थ और उसके बदलते स्वरूप को लेकर काफी सचेत है। इस विश्लेषण से स्वतंत्रता-पूर्व के कथा साहित्य और जाति के प्रश्न के संदर्भ में शोधार्थी के निष्कर्षों की पुष्टि भी होती है।

प्रस्तुत शोध कार्य के इस रूप में पूर्ण होने में मेरे शोध-निर्देशक आदरणीय डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा का महत्वपूर्ण योगदान है। उनके सहयोग के बिना शोध कार्य का संपन्न हो पाना संभव नहीं

था। उन्होंने समय-समय पर अत्यंत महत्वपूर्ण सलाह और सुझाव देने के साथ-साथ अपनी व्यस्तता के बावजूद मेरे शोध प्रबंध को आद्योपांत देखने के लिए समय निकाला। उनके प्रति बहुत ही आदर और सम्मान के साथ आभार व्यक्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनका स्नेह हमेशा पाता रहूँगा।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय और पटना विश्वविद्यालय के सभी शिक्षकों का आजीवन ऋणी हूँ जिनसे मैंने साहित्य, समाज और जीवन को समझने का हुनर सीखा है।

प्रो. वीर भारत तलवार ने शोध संबंधी अत्यंत महत्वपूर्ण सुझाव दिए। उनकी आत्मीयता से बराबर मुझे संबल मिलता रहा है। उनका स्नेह यूँ ही बना रहे बस!

मिज़ोरम में नौकरी करते हुए शोध कार्य करने की अपनी कठिनाईयाँ रहीं। शोध कार्य से जुड़ी आजादी से पहले की प्रकाशित अनेक पुस्तकें अप्राप्य हो चुकी थीं। उन पुस्तकों को विभिन्न पुस्तकालयों में ढूँढना था। मिज़ोरम में रहकर नौकरी करते हुए यह एक कठिन काम था। इस काम में मेरे अनेक मित्रों ने उम्मीद से ज़्यादा मदद की। बड़े भाई सूर्यनाथ जी ने पटना से अनूपलाल मंडल के उपन्यास उपलब्ध कराए। नरेश जी ने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित परिषद् पत्रिका का 'अनूपलाल मंडल विशेषांक' उपलब्ध करवाया। अनुज अजय आनंद ने दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से 'उग्र' के उपन्यास 'बुधुआ की बेटी' की फोटो कॉपी करवाकर मुझे भेजा। मित्र रत्नेश ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से कुछ सामाग्री उपलब्ध कराई। नागरी प्रचारिणी सभा के कर्मचारी और मेरे मित्र अमलेश जी ने नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय से ऋषभचरण जैन का उपन्यास 'वेश्यापुत्र' उपलब्ध करवाया। माही ने मेरे लिए दिल्ली के विभिन्न पुस्तकालयों के चक्कर लगाए। मित्र शीतांशु और अनिरुद्ध जी के साथ शोध-संबंधी अनेक मुद्दों पर बातचीत होती रही। इन सब का सहयोग अतुलनीय और कभी न भूलने वाला है। इन सबके प्रति आभार! मुझे गर्व है कि मेरे पास ऐसे मित्र हैं।

मेरे परिवार के तमाम लोग मेरे शोध-कार्य के पूरा होने का इंतज़ार कर रहे थे। अब उन्हें भी राहत मिलेगी। कमलेश जीजू ने इस शोध-कार्य में मेरी बहुत मदद की। वे स्वयं जाति के सवाल पर पिछले कुछ वर्षों से लगातार लिख-पढ़ रहे हैं। शोध से जुड़े विभिन्न मुद्दों पर उनके महत्वपूर्ण सुझाव

प्राप्त हुए। आज मैं जहाँ भी हूँ, वहाँ तक पहुँचाने में पापा-मम्मी ने जो संघर्ष किया है वह मेरी थाती है। मुझे गढ़ने में मेरी बहनों की बहुत बड़ी भूमिका है। उन सबका प्यार मुझे मिलता रहे- यही आकांक्षा है।

जीवनसंगिनी और दोस्त खुशबू ने न केवल मुझे गृहस्थी के झंझटों से मुक्त रखा बल्कि शोध प्रबंध के कई हिस्सों को घंटों समय देकर सुना और उसपर अपनी प्रतिक्रिया भी दी। नन्हें आयुष्मान ने जीवन को विविध रंगों से भर दिया। शोध कार्य में इन दोनों की भूमिका मेरे लिए अकथ है...बिल्कुल कबीर की 'अकथ कहानी' की तरह...

अमिष वर्मा

प्रथम अध्याय

भारत में जाति संबंधी चिंतन

(क) भारत में जाति संबंधी प्रारंभिक चिंतन

(ख) स्वतंत्रता-पूर्व भारत में जाति संबंधी चिंतन

(ग) स्वातंत्र्योत्तर भारत में जाति संबंधी चिंतन

भारत में जाति संबंधी प्रारंभिक चिंतन

वर्ण-व्यवस्था को यदि जाति-व्यवस्था का पूर्वरूप माना जाए, अथवा इन दोनों को कम से कम परस्पर संबद्ध भी माना जाए तो इस दिशा में हुए चिंतन को वेदों में देखा जा सकता है। यद्यपि जाति-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था के आपसी संबंध को लेकर विद्वानों में विभिन्न प्रकार के मतभेद हैं, तथापि इतना तो स्पष्ट ही है कि दोनों परस्पर संबद्ध हैं और जाति-व्यवस्था को ठीक से समझने के लिए वर्ण-व्यवस्था को समझना अनिवार्य है।

ऋग्वेद में वर्ण-व्यवस्था को लेकर कोई बहुत विस्तृत चिंतन दिखाई नहीं पड़ता। अब तक के तमाम शोधों के बाद ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में वर्णों का प्रारंभिक रूप से उल्लेख सिद्ध होता है। ऋग्वेद के दसवें मंडल में पुरूषसूक्त के अन्तर्गत मंत्र संख्या 11 में एक प्रश्न किया गया है-

"यत् पुरूषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते।।"[1]

अर्थात् 'जब (देवों ने) पुरूष को पशु रूप में भावित किया तो उसकी किस प्रकार से कल्पना की। (अर्थात्) इसका मुख क्या था, कौन भुजायें थीं, क्या ऊरू और चरण कहे गए?[2]

इस पुरूषसूक्त का 12वाँ मंत्र उक्त प्रश्न का उत्तर देता हैं-

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।"[3]

अर्थात् 'ब्राह्मण इस लोकपुरूष (विराट् पुरूष) का मुख था; क्षत्रिय भुजाओं के रूप में बनाया गया; जो वैश्य हुआ वह इसके ऊरू - घुटनों के ऊपर का अंग था, पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।'[4]

ऋग्वेद के ये मंत्र थोड़े-बहुत पाठान्तर के साथ यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी मौजूद हैं। पुरूषसूक्त के इन मंत्रों के अलावा भी ब्राह्मण शब्द ऋग्वेद में अन्य कई स्थलों पर मिलता है।[5] क्षत्रिय शब्द का उल्लेख भी ऋग्वेद में कई बार हुआ है। वैश्य शब्द ऋग्वेद में केवल इसी मंत्र[6] में प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र विशः शब्द का प्रयोग मिलता है। शूद्र शब्द ऋग्वेद में केवल उपर्युक्त मंत्र में ही मिलता है। अन्य वेदों में यह शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है।

आदिपुरूष के विभिन्न अंगों से चारों वर्णों की उत्पत्ति का प्रसंग वेदों के अतिरिक्त विभिन्न स्मृतियों, ब्राह्मण ग्रंथों आदि में भी प्रायः उसी रूप में मिलता है। लेकिन ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में आए इस प्रसंग और अन्यत्र इस प्रसंग के पुनउर्ल्लेख में एक बुनियादी अंतर है, जिसपर ध्यान दिया जाना ज़रूरी है। पुरूषसूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति के प्रसंग में इन चारों वर्णों की उत्पत्ति आदिपुरूष के विभिन्न अंगों से बताई गयी है। वहाँ किसी प्रकार की श्रेणीबद्धता (हायरार्की) का उल्लेख नहीं मिलता। इस मंत्र के ठीक बाद ऋग्वेद के पुरूषसूक्त के 13वें मंत्र में चंद्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि और वायु की उत्पत्ति का उल्लेख है। इसी प्रकार आगे के मंत्रों में भी सृष्टि के विभिन्न अवयवों की उत्पत्ति आदिपुरूष के विभिन्न अंगों से बताई गयी है। मुख से पैदा होने के कारण ब्राह्मण श्रेष्ठ है और पैरों से पैदा होने के कारण शूद्र हीन है, ऐसा कोई प्रसंग ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में नहीं मिलता है। लेकिन अन्य ग्रंथों में जहाँ इस प्रसंग का उल्लेख किया गया है, वहाँ इसे विस्तार दिया गया है, व्याख्यायित किया गया है और उसी क्रम में वर्णों का सामाजिक स्तरीकरण भी किया गया है।

मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में पुरूषसूक्त वाले मंत्र के समान अभिप्राय वाला श्लोक मिलता है-

"लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरूपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।।31।।[7]

अर्थात् "लोकों के अभिवृद्धि के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की।"[8]

मनुस्मृति में ऋग्वेद के पुरूषसूक्त की बात को ही दुहराया जा रहा है। किन्तु वह यहीं पर ठहरता नहीं है। पूरी मनुस्मृति जैसे वर्णाश्रम की व्याख्या करने के उद्देश्य से तैयार की गई पुस्तक है। मनुस्मृति वर्णों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य तथा अधिकार तय करती है। और इसी क्रम में विभिन्न वर्णों की सामाजिक हैसियत भी तय कर देती है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के 87वें श्लोक में कहा गया है-

"सर्वस्याऽस्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।

मुखबाहूरुपज् जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत्।।87।।"[9]

अर्थात् "उन बड़े तेजस्वी ब्रह्मा ने सृष्ट इस संपूर्ण जगत् की रक्षा के लिए अपने मुख से जन्मे हुए मनुष्यों के (ब्राह्मणों के), अपने बाहु से जन्मे हुए मनुष्यों के (क्षत्रियों के), अपने ऊरु से जन्मे हुए मनुष्यों के (वैश्यों के) और अपने पैर से जन्मे हुए मनुष्यों के (शूद्रों के) अलग-अलग कार्यों की व्यवस्था की।"[10]

इसके आगे चारों वर्णों के कर्मो का निर्धारण किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार वेद-वेदांग पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना तथा दान देना-लेना ब्राह्मणों के कर्म हैं। इसी प्रकार, प्रजा की रक्षा करना, वेद-वेदांग, धनुर्वेद, नीतिशास्त्र पढ़ना आदि क्षत्रियों का और पशुपालन, वेद-वेदांग, अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र पढ़ना, क्रय-विक्रय करना, व्याज पर धन लगाना और खेती करना वैश्यों का कर्म बताया गया है। शूद्रों के लिए तीनों वर्णों की सेवा करना 'मुख्य धर्मरूप कर्म' बताया गया है।[11]

मनुस्मृति कर्मों के बँटवारे तक ही नहीं ठहरती। वर्णो के पदानुक्रम को और स्पष्ट करने के लिए वह शुद्धि-अशुद्धि के सिद्धांत का भी सहारा लेती है। शरीर के नाभी से ऊपर के हिस्से को नीचे के हिस्से से अधिक शुद्ध बताकर वस्तुतः मनुस्मृतिकार वर्णों की शुद्धि और अशुद्धि की श्रेणी का ही निर्धारण करता है। मनुस्मृति में लिखा गया है-

"ऊर्ध्वं नाभेर् मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।

तस्मान् मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा।।[12]

मतलब, नाभि से ऊपर का भाग पुरुष की नाभि से नीचे के भाग की अपेक्षा अधिक शुद्ध होता है, ऐसा ब्रह्मा द्वारा बताया गया है। नाभि से ऊपर के अन्य भागों में भी मुख को सबसे अधिक शुद्ध बताया गया है। हिन्दू धर्म के भीतर जातियों के बीच स्पृश्यता और अस्पृश्यता के व्यवहार के सैद्धांतिक आधारों को ऐसे कथनों के आधार पर देखा-समझा जा सकता है।

मनुस्मृति में वर्ण के साथ-साथ जातियों का भी बहुत ही स्पष्टता से उल्लेख मिलता है। दसवें अध्याय में अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न वर्णसंकर जातियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भी जाति के जिन लक्षणों की पहचान की है, उन सब को यहाँ देखा जा सकता है। वर्ण तथा जाति का जन्माधारित होना तो पूरी मनुस्मृति में देखा जा सकता है। वर्णसंकर जातियों की अवधारणा ही जाति के जन्माधारित होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। समुदाय से बाहर विवाह का निषेध जाति की एक प्रमुख पहचान है। मनुस्मृति में ऐसे निषेधों के कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। वर्णसंकरता को मनुस्मृति में न सिर्फ हेय समझा गया है, बल्कि उसे समाज और राष्ट्र के लिए ख़तरा भी बताया गया है।

"यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।

राष्ट्रियैः सह तद् राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति।।61।।"[13]

अर्थात्, "जिस राष्ट्र में वर्णों को दूषित करने वाले, अवैध स्त्रीपुरूष संबंध से जनम लेने वाले संकरजाति के ये लोग उत्पन्न होते हैं, वह राष्ट्र राष्ट्रवासियों के साथ ही शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।"[14]

समुदाय के भीतर विवाह का विधान केवल विभिन्न वर्णों के लिए ही नहीं था, बल्कि वर्णसंकर वर्णबाह्य जातियाँ भी यदि अपने समुदाय से बाहर विवाह करें तो और अधिक निकृष्ट जातियों के मनुष्य के पैदा होने की बात मनुस्मृति में की गई है-

"प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान् पुनः।

हीना हीनान् प्रसूयन्ते वर्णान् पंचदशैव तु।।31।।"[15]

तात्पर्य यह कि "नीच बाह्य लोग (चण्डाल, क्षत्ता, आयोगव, वैदेह, मागध, सूत) प्रतिलोम रूप में और अनुलोम रूप में भी भिन्न जाति की स्त्रियों में वर्ताव करते हुए अपने से भी बाह्य नीच पन्द्रह-पन्द्रह जातियों को जन्म देते हैं।"[16]

विभिन्न जातियों के बीच स्पृश्यता-अस्पृश्यता के व्यावहारिक नियमों का प्रतिपादन भी मनुस्मृति में कई जगहों पर देखा जा सकता है। कुछ जातियों के सामाजिक बहिष्कार और अस्पृश्यता के अमानवीय नियमों का निर्धारण करते हुए मनुस्मृतिकार ने लिखा है-

"चण्डाल-श्वपचानां तु बहिर् ग्रामात् प्रतिश्रयः।

अपपात्राश् च कर्तव्या धनमेषां श्व-गर्दभम्।।51।।

वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।

काष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः।।52।।"[17]

अर्थ किया गया है- "चण्डालों का और श्वपचों का गाँव से बाहर निवास होना चाहिए, ये अपपात्र (इन से खाए गए पात्रों को साफ करने पर भी द्विजाति के लिए अग्राह्य होने की व्यवस्था से विशेष रूप में बहिष्कृत किए जाने चाहिए, इनका धन कुत्ते और गधे हों, इनके वस्त्र मृतक के वस्त्र (कफन इत्यादि) हों, इनका भोजन टूटे फूटे बर्तनों में हो, इनका आभूषण काले लोहे का बना हुआ हो और इनका निवास के लिए सर्वदा इधर-उधर घूमना होता रहे।"[18]

धर्मकार्य में लगे मनुष्यों को ऐसी वर्णबाह्य अधम जातियों के मनुष्यों के साथ किसी भी प्रकार का संबंध न रखने का निर्देश मनुस्मृतिकार देते हैं। साथ ही इन वर्णबाह्य जातियों के लिए भी नियम निर्धारित करते हैं-

"न तैः समयमन्विच्छेत् पुरूषों धर्ममाचरन्।

व्यवहारो मिथस् तेषां विवाहः सदृशैः सह।।53।।"[19]

अर्थात् "धर्मकार्य करता हुआ मनुष्य उन लोगों से बातचीत इत्यादि व्यवहार न करे, उनका व्यवहार उन लोगों में ही परस्पर में होना चाहिए, उनका विवाह भी उनके सदृश (उनके अपनी जाति के) मनुष्यों से ही होना चाहिए।"[20]

ध्यान देने वाली बात है कि इन 'वर्णबाह्य नीच जातियों' के लिए भी जाति के अन्तर्गत ही विवाह के नियम को अनिवार्य रखा गया है।

मनुस्मृति के समान ही याज्ञवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति, नारद स्मृति आदि में वर्ण-व्यवस्था संबंधी नियमों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इन तमाम स्मृतियों में बताए गए वर्णधर्म संबंधी नियम थोड़े-बहुत अंतर के साथ लगभग एक से हैं। ज्यादातर बातें तो एकदम समान हैं। सभी स्मृतियाँ वर्णों की श्रेणीबद्धता, उनके कर्तव्याकर्त्तव्य तथा अधिकार, विवाह संबंधी नियम आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख करती हैं तथा एक स्वर से वर्णसंकरता का विरोध करती हैं। वर्णसंकरता से उत्पन्न होने वाली जातियों के नाम भी बिल्कुल एक हैं। इसलिए इन सब स्मृतियों से उदाहरण प्रस्तुत करना केवल मनुस्मृति में कही गई बातों को दुहराना होगा।

'मनुस्मृति' और कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' लगभग एक ही समय की रचना मानी जाती है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' मूल रूप से राज्य के संचालन, नियंत्रण तथा नियमन के सिद्धांतों के सूत्रीकरण का ग्रंथ है। इसी सूत्रीकरण की प्रक्रिया में कौटिल्य वेदानुमोदित वर्णधर्म की रक्षा को राजा की प्राथमिक जिम्मेदारी बताते हैं। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को लोकोपकारक बताते हुए कौटिल्य लिखते हैं-

"एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः।'[21]

अर्थात्, ''त्रयी में निरूपित यह धर्म, चारो वर्णों और चारों आश्रमों को अपने-अपने धर्म (कर्त्तव्य) में स्थिर रखने के कारण लोक का बहुत ही उपकारक है।''[22]

यहाँ 'त्रयी' से कौटिल्य का तात्पर्य 'साम', 'ऋक्' तथा 'यजु'- इन तीन वेदों से है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित नीतियों के वेदोक्त ब्राह्मण व्यवस्था का समर्थक होने की बात रामशण शर्मा भी करते हैं। वे लिखते हैं- ''जहाँ तक आंतरिक नीति का संबंध है, कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य ब्राह्मण समाजव्यवस्था का रक्षक और समर्थक है तथा ब्राह्मण धर्माचरणों का अनुयायी है। ब्राह्मणवाद का जो रूप वैदिक धर्म में विकसित हुआ है, उसे 'अर्थशास्त्र' में वर्णित राजव्यवस्था का मूल आधार माना जा सकता है। धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इस विषय में इस पुस्तक की मान्यताएँ तीन वेदों पर आधारित हैं। वैदिकोत्तर काल में सामाजिक ढाँचे की आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने वाले वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या कौटिल्य उन्हीं शब्दों में करते हैं जिनकी झाँकी हमें धर्मसूत्रों में मिलती है।''[23]

प्रत्येक वर्ण के लोग अपने-अपने वर्ण के अनुकूल आचरण करें- इस बात की चिन्ता 'अर्थशास्त्र' में बराबर बनी हुई है। कौटिल्य लिखते हैं-

''स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकः संकरादुच्छिद्येत।''[24]

मतलब 'अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसका पालन न करने से वर्ण तथा कर्म में संकरता आ जाती है, जिससे लोक का नाश हो जाता है।'[25]

कौटिल्य की चिंता बिल्कुल वही है जो मनुस्मृतिकार की चिन्ता है। राज्य में धर्म के अनुकूल आचरण को सुनिश्चित करने का दायित्व कौटिल्य राजा को सौंपते हैं-

''तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।

स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।।''[26]

अर्थात्, ‘‘राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है।’’[27]

कौटिल्य राजा के माध्यम से जिस व्यवस्था को पोषित और संरक्षित करते हैं, उसके बारे में रामशरण शर्मा की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है- ‘‘कौटिल्य राजा से अपेक्षा करता है कि वह उस ब्राह्मण समाज व्यवस्था को कायम रखे और उसका पालन कराए जिसका औचित्य वेदों पर आधारित है।’’[28]

विभिन्न वर्णों के द्वारा अनुलोम और प्रतिलोम विवाह से पैदा हुई संतानों के बारे में भी कौटिल्य मनुस्मृति की तरह ही विवरण देते हैं। वर्णसंकरता को राजा और राज्य-व्यवस्था की धर्मभ्रष्टता का परिणाम बनाते हुए कौटिल्य लिखते हैं-

‘‘त एते प्रतिलोमाः स्वधर्मातिक्रमाद् राज्ञः सम्भवन्ति।’’[29]

मतलब कि ‘राजा जब धर्मभ्रष्ट हो जाता है तभी ये प्रतिलोम वर्णसंकर संतानें पैदा होती हैं।’[30]

वर्णसंकरता के लिए राजा उत्तरदायी इसलिए है क्योंकि राज्य में वेदों में बताए गए नियमों के अनुसार, वर्णानुकूल आचरण को सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी कौटिल्य के अनुसार राजा की है।

कौटिल्य ने जो दंड की व्यवस्था बताई है, उसमें बराबर वर्णों की उच्चता और निम्नता का ध्यान रखा गया है। समान अपराध के लिए विभिन्न वर्णों के अनुसार उत्तम साहस दंड, मध्यम साहस दंड, प्रथम साहस दंड और प्राण दंड की व्यवस्था की गई है। जिस अपराध से ब्राह्मण कुछ पण का जुर्माना देकर मुक्त हो जाता है, उसी अपराध के लिए शूद्र को प्राणदंड देने की व्यवस्था कौटिल्य के अर्थशास्त्र में की गई है। इस प्रकार के तमाम नियम-कानून बनाने के पीछे कौटिल्य का उद्देश्य

मूलतः ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों की श्रेष्ठता को बनाए-बचाए रखना तथा वर्णाश्रम के बहाने इन तथाकथित उच्च वर्णों के हितों को सुरक्षित बनाए रखना है।

महाभारत तथा वाल्मीकि रामायण में भी वर्ण-व्यवस्था की रक्षा की चिंता बहुत स्पष्ट ढंग से दिखाई पड़ती है। महाभारत में फिर ऋग्वेद के पुरूषसूक्त की बात को दुहराया गया है। शांतिपर्व में बताया गया है-

"ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिरः।
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत्प्रभुः।।1।।
बाहुम्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरतः शतम।
पदम्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभः।।2।।"[31]

मतलब कि 'त्रिकालद्रष्टा कृष्ण ने अपने मुँह से श्रेष्ठ ब्राह्मणों, दोनों भुजाओं से सौ क्षत्रियों, दोनों जंघाओं से सौ वैश्यों तथा दोनों पैरों से सौ शूद्रों को जन्म दिया।'[32] ऋग्वेद, मनुस्मृति आदि में जिस आदिपुरुष के विभिन्न अंगों से वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है उस आदिपुरुष का स्थान महाभारत में कृष्ण ने ले लिया है। शेष बातें वही हैं।

इसके अतिरिक्त महाभारत के विभिन्न पर्वों में, खासतौर पर 'शांतिपर्व' में विस्तार से विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्यों और अधिकारों को बताया गया है। वर्ण धर्म के पालन संबंधी नियमों को अन्य ग्रंथों की तरह महाभारत में भी बहुत ही स्पष्टता से देखा जा सकता है। इतिहासकार रामशरण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ' में इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखा है।

वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में शंबूक-वध का पूरा प्रकरण वर्ण-व्यवस्था के आदर्श को सुरक्षित रखने का ही उदाहरण है। शंबूक-वध प्रकरण से पहले, 74वें सर्ग में, जिसमें राम से नारद तथा अन्य महर्षि किसी शूद्र की तपस्या को एक ब्राह्मण बालक की मृत्यु का कारण बताते हैं, उस

पूरे सर्ग में वर्णाश्रम की महिमा और वर्णाश्रमानुसार आचरण के अभाव में राज्य में अधर्म और अनैश्वर्य फैलने की बात कही गई है। रामशरण शर्मा भी लिखते हैं कि 'रामायण के अधिकांश भाग एक वर्ण-विभाजित एवं राज्य-आधारित समाज के आधारों को स्थापित करते हैं।'[33]

वर्णाश्रम की व्यवस्था को आदर्श समाज व्यवस्था बताने वाले इन तमाम धर्मशास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों आदि में एक बात पर मुख्य रूप से ध्यान जाता है कि इन सब में वर्णाश्रम के टूटने की गहरी चिंता व्यक्त हुई है। ये सारे ग्रंथ एक स्वर से वर्णाश्रम की पुनर्बहाली की बात करते हैं। ज़ाहिर है कि ये सारे ग्रंथ जिस समय और समाज में रचे गए उसमें वर्णाश्रम का वह रूप वास्तव में उपस्थित नहीं था जिसका आदर्श ये सारे ग्रंथ उपस्थित कर रहे थे। और इसलिए इन तमाम ग्रन्थों के रचनाकारों या कहें कि संकलनकर्त्ताओं की मूल चिंता है वर्णाश्रम को सामाजिक व्यवस्था के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करना, जिसमें ब्राह्मणों-क्षत्रियों के विशेषाधिकारों को सुरक्षित बनाए रखा जा सके। डा. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' में 'मनुस्मृति' के संबंध में बिल्कुल ठीक लिखा है- ''मनुस्मृति की रचना उस समाज में नहीं हुई जिसमें वर्ण-व्यवस्था उभर रही है, उसकी रचना ऐसे समाज में हुई है जिसमें यह व्यवस्था लड़खड़ा रही है और उसे संभालने और सुदृढ़ करने के लिए पुरानी देवकथाओं और नई कल्पनाओं का सहारा लेना बहुत ज़रूरी हो गया है।''[34]

इन ग्रंथों में प्रायः कलियुग का वर्णन मिलता है। यह कलियुग दरअसल उसी वर्णाश्रम के टूटने का युग है। इन ग्रंथों के रचयिताओं ने कलियुग के समाज की अस्त-व्यस्तता और अनैतिकता का जो चित्र खींचा है, उसके लिए मूल रूप से वर्णाश्रम के टूटने को जिम्मेदार बताया है। विष्णु पुराण में चतुर्थ अंश के चौबीसवें अध्याय में कलियुगी राजाओं और कलिधर्मों का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसमें नंदवंशीय, मौर्यवंशीय राजाओं का उल्लेख मिलता है, कौटिल्य का उल्लेख मिलता है और शूद्रों के राजत्व प्राप्ति पर गहरा असंतोष भी दिखाई पड़ता है। इसी प्रसंग में पराशर ऋषि कलियुग के लक्षण भी बताते हैं।[35]

इसी प्रकार महाभारत के 'शांतिपर्व' में भी कलियुग के लगभग यही लक्षण बताए गए हैं। वाल्मीकि रामायण में बिल्कुल प्रारंभ में (प्रथम अध्याय, श्लोक - 5 से 13 तक) कलियुग के लक्षण बताए गए हैं। कलियुग में वेदोक्त मार्ग के लुप्त हो जाने की चिंता आदिकवि वाल्मीकि को भी है-

"अधर्मनिरतानां च यातनाश्च प्रकीर्तिताः।

घोरे कलियुगे प्राप्ते वेदमार्ग बहिष्कृते।।6।।"[36]

अर्थात् 'अधर्मपरायण पुरुषों को प्राप्त होने वाली यातनाओं का भी आपने वर्णन किया है। घोर कलियुग आने पर वेदोक्त मार्ग लुप्त हो जाएंगे...।'[37]

इससे आगे वाल्मीकि कलियुग के जो लक्षण बताते हैं वे सारे लक्षण प्रायः वही हैं, जो विष्णु पुराण में बताए गए हैं।

इन ग्रंथों में दिखाई पड़ने वाले कलियुग के एक समान लक्षण, इनमें मौजूद समाज तथा इन ग्रन्थों की भाषा का विश्लेषण करके विभिन्न विद्धानों ने इन्हें एक खास कालखंड में तैयार की गई रचनाएँ बताया है। विद्वानों का अनुमान है कि इनमें से अधिकांश ग्रंथों का निर्माण तीसरी शताब्दी ईसापूर्व से नौवीं शताब्दी के बीच हुआ। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और 'मनुस्मृति' दूसरी सदी ई.पू. की रचना है। 'विष्णुपुराण', 'पाराशर स्मृति', 'याज्ञवल्क्य स्मृति' आदि सभी 'अर्थशास्त्र' और 'मनुस्मृति' के बाद की रचनाएँ बताई जाती हैं। महाभारत का 'शांतिपर्व' और रामायण का 'बालकांड' और 'उत्तरकांड', जिनमें कलियुग तथा वर्णाश्रम संबंधी उल्लेख मिलते हैं, भी गुप्तकालीन बताए जाते हैं। प्रो. रामशरण शर्मा ने लिखा है- "महाभारत की मुख्य कथा में प्राचीन कालों की सच्ची प्रतिध्वनियाँ निहित हो सकती हैं। यह उत्तर वैदिक काल की जनजातीय कार्यप्रणाली को प्रतिबिंबित कर सकती है, परंतु इसके वर्णनात्मक एवं शिक्षात्मक विवरण मौर्यकाल के बाद के तथा गुप्तकाल के विकसित समाजों से संबंधित हैं।"[38] अपने इस कथन के ठीक बाद रामशरण शर्मा ने

एडवर्ड डब्ल्यू. हापकिंस को भी उद्धृत किया है जिसने महाभारत के 'शांतिपर्व' एवं 'अनुशासन पर्व' को 'नकली महाकाव्य' कहा है।

इस तरह हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्ण और जाति के आदर्शों की पुनर्बहाली के संबंध में विस्तृत चिंतन और चिंता दिखाई पड़ती है। इन ग्रन्थों में कहीं भी वर्ण-जाति व्यवस्था की पहचान एक समस्या के रूप में या एक शोषणपरक सामाजिक व्यवस्था के रूप में नहीं की गई है। इसके ठीक उलट इस व्यवस्था को बार-बार एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित किया गया है और इसकी हानि को सामाजिक अव्यवस्था के रूप में देखा गया है। यह अकारण नहीं है कि आज भी यह व्यवस्था इन्हीं धर्मशास्त्रों से पोषण पा रही है।

स्वतंत्रता-पूर्व भारत में जाति संबंधी चिंतन

जोतिबा फुले का जाति-चिंतन

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जाति-व्यवस्था के शोषक रूप की गहरी पहचान जोतिबा फुले के साहित्य में मिलती है। जाति-व्यवस्था की बुनियाद पर इतनी गहरी चोट करने वाले फुले संभवतः पहले आधुनिक भारतीय चिंतक हैं। उन्नीसवीं सदी के नवजागरण में तमाम सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक मसलों पर नए ढंग से विचार हो रहे थे। जाति-व्यवस्था भी उन मसलों में से एक थी। अन्य समाज सुधारकों ने भी अपने-अपने ढंग से जातिवाद के मसले पर विचार किया है। लेकिन फुले के विचार इस मामले में सर्वाधिक क्रांतिकारी और महत्वपूर्ण हैं। 1855 ई. में फुले की पहली रचना 'तृतीय रत्न' का प्रकाशन हुआ। 'तृतीय रत्न' एक नाटक है, जिसमें एक माली कुनबी (पिछड़ी जाति) को एक ब्राह्मण जोशी किस तरह से ठगता है और धर्म के नाम पर उसकी अज्ञानता का लाभ उठाता है, इसे फुले ने विस्तार से और बड़े-ही नाटकीय ढंग से दिखाया है। नाटक के विषय को स्पष्ट करते हुए फुले ने स्वयं लिखा है- ''माली कुनबी के घर में उनका बच्चा अपनी माँ की कोख में जैसे-तैसे गर्भ को धारण कर ही रहा होता है कि एकाएक ब्राह्मण जोशी अपनी सवारी ले आता है और वह बड़े-बड़े आश्वासन देकर उस स्त्री को किस तरह भिखारी बना देता है, इसके संबंध में मैं यहाँ लिखने का प्रयास करूँगा।''[39]

फुले के लगभग संपूर्ण लेखन के बारे में एक बात कही जा सकती है कि उसमें ब्राह्मणों की धूर्तता और जातिवाद को टिकाए रहने की उनकी जालसाजियों पर सबसे ज़्यादा लिखा गया है। फुले आम जनता (पिछड़ी और दलित जातियों के लोग) को बराबर ब्राह्मणों के फंदे से बचे रहने की सलाह देते हैं। अपने 'तृतीय रत्न' नाटक में भी फुले विदूषक के माध्यम से कहते हैं- ''ऐ मेरे सभी माली कुनबी भाइयों! तुम लोग इस संवाद को ध्यान से पढ़ोगे या सुनोगे तो निश्चित रूप से तुम लोग इस बात को अनुभव करोगे कि एक बार अपने घर पर डाका पड़ा, तब भी चल जाएगा, लेकिन इस ब्राह्मण जोशी पर भरोसा करने की बात अपने सपने में भी नहीं सोचनी चाहिए।''[40]

जोतिबा फुले ने 'ब्राह्मणों की चालाकी' नाम की एक छोटी-सी किताब लिखी है। इसमें भी, जैसा कि किताब के नाम से ही स्पष्ट है, ब्राह्मणों की धूर्तता और ठगी को विषय बनाया गया है। शूद्रों के घर बच्चे के पैदा होने से लेकर, शादी-ब्याह, गृह-प्रवेश, सूर्य-चन्द्र ग्रहण या अन्य-अन्य धार्मिक कर्मकांडों से लेकर शूद्र की मृत्यु तक के अवसर पर ब्राह्मण-पंडा-पुराहित उसे किस तरह लूटते हैं, यह इस छोटी-सी पुस्तक का मुख्य प्रतिपाद्य है।

1873 ई. में जोतिबा फुले की एक अत्यंत महत्वपूर्ण किताब आई- 'गुलामगीरी'। इस किताब में जोतिबा ने भारतीय शूद्रों-अतिशूद्रों (पिछड़े-दलित) की तुलना दक्षिण अमेरिकी और अफ्रीकी गुलामों से की है। जोतिबा ने भारतीय दलितों की स्थिति को कई मामलों में गुलामों से भी बदतर बताया है। अपनी इस किताब का उद्देश्य बताते हुए जोतिबा प्रस्तावना में लिखते हैं- "सैकड़ों साल से आज तक शूद्रादि-अतिशूद्र (अछूत) समाज, जब से इस देश में ब्राह्मणों की सत्ता कायम हुई तब से लगातार जुल्म और शोषण के शिकार हैं। ये लोग हर तरह की यातनाओं और कठिनाइयों में अपने दिन गुजार रहे हैं। इसलिए इन लोगों को इन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए और गंभीरता से सोचना चाहिए। ये लोग अपने आप को ब्राह्मण-पंडा-पुरोहितों की जुल्म-ज्यादतियों से कैसे मुक्त कर सकते हैं, यही आज हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण सवाल है। यही इस ग्रंथ का उद्देश्य है।"[41]

धर्म के साथ भेदभाव और ऊँच-नीच वाली इस समाज व्यवस्था के गठजोड़ के लिए जोतिबा ब्राह्मणों को ही सीधे-सीधे जिम्मेदार ठहराते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था में जिस एक वर्ग के स्वार्थ और हित सर्वाधिक सुरक्षित हैं, वह ब्राह्मणों का ही वर्ग है। ज़ाहिर है ऐसे में इस व्यवस्था को बनाए-बचाए रखने की कोशिश भी यही वर्ग सबसे ज़्यादा करता है। जोतिबा बहुत साफ-साफ ब्राह्मणों की इस जालसाजी का पर्दाफाश करते हैं। जोतिबा लिखते हैं- "उन ब्राह्मणों ने अपना प्रभाव, अपना वर्चस्व इन लोगों (शूद्रादि-अतिशूद्रों) के दिलो-दिमाग पर कायम रखने के लिए, ताकि उनकी स्वार्थपूर्ति होती रहे, कई तरह के हथकंडे अपनाए और वे सभी इसमें कामयाब भी होते रहे।... ब्राह्मण-पुरोहितों ने इन पर अपना वर्चस्व कायम करने के लिए, इन्हें हमेशा-हमेशा के लिए अपना

गुलाम बनाकर रखने के लिए, केवल अपने निजी हितों को ही मद्देनज़र रखकर, एक से अधिक बनावटी ग्रन्थों की रचना करके कामयाबी हासिल की। उन नकली ग्रंथों में उन्होंने यह दिखाने की पूरी कोशिश की कि उन्हें जो विशेष अधिकार प्राप्त हैं, वे सब उन्हें ईश्वर द्वारा प्रदत्त हैं। इस तरह का झूठा प्रचार उस समय के अनपढ़ लोगों में किया गया और उस समय के शूद्रादि-अतिशूद्रों में मानसिक गुलामी के बीज बोए गए।''[42]

जाति-व्यवस्था को भारत में टिकाए रखने में हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथों की बड़ी भूमिका रही है। इन्हीं ग्रंथों की बातों को ईश्वरीय नियम बताकर जातिवाद को अभेद्य बनाया गया है। इस काम में भी सर्वाधिक मन लगाया ब्राह्मणों ने। जोतिबा इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- ''अपनी इस चाल, विचारधारा को कामयाबी देने के लिए जातिभेद की फौलादी जहरीली दीवारें खड़ी करके, उन्होंने इसके समर्थन में अपने जाति-स्वार्थसिद्धि के कई ग्रंथ लिख डाले। उन्होंने इन ग्रंथों के माध्यम से अपनी बातों को अज्ञानी लोगों के दिलो-दिमाग पर पत्थर की लकीर की तरह लिख दिया।''[43] बाद में चलकर अंबेडकर ने भी जाति-व्यवस्था के टिके रहने में हिन्दू धर्म ग्रंथों की भूमिका पर विस्तार से लिखा। अंबेडकर का भी स्पष्ट मानना था कि धर्म ग्रंथों पर से आस्था समाप्त किए बगैर भारतीय समाज से जाति-व्यवस्था को समाप्त नहीं किया जा सकता।

जोतिबा 'गुलामगीरी' में हिन्दू देवी-देवताओं की उत्पत्ति के संबंध में मिलने वाली कथाओं के आधार पर उनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया और परस्पर विरोधी बातों का माखौल उड़ाते हैं। इसी क्रम में ब्राह्मणों के ब्रह्मा के मुख और शूद्रों के ब्रह्मा के पैर से पैदा होने वाली बात का भी मज़ाक उड़ाते हैं। इसमें जोतिबा कहीं-कहीं तो बहुत ही कठोर भाषा (गाली-गलौज तक) का इस्तेमाल करते हैं। इतनी कठोरता के साथ ब्राह्मणवाद और हिन्दू धर्म के आडंबरों का विरोध शायद ही किसी और ने किया हो। अंबेडकर ने 'हिन्दू धर्म की पहेलियाँ' में जो बहुत-सारी बातें कही हैं, उनके बीज हमें जोतिबा के यहाँ मिल जाते हैं।

जोतिबा मनुवाद के कट्टर विरोधी थे। वे मनुवाद को पूरी तरह तथ्यहीन और निराधार बताते हैं। 'गुलामगीरी' में ही धोंडीराव के माध्यम से वे कहते हैं- ''इस बात से यह प्रमाणित होता है

कि मनु ने अपनी संहिता में जो व्युत्पत्ति सिद्धांत प्रतिपादित किया है, वह एकदम तथ्यहीन, निराधार है; क्योंकि वह सिद्धांत सभी मानव समाज पर लागू नहीं होता।''[44] ज़ाहिर है जोतिबा जब ब्राह्मणवाद या मनुवाद का विरोध करते हैं तो वह केवल प्रतिशोध या प्रतिक्रिया मात्र नहीं है, बल्कि वे ठोस बुद्धिवादी तर्कों के आधार पर अनुभव की ज़मीन पर अपनी बात को प्रमाणित करते हैं। मनुवाद का बहुत तीखा विरोध जोतिबा ने अपनी पहली ही रचना 'तृतीय रत्न' नाटक में भी किया है। उस नाटक में कुनबी पुरूष ब्राह्मण जोशी से कहता है- ''तुम ब्राह्मण लोग हमारे माँ-बाप को क्या बार-बार इस तरह से नहीं बताते थे कि अरे, तुमको पढ़ने-लिखने का अधिकार, वह कौन है तुम्हारा मनु या फनु, उसके ही कानून के अनुसार नहीं है?... लेकिन अब इस हिन्दुस्थान में अंग्रेज सरकार की कृपा से हमारे कुछ माली-कुनबी ऐसे हो गए हैं (और भगवान ने चाहा तो एक दिन महार-मातंग भी हो जाएँगे) कि वे तुम्हारे मनु या फनु के कानून को कूड़ा-कर्कट के ढेर में डालने की परवाह नहीं करते...।''[45]

पिछड़ों-दलितों को ब्राह्मणों के चंगुल से मुक्ति दिलाने के लिए जोतिबा ने लेखन के साथ-साथ आंदोलनात्मक प्रयास भी किए। इसके लिए जोतिबा ने कुछ अन्य पिछड़ी जाति के लोगों के साथ मिलकर 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। समाज के पहले वर्ष के रिपोर्ट में समाज की स्थापना और उसके उद्देश्य के बारे में लिखा गया है- ''ब्राह्मण, पंडित, जोशी, उपाध्याय-पुरोहित आदि लोगों की दासता से शूद्र लोगों को मुक्त करने के लिए, जो अपने स्वार्थी (धर्म) ग्रंथों के द्वारा आज हजारों साल से शूद्र लोगों को नीच समझकर गफलत में लूटते आ रहे हैं। इसलिए उपदेश और ज्ञान के द्वारा उनको उनके सही अधिकार समझाने के लिए मतलब, धर्म और व्यवहार से संबंधित ब्राह्मणों के नकली और स्वार्थी ग्रंथों से उनको मुक्ति दिलाने के लिए कुछ जानकार शूद्र लोगों ने इस समाज की स्थापना दि. 24 सितंबर, 1873 को की है।''[46]

उपदेश आदि के जरिए शूद्रों-दलितों को सतर्क-सावधान करने के साथ-साथ सत्यशोधक समाज विवाह आदि में पंडा-पुरोहितों के बहिष्कार पर भी बल देता था और समाज की तरफ से इस

तरह के विवाह की व्यवस्था भी की जाती थी। इसका भी पूरा विवरण समाज के वार्षिक रिपोर्ट में मौजूद है।[47]

जोतिबा शूद्रों-अतिशूद्रों के लिए शिक्षा की आवश्यकता को शिद्दत से महसूस कर रहे थे। पिछड़ों-दलितों के शोषण का एक बड़ा कारण था उनका अशिक्षित होना। अपनी रचनाओं में भी और सक्रिय प्रयासों में भी जोतिबा ने सर्वाधिक बल पिछड़ों-दलितों की शिक्षा पर दिया है ताकि ये शिक्षित होकर ब्राह्मणों की चालाकियों को समझ सकें और उससे मुक्त हो सकें। स्वयं फुले ने पिछड़ों-दलितों के लिए पाठशाला चलाए जिसमें उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले भी शिक्षिका के तौर पर पढ़ाने का काम करती थीं। फुले ने हंटर शिक्षा आयोग को शिक्षा में सुधार के संबंध में 1882 में जो मेमोरेंडम सौंपा, उसमें भी उन्होंने पिछड़ों-दलितों की शिक्षा के संबंध में विस्तार से लिखा, उसकी अड़चनों को उजागर किया तथा उसकी संभावना एवं रूपरेखा भी आयोग के सामने रखी। इस मेमोरेंडम में जोतिबा ने शिक्षा विभाग में ब्राह्मणों के वर्चस्व की ओर ध्यान दिलाया और बताया कि ऐसी हालत में पिछड़ों-दलितों के लिए शिक्षा को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। उन्होंने अंग्रेजी सरकार से शिक्षा विभाग से ब्राह्मणों के वर्चस्व को धीरे-धीरे समाप्त करने की अपील की ताकि अन्य जातियों के लोगों को भी उचित अवसर मिल सके।[48]

जोतिबा ने अपने मेमोरेंडम में दूसरी महत्वपूर्ण बात कही कि प्राइमरी पाठशालाओं के शिक्षक प्रशिक्षित हों और जहाँ तक संभव हो सके खेतिहर जातियों से हों, जो विद्यार्थियों से घुलमिल सकें और उनकी ज़रूरतों को ब्राह्मण शिक्षकों (जो गैर-ब्राह्मण बच्चों के प्रति एक दुराव का भाव रखते हैं) की तुलना में ज्यादा बेहतर ढंग से समझ सकें। इसके अलावा फुले ने महार, माँग आदि दलित जातियों के बच्चों के लिए अलग पाठशालाएँ खुलवाने की माँग भी रखी, क्योंकि जातिगत कारणों से इन्हें सामान्य पाठशालाओं में जाने की अनुमति नहीं दी जाती। यदि ये सामान्य पाठशालाओं में जाते भी हैं तो इनके साथ घृणा का व्यवहार किया जाता है।

इस प्रकार जोतिबा के पूरे चिंतन और सक्रिय प्रयासों को ध्यान में रखें तो हम देखते हैं कि उन्होंने अपना पूरा जीवन शूद्रों-अतिशूद्रों की दशा को सुधारने और उन्हें सम्मानजनक जीवन का

अधिकार दिलाने के लिए समर्पित कर दिया। जातिवाद के खिलाफ मोर्चेबंदी में उनके क्रांतिकारी विचारों ने निश्चय ही ऐतिहासिक भूमिका अदा की है।

गाँधी और अंबेडकर का जाति-चिंतन

बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में महात्मा गाँधी और अंबेडकर के जाति संबंधी विचार प्रमुखता से सामने आते हैं। भारत को विदेशी पराधीनता से मुक्ति दिलाने के साथ-साथ भारतीय समाज में मौजूद दूसरी समस्याओं से भी मुक्ति के प्रयास चल रहे थे। गाँधी और अंबेडकर दोनों इस बात की गंभीरता को समझते थे कि सामाजिक मुक्ति के बिना राजनीतिक मुक्ति निष्प्रभावी रहेगी। जातिवाद और जाति संबंधी सामाजिक ऊँच-नीच ने भारतीय समाज को विभाजित कर रखा है- इस बात को उस दौर के राजनीतिज्ञ और चिंतक समझते थे। ऐसे समय में जब राष्ट्र की एकता बहुत महत्वपूर्ण हो, जातिवाद जैसे विभाजनकारी कारक पर विचार किया जाना स्वाभाविक है। गाँधी और अंबेडकर भारतीय समाज में जाति की उपस्थिति को लेकर अपने-अपने ढ़ंग से विचार करते हैं जिन्हें एक-एक करके देखा जा सकता है।

गाँधी का जाति-चिंतन

गाँधी जी के वर्ण और जाति संबंधी विचार काफी उलझे हुए हैं। दरअसल गाँधी वर्ण और जाति के प्रश्न पर विधिवत् चिंतन करते दिखाई नहीं पड़ते। उनके वर्ण और जाति संबंधी विचार अलग-अलग अवसरों पर की गई टिप्पणियों के रूप में सामने आए हैं, जो प्रायः विरोधाभासी हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि गाँधी जी को जो भी मौके के अनुकूल जान पड़ा, उन्होंने कहा। फिर भी कुछ बातें हैं जिस पर गाँधी जी के विचार एक रहे हैं। गाँधीजी वर्ण-व्यवस्था को कभी बुरा नहीं मानते, बल्कि इसे एक आदर्श समाज व्यवस्था के रूप में देखते हैं। 1921-22 के 'नवजीवन' में गाँधी जी वर्ण-

व्यवस्था के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं- ''मुझे विश्वास है कि हिन्दू समाज आज तक इसी कारण जीवित रह सका है कि वह वर्ण-व्यवस्था पर आधारित है।''[49]

गाँधी वर्ण-व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए फिर कहते हैं- ''जो समाज वर्ण-व्यवस्था का सृजन कर सकता है, उसे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनमें अनोखी संगठन क्षमता है।''[50]

इतना ही नहीं, गाँधी वर्ण-व्यवस्था के विरोधियों को बहुत खुले शब्दों में कहते हैं कि ''मेरे यही विचार हैं और मैं उनके विरूद्ध हूँ जो वर्ण-व्यवस्था को तोड़ना चाहते हैं।''[51]

1921-22 के आसपास गाँधी जी को जातिप्रथा से भी कोई शिकायत नहीं थी, बल्कि जातिप्रथा के होने से, गाँधी जी के अनुसार, समाज में एक व्यवस्था बनी हुई है। जातिप्रथा के महत्त्व का महिमागान करते हुए गाँधी कहते हैं- ''जाति-व्यवस्था को नष्ट करके पश्चिमी यूरोपीय सामाजिक व्यवस्था अपनाने का अर्थ होगा हिन्दू उन पैतृक पेशों को त्याग दें, जो जातिप्रथा की आत्मा हैं। इसे तोड़ने से अव्यवस्था उत्पन्न होगी। यदि मैं अपने जीवन भर किसी को ब्राह्मण कह कर नहीं पुकारता, तो ब्राह्मण होने में क्या लाभ। यदि ब्राह्मणों को शूद्रों में और शूद्रों को ब्राह्मणों में परिवर्तित होने का दैनिक क्रम शुरू हो जाएगा, तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी।''[52]

इस उद्धरण को ध्यान से पढ़ने पर कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात यह कि पैतृक पेशा जातिप्रथा की आत्मा है। दूसरी बात कि ब्राह्मण हमेशा ब्राह्मण बना रहता है और ठीक इसी प्रकार शूद्र भी आजीवन शूद्र ही बना रहेगा। कोई भी व्यवस्था शूद्र को ब्राह्मण और ब्राह्मण को शूद्र नहीं बना सकती। और यदि ऐसा होता है तो यह भारी अव्यवस्था होगी, जिसको लेकर गाँधी जी चिंतित दिखाई पड़ते हैं। दरअसल गाँधी जी की यह चिंता तमाम-स्मृति ग्रंथकारों की वही पुरानी कलियुग संबंधी चिंता है। मध्यकाल में तुलसीदास भी तो इसी बात को लेकर चिंतित दिखाई पड़ते हैं!

जातिप्रथा की प्रशंसा में गाँधी जी आगे कहते हैं- ''जातिप्रथा एक प्राकृतिक विधान है। भारतवर्ष में उसे धार्मिक रूप दिया गया है। अन्य देशों में जहाँ जाति-व्यवस्था की उपयोगिता नहीं समझी गई, वहाँ की सामाजिक व्यवस्था बिखरी अवस्था में है और इसी कमी के फलस्वरूप वे जाति-व्यवस्था से होने वाले लाभ प्राप्त नहीं कर सकते, जबकि भारत में वह मौजूद है।''[53]

जातिप्रथा के होने से भारतवर्ष को कौन-सा 'विलक्षण लाभ' प्राप्त हुआ है और जिससे अन्य 'अभागे' (?) देश वंचित रह गए- यह गाँधी जी नहीं बताते! हाँ, भारत की कुछ-एक खास ऊँची जातियों को प्राप्त होने वाले लाभ की बात की जाए तो इसे बहुत आसानी से समझा जा सकता है।

थोड़ा आगे चलकर, 1925 के आसपास जाति-व्यवस्था को लेकर गाँधी जी के विचार कुछ बदले हुए मालूम पड़ते हैं। जो गाँधी जी 1921-22 में जाति-व्यवस्था की खूब प्रशंसा करते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि इसके कारण ही समाज में एक व्यवस्था बनी हुई है, वही 1925 तक आते-आते जाति-व्यवस्था के कुछ ऐसे लक्षणों को पहचानते हैं कि वे उसे 'पतन का मार्ग' बताने लगते हैं। गाँधी कहते हैं- ''जातिप्रथा का समर्थन मैंने इस आधार पर किया था कि वह संयम सिखाती है, परन्तु आजकल जातिप्रथा का अर्थ संयम नहीं, वरन् अब वे सीमाबद्ध हो गई हैं।... जातियाँ जिस रूप में आज हैं, उस रूप में उनकी तारीफ नहीं की जा सकती। आजकल जातियाँ शास्त्र-विरोधी हो गई हैं। जातियों की संख्या असीम है, जिनमें पारस्परिक विवाह संबंध के प्रतिबंध लगे हैं। यह उत्थान का लक्षण नहीं, वरन् पतन का मार्ग है।''[54]

यह बहुत ही दिलचस्प है कि 1921-22 में जातिप्रथा संयम सिखाने वाली थी, लेकिन 1925 तक आते-आते वह 'सीमाबद्ध' हो गई, 'शास्त्र-विरोधी' हो गई और एकाएक जातियों की संख्या भी असीम हो गई! भारतीय समाज और जाति-व्यवस्था का यह विलक्षण विश्लेषण है! यहाँ भी गाँधी जी की जाति-व्यवस्था संबंधी टिप्पणियों की तात्कालिकता को देखा जा सकता है।

अब जातियों की असीम संख्या की समस्या, जिसके कारण यह 'उत्तम व्यवस्था' (?) 'पतन का मार्ग' बन गई है, के समाधान के लिए गाँधी जी जो तरीका बताते हैं, उसे भी देखा जाना चाहिए। गाँधी जी कहते हैं- ''सर्वोत्तम उपाय यह है कि छोटी-छोटी जातियाँ अपना अलग अस्तित्व समाप्त कर बड़ी जाति बन जाएँ। ऐसी बड़ी जातियों की संख्या 4 हो जिससे प्राचीन वर्ण-व्यवस्था की पुनर्स्थापना हो सके।''[55]

पर सवाल यह उठता है कि यह होगा कैसे? छोटी जातियाँ अपना अस्तित्त्व कैसे और क्यों समाप्त करेंगी? जिस बड़ी जाति में इन्हें अपना विलय करना होगा वह बड़ी जाति कौन-सी होगी? ऐसे और भी कई व्यावहारिक सवाल हैं जिनपर गाँधी जी ने कोई विचार नहीं किया है। केवल सदिच्छा से सद्कार्य सिद्ध हो जाते तो शायद यह संभव था! मान लें कि यह किसी तरह हो भी गया तो इससे फर्क क्या पड़ेगा? गाँधी छोटी-छोटी जातियों को अपना अस्तित्त्व समाप्त कर बड़ी जाति में तब्दील हो जाने की और इस तरह 'वर्णों की ओर लौटो' की नेक सलाह देते हैं। परन्तु सवाल अब भी वहीं है। जातियों की संख्या कम हो जाने मात्र से एक जन्माधारित व्यवस्था कर्माधारित व्यवस्था में कैसे बदल जाएगी? व्यक्ति की जाति और इस तरह उसकी सामाजिक हैसियत उसके जन्म से ही तय होती रही है और गाँधी जी के इस 'विलय सिद्धांत' के सफल हो जाने पर भी वह जन्म से ही तय होती रहेगी। फिर इस सिद्धांत का औचित्य क्या है? दरअसल गाँधी जी का यह सिद्धांत व्यावहारिकता और उपयोगिता दोनों ही आधारों पर असफल है।

गाँधी जी प्रारंभ में जाति और वर्ण दोनों का समर्थन करते हैं, बाद में चलकर जातिप्रथा का समर्थन करना बंद कर देते हैं और वर्णों की पुनर्स्थापना पर जोर देने लगते हैं। इससे ऐसा भ्रम होता है कि जाति और वर्ण की अलग-अलग संकल्पना गाँधी जी के पास है। आमतौर पर जिन लोगों ने वर्ण को जातियों से अलग माना है, वे वर्ण को कर्माधारित मानते हैं तथा जाति को जन्माधारित और इसी आधार पर वर्ण-व्यवस्था को जातिप्रथा की तुलना में बेहतर मानते हैं। स्वामी दयानंद

सरस्वती वर्ण-धर्म की ऐसी ही व्याख्या करते हैं और इसलिए 'वेदों की ओर लौटो' का नारा देते हैं (हालाँकि व्यावहारिक समस्याएँ यहाँ भी हैं)। लेकिन गाँधी जी की वर्ण और जाति संबंधी अवधारणा में ऐसा कोई बुनियादी अंतर मौजूद नहीं है। बल्कि वर्णों और जातियों के विभाजन को लेकर गाँधी जी के विचार अस्पष्ट तथा उलझे हुए हैं। वर्णो के विभाजन के बारे में गाँधी जी के विचार हैं- ''मैं विश्वास करता हूँ कि वर्णो का विभाजन जन्म पर आधारित है।''[56]

सवाल है कि यदि वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित है, तब जाति-व्यवस्था का आधार क्या है? यदि जातियों के विभाजन का आधार भी जन्म ही है तब वर्ण और जाति में बुनियादी अंतर क्या है?

अब वर्ण अथवा जातियों के विभाजन के दूसरे आधार यानि पेशा या पैतृक व्यवसाय के बारे में गाँधी जी के विचारों को देखें। यहाँ तो वर्ण-जाति संबंधी उनके विचारों की भ्रामकता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। गाँधी जी एक जमाने में पैतृक व्यवसाय को 'जातिप्रथा की आत्मा' बताते हैं। वे जातिप्रथा के रक्षार्थ मोर्चा लेते हुए कहते हैं- "जाति व्यवस्था को नष्ट करके पश्चिमी यूरोपीय सामाजिक व्यवस्था अपनाने का अर्थ होगा हिन्दू उन पैतृक पेशों को त्याग दें, जो जाति-प्रथा की आत्मा है। इसे तोड़ने से अव्यवस्था उत्पन्न होगी।"[57] स्पष्ट है कि वे न केवल पैतृक व्यवसाय का संबंध जातिप्रथा से जोड़ते हैं, बल्कि इसे जातिप्रथा का विशिष्ट और केन्द्रीय तत्त्व मानते हैं। लेकिन कुछ ही समय बाद गाँधी जी के विचारों में ज़बरदस्त परिवर्तन आ जाता है। इसे एक नहीं, कई उद्धरणों के आधार पर देखा जा सकता है- ''वर्ण-व्यवस्था जीविकोपार्जन से संबद्ध है। इसमें कोई हानि नहीं, यदि किसी एक वर्ण का आदमी दूसरे वर्ण की कला और व्यवसाय के विषय में ज्ञान प्राप्त कर उसमें पारंगत हो जाता है। परन्तु जहाँ तक धनोपार्जन का संबंध है, उसके लिए अपने ही वर्ण का व्यवसाय अपनाना ठीक होगा। जिसका अर्थ यह होगा कि पीढ़ी दर पीढ़ी से चले आए अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाया जाए।''[58]

गाँधी जी के एक और दिलचस्प कथन को देखा जाना चाहिए। गाँधी कहते हैं- ''वर्ण का अर्थ है, मनुष्य के जन्म लेने से पहले उसके व्यवसाय का निर्धारण।''[59] इस कथन में गाँधी एक ही साथ पैतृक व्यवसाय तथा जन्म दोनों का संबंध वर्ण से जोड़ देते हैं। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अपने आप में ही जन्म और कर्म दोनों आधारों को समाहित कर लेता है। गाँधी जाति और वर्ण का एक अद्‌भुत 'कॉकटेल' तैयार करते हैं। गाँधी एक तरफ जातिप्रथा का विरोध करते हैं, लेकिन दूसरी तरफ वर्ण-व्यवस्था के भीतर ही जाति के मूल तत्त्वों को समाहित कर देते हैं और इस प्रकार जातिप्रथा के विरोध का भ्रम पैदा करते हुए वर्ण-व्यवस्था के नाम पर दरअसल जातिप्रथा की जड़ों को ही मजबूत करते हैं।

2008 में श्रीभगवान सिंह की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है- 'गाँधी जी और दलित भारत जागरण'। इसके पहले अध्याय में वर्णाश्रम, अस्पृश्यता, जातिप्रथा, सहभोज, अन्तर्जातीय विवाह आदि के संदर्भ में गाँधी जी के विचारों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है। श्रीभगवान सिंह की स्थापना है कि गाँधी जी 1932 तक रणनीतिक रूप से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं और 1932 के बाद वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना बंद कर देते हैं। श्रीभगवान सिंह ने अपने ढंग से अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए तथ्य और तर्क जुटाए हैं। परन्तु श्रीभगवान सिंह की स्थापना पर पुनर्विचार करने की जरूरत है। श्रीभगवान सिंह वर्ण-व्यवस्था के संबंध में गाँधी जी के विचारों के साथ सम्यक् न्याय करने के लिए उन्हें दो चरणों में बाँटकर विचार करने पर ज़ोर देते हैं- ''पहला चरण है 1915 से 1932 तक और दूसरा है 1932 से जीवन के अन्तिम समय तक। पहले चरण में वे अस्पृश्यता के घनघोर विरोधी एवं वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ध्यान रहे वर्ण-व्यवस्था के वे अन्ध समर्थक नहीं थे, बल्कि उसके पीछे उनके कुछ वस्तुनिष्ठ सत्य पर आधारित तर्क थे।''[60]

इससे ठीक आगे श्रीभगवान सिंह एक मज़ेदार बात लिखते हैं- ''...जाति-प्रथा का समर्थन एवं अन्तर्जातीय विवाह का विरोध निःसंदेह खटकने वाली बात है, किन्तु गाँधी जी के साथ न्याय

करने के लिए हमें 21वीं सदी के भारत में न रहकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक के भारत में जाना होगा। मतलब यह कि उस समय गाँधी जी के लिए प्राथमिक मुद्दा था- अस्पृश्यता को मिटाना। उस समय सवर्ण हिन्दुओं में अस्पृश्यता का विरोध करने से ही काफी क्षोभ था। अब अगर अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया जाता तो यह साफ-साफ जातिगत सीमाओं का अतिक्रमण होता और ऐसे में सवर्णों में और उबाल पैदा होता जिससे अस्पृश्यता निवारण का आंदोलन हाशिए पर चला जाता। अतएव सबसे पहले आवश्यक था, लोगों में अस्पृश्यता मिटाने के सवाल पर सहमति बनाना। इस दृष्टि से देखा जाए तो मानना पड़ेगा कि आंदोलन के आरंभिक दिनों में वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में अपने को पेश करना गाँधी जी की रणनीति का एक अंग था, क्योंकि इस संबंध में उनके दृष्टिकोण में लगातार परिवर्तन होते गए हैं।''[61]

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों को एक साथ देखने पर दिलचस्प बात सामने आती है। गाँधी जी द्वारा जिस वर्ण-व्यवस्था के समर्थन को श्रीभगवान सिंह पहले उद्धरण में 'वस्तुनिष्ठ सत्य पर आधारित' बता रहे हैं, दूसरे उद्धरण में वह 'गाँधी जी की रणनीति का अंग' बन जाता है! 'वस्तुनिष्ठ सत्य पर आधारित' होना और 'रणनीति का अंग' होना लगभग परस्पर विरोधी बातें हैं। श्रीभगवान सिंह अपने विश्लेषण में 'विरूद्धों का अद्‌भुत सामंजस्य' घटित करते हैं!

1932 के बाद गाँधी जी के विचारों में आई तब्दीली के बारे में श्रीभगवान सिंह अपनी किताब में लिखते हैं- ''साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) का एक अच्छा प्रभाव यह ज़रूर हुआ कि इसके बाद गाँधी जी ने वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना बंद कर दिया और अस्पृश्यता उन्मूलन के कार्यों में वे और उनके सहयोगी और अधिक तत्परता से लग गए। गाँधी जी द्वारा अछूतों के उन्नयन के लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग, मन्दिर प्रवेश का आंदोलन, 'हरिजन' पत्र का प्रकाशन, हरिजन सेवक संघ की स्थापना जैसे कार्यो का आरंभ 1932 के साल से ही हुआ।''[62]

1932 में जो इतना सबकुछ हुआ उसके पीछे की ठोस वास्तविक वजहें क्या थीं? 1931 के दूसरे गोलमेज सम्मेलन तक वर्ण-व्यवस्था के भीतर अस्पृश्यों को सम्मानजनक स्थान दिलाने के अपने प्रयासों और अपने नज़रिए से यदि गाँधी जी इतने संतुष्ट और आश्वस्त थे कि वे यह मान चुके थे कि 'अगर भारत के सभी भागों के अस्पृश्यों के मत लिए जाएँ तो उनका वास्तविक प्रतिनिधि मैं ही चुना जाऊँगा'[63] तो फिर एक साल बाद ही 1932 में उन्हें अपने पुराने, प्रिय और अत्यंत दृढ़ वर्णाश्रम समर्थन के विचार को क्यों त्याग देना पड़ा? (हालाँकि गाँधी जी ने वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना बंद नहीं किया था।) गाँधी जी के इस आकस्मिक वैचारिक परिवर्तन के कारणों की तलाश करना श्रीभगवान सिंह ज़रूरी नहीं समझते। उनके पूरे विश्लेषण से गाँधी जी के इस विचार परिवर्तन का कारण समझ में नहीं आता। मन में एक सहज-स्वाभाविक-सा सवाल उठता है कि क्या गाँधी जी के बदले हुए स्टैंड (?) पर दलितों को संगठित करने के अंबेडकर के प्रयासों का कोई भी प्रभाव या दबाव काम नहीं कर रहा था? श्रीभगवान सिंह न केवल प्रभाव को नकारते हैं, बल्कि अपने पूरे आलेख में यही प्रमाणित करते हैं कि अंबेडकर के उभार के बहुत पहले से ही गाँधी अस्पृश्यों की दशा को लेकर बहुत चिंतित रहे हैं और उसके सुधार के लिए प्रयास करते रहे हैं। लेकिन यहाँ सवाल सुधार के प्रयासों का है ही नहीं। सवाल 1932 के बाद के गाँधी जी के उस वैचारिक परिवर्तन का है जिसे श्रीभगवान सिंह लक्षित करते हैं।

श्रीभगवान सिंह बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि गाँधी जी 1932 के बाद जातिप्रथा का खुलकर विरोध करने लगते हैं और वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना भी बन्द कर देते हैं। निष्कर्ष रूप में वे लिखते हैं- ''1932 के बाद जो गाँधी लगातार जातिगत-भेद के विरुद्ध बोलने एवं अन्तर्जातीय विवाह एवं भोज का समर्थन करने लगे, उन्हें कैसे अन्त-अन्त तक वर्ण-व्यवस्था का समर्थक माना जा सकता है।...वर्ण-व्यवस्था के कायल रहे गाँधी ने वर्ण विभाजन का समर्थन करना 1932 से छोड़ दिया।''[64]

श्रीभगवान सिंह के इस निष्कर्ष को उन्हीं की एक बात, जिसका ऊपर ज़िक्र किया जा चुका है, के साथ रखकर देखना दिलचस्प होगा कि 'आंदोलन के आरंभिक दिनों में वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में अपने को पेश करना गाँधी जी की रणनीति का एक अंग था'। अपने उपर्युक्त निष्कर्ष में श्रीभगवान सिंह स्वीकार करते हैं कि गाँधी जी 'वर्ण-व्यवस्था के कायल' रहे हैं। मगर, वे स्थापना देते हैं कि 'गाँधी ने वर्ण विभाजन का समर्थन करना 1932 से छोड़ दिया'। अपने दूसरे कथन में श्रीभगवान सिंह यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गाँधी हमेशा से वर्ण-व्यवस्था के विरोधी थे, केवल रणनीति के तहत प्रारंभ में वे अपने को वर्ण-व्यवस्था के समर्थक के रूप में पेश करते हैं! इस पूरे प्रसंग में श्रीभगवान सिंह के अन्तर्विरोधों और गाँधी जी को वर्णाश्रम-विरोधी सिद्ध करने के उनके 'मिशनरी अप्रोच' को साफ-साफ देखा जा सकता है। दरअसल श्रीभगवान सिंह 'हमेशा से वर्णाश्रम विरोधी रहे' गाँधी जी की मनपसन्द तस्वीर खींचते हैं और इस तस्वीर में केवल उन्हीं रंगों का इस्तेमाल करते हैं जो गाँधी जी की वर्णाश्रम-विरोधी छवि को उभार सके। 'गाँधी के विचारों के साथ सम्यक न्याय' करने का दावा करने वाले श्रीभगवान सिंह इस प्रयास में स्वयं अपनी अकादमिक ईमानदारी की बलि चढ़ा देते हैं। गाँधी जी के 1932 के बाद के विचारों का अध्ययन करने पर इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं कि गाँधी जी के वर्ण-व्यवस्था और जातिप्रथा संबंधी विचारों में काई बुनियादी परिवर्तन नहीं होता। गाँधी जी के विचारों का इतना सूक्ष्म और 'सम्यक्' अध्ययन करने वाले श्रीभगवान सिंह ने पता नहीं क्यों गाँधी और अंबेडकर के बीच हुए उस प्रसिद्ध विवाद का कहीं कोई ज़िक्र नहीं किया है जो लाहौर जातपांत तोड़क मंडल के वार्षिक सम्मेलन, 1936 में दिए जाने के लिए अंबेडकर द्वारा तैयार किए गए भाषण पर गाँधी की 'हरिजन' में प्रकाशित प्रतिक्रिया के साथ शुरू हुआ था। इस प्रतिक्रिया में गाँधी जी जो कुछ कहते हैं, वह उनके प्रारंभिक दिनों के 'स्टैंड' से बिल्कुल भी अलग नहीं है। गाँधी जी अंबेडकर के उक्त प्रकाशित भाषण पर प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं- ''वर्ण और आश्रम व्यवस्था ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनको जातपांत से

कुछ लेना-देना नहीं है। वर्ण-व्यवस्था का नियम सिखाता है कि पैतृक धंधा अपनाकर हम अपनी रोजी-रोटी कमा सकते हैं।''[65]

ध्यान देने की ज़रूरत है कि 1936 में भी वर्ण-व्यवस्था के प्रति गाँधी जी का 'फैसिनेशन' जस-का-तस है। वर्ण और जाति के लक्षणों का घालमेल भी पूर्ववत् बना हुआ है! इससे पहले 28.09.1934 के 'हरिजन' में गाँधी जी वर्ण-व्यवस्था को एक सार्वभौमिक और दैवीय नियम बताते हैं। वर्ण-व्यवस्था गाँधी जी के लिए एक ऐसा रामबाण ईलाज है, जिसके सम्यक् पालन से जीवन जीने योग्य बनता है और तमाम समस्याओं एवं बीमारियों का अन्त हो जाता है।[66]

ज़ाहिर है 1932 के बाद भी गाँधी जी, थोड़े डिफेंसिव होकर ही सही, वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करना जारी रखते हैं। अंबेडकर के 1936 वाले उपर्युक्त भाषण के संदर्भ में वर्ण-व्यव्स्था और हिन्दू धर्म की अपनी पुरानी व्याख्या को दुहराते हुए गाँधी स्वयं 18 जुलाई, 1936 के 'हरिजन' में साफ लिखते हैं- ''मुझे पता है कि हिन्दू धर्म की मेरी इस व्याख्या का डा. अंबेडकर के अलावा कई लोग प्रतिवाद करेंगे। इससे मेरी स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इस व्याख्या के आधार पर मैं लगभग आधी शताब्दी तक जिया हूँ तथा मैंने भरसक इन्हीं मान्यताओं को जीवन में उतारने का प्रयास किया है।''[67]

इतने सारे प्रमाणों और स्वयं गाँधी जी की स्वीकारोक्ति के बावजूद श्रीभगवान सिंह आँख मूँदकर गाँधी जी को वर्ण-व्यवस्था और जातिप्रथा का विरोधी सिद्ध करने का भगीरथ प्रयास करते हैं- 'मूंदहु आँख कतहू कछु नाहि'!

गाँधी जी अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज के समर्थक नहीं थे। वे अपनी जाति में विवाह करने और सहभोज से परहेज करने को आत्मसंयम तथा सभ्य आचरण बताते हैं। ज़ाहिर है उनके मुताबिक अपनी जाति के बाहर विवाह करना तथा दूसरी जाति के लोगों के साथ भोजन करना आचरण की असभ्यता तथा उच्छृंखलता है। 25 मई, 1920 को सी.एफ.एन्ड्रयूज को लिखे एक पत्र

में अन्तर्जातीय विवाह का विरोध करते हुए गाँधी जी लिखते हैं- "...किसी पुरूष या स्त्री का अपने समुदाय जिसे हम जाति कह सकते हैं, से बाहर विवाह करना मैं अनुचित ठहराऊँगा। इस तरह मैं ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दूँगा कि कोई व्यक्ति विवाह के संबंध में अपने समुदाय या जाति से बाहर के लोगों के विषय में सोचे ही नहीं...। ...मेरे विचार से जाति-प्रथा का यदि ठीक से नियमन किया जाए तो वह एक उपयोगी संस्था है।"[68] उसी पत्र में सहभोज को अनुचित बताते हुए गाँधी लिखते हैं- "मैं यह पसंद नहीं करूंगा कि ब्राह्मण अपनी जाति की सीमा से बाहर जाकर जहाँ-तहाँ, जिस-तिस के साथ खाता फिरे।"[69]

ऊपर के वाक्य में 'जहाँ-तहाँ' और 'जिस-तिस' से जो भाव अभिव्यक्त होता है, वह गाँधी जी की जातिवादी मंशा को स्पष्ट करता है। क्या एक ब्राह्मण के भोजन और एक गैर-ब्राह्मण के भोजन में इस स्तर का बुनियादी फर्क होता है कि एक गैर-ब्राह्मण के लिए 'जहाँ-तहाँ' और 'जिस-तिस' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाए ? क्या सभी ब्राह्मण एक ही स्तर का भोजन करते हैं? इस पूरे मसले को भोजन के संबंध में सफाई का ध्यान रखने या न रखने तक सीमित नहीं कि जा सकता, क्योंकि ऐसा तो कतई नहीं है कि एक जाति के सभी लोग भोजन संबंधी सफाई का समान रूप से ध्यान रखते हों और जाति बदलते ही इसकी मात्रा कम या ज़्यादा हो जाती हो। गाँधी जी के लिए एक ब्राह्मण का एक ब्राह्मण के साथ भोजन करना या एक बनिया का एक बनिया के साथ भोजन करना आचरण की असभ्यता नहीं है। भोजन संबंधी सफाई और रूचि का यह कौन-सा पैमाना गाँधी जी के पास है जिसमें व्यक्ति की जाति सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक है। गाँधी जी 1924 में अस्पृश्यता सम्मेलन, बेलगाम में अपने भाषण में मालवीय जी के प्रति अपनी अपार श्रद्धा का जिक्र करते हुए कहते हैं कि वे मालवीय जी के पाँव धो सकते हैं मगर मालवीय जी उनके हाथ का छुआ हुआ खाना नहीं खा सकते। गाँधी जी इस बात से तनिक भी अपमानित महसूस नहीं करते, बल्कि उनके मुताबिक तो इसमें अपमान जैसी कोई बात है ही नहीं।[70]

गाँधी वर्णाश्रम का वही आदर्श सामने रखते हैं जिसमें एक ब्राह्मण के चरण तो पखारे ही जाने चाहिए, केवल इसलिए कि वह ब्राह्मण है और अन्त्यजों को यह संदेश देते हैं कि यदि कोई ऊँची जाति का व्यक्ति उनके साथ भोजन नहीं करता तो इसमें अपमानित महसूस करने वाली कोई बात नहीं है। और, ब्राह्मण के लिए तो गाँधी जी कह ही चुके हैं कि यह ठीक नहीं है कि वह 'जहाँ-तहाँ, जिस-तिस के साथ खाता फिरे'। यानि समाज की उसी 'आदर्श व्यवस्था' की स्थापना की वकालत- 'वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग'। बहरहाल!

अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज के निषेध को गाँधी जी सनातनी हिन्दुओं की विशेषता बताते हैं। गाँधी जी का मानना है कि इससे स्वास्थ्य एवं शुद्धता (Purity) का संरक्षण सुनिश्चित होता है।[71] अन्तर्जातीय विवाह से स्वास्थ्य संबंधी कोई समस्या पैदा होती है, ऐसा तो अभी तक देखने-सुनने में नहीं आया! और जहाँ तक भोजन और स्वास्थ्य का सवाल है, इसका संबंध सफाई से है और सफाई का कोई अनिवार्य संबंध जाति से नहीं है। ज़ाहिर है यहाँ स्वास्थ्य की अपेक्षा 'शुद्धता' का सवाल ज़्यादा महत्वपूर्ण है। गाँधी जी अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज के निषेध के तर्क में स्वास्थ्य रक्षा का आवरण भले चढ़ा लें, मगर यहाँ असली मकसद उसी वर्णगत और जातिगत शुद्धता को बचाना है, जिसके लिए गाँधी जी बराबर चिंतित रहे।

सहभोज पर गाँधी जी के 'स्टैंड' को लेकर कई दलित और गैर-दलित लेखकों ने उनकी आलोचना की है। उनमें से कुछ लेखकों ने 1946 में गाँधी जी द्वारा दलित युवकों के भोज के निमंत्रण को अस्वीकार कर देने और एक दलित लड़के के द्वारा दी हुई सुपारी को अपनी बकरी को खिला देने की घटना का उल्लेख करते हुए गाँधी जी की आलोचना की है। इस पूरे प्रसंग पर प्रतिक्रिया देते हुए श्रीभगवान सिंह लिखते हैं- "अब चन्द दलितों के साथ भोजन न करने के कारण... उस शख्सियत को दलित-विरोधी सिद्ध करना, जो 1946 में भी हरिजन के बगैर किसी धर्मशाला की कल्पना तक नहीं कर सकता था, जो सबको हरिजन एवं भंगी बनने का आह्वान कर

रहा था, समझदारी का दिवालियापन नहीं तो और क्या है? गाँधी जी के लिए कुछेक अछूतों के साथ भोजन करने से ज्यादा महत्वपूर्ण एवं आवश्यक था- समस्त अस्पृश्य समुदाय को उस स्तर पर लाना जहाँ वे सबके साथ अपने को हर दृष्टि से समकक्ष समझ सकें।''[72]

कुछेक अछूतों के साथ भोजन करने की बात को श्रीभगवान सिंह जितना हल्का बनाकर पेश कर हैं, वह बात असल में उतनी हल्की है नहीं। यह पूरा मसला मूलतः 'थियरी और प्रैक्सिस' की फाँक को स्पष्ट करता है। यह घटना गाँधी जी के संदर्भ में तो और भी महत्वपूर्ण हो जाती है, जो यह दावा करते रहे कि 'मेरा जीवन ही मेरा संदेश है'। और इस बात में कोई दो राय नहीं कि सचमुच गाँधी जी के व्यक्तित्त्व में एक आकर्षण था, उनकी बातों पर जनता उमड़ पड़ती थी, उनके आचरण और व्यवहार को लोग अनुकरणीय समझते थे। ऐसे में तो गाँधी जी के लिए यह और भी ज़रूरी हो जाता है कि वे अपने व्यवहार को लेकर सचेत और सतर्क रहें। अस्पृश्यों के सुधार के लिए बड़ी-बड़ी बातें करना और एक भंगी लड़के के हाथ की सुपारी को खुद न खाकर अपनी बकरी को खिला देना इन दोनों बातों की परस्पर तुलना करना और इसके 'अंडरटोन' को जाँचना-परखना क्या गाँधी जी के विचारों के अकादमिक अध्ययन की ज़रूरत नहीं है? श्रीभगवान सिंह गाँधी जी से इतने अधिक 'कन्विंस्ड' हैं कि यहाँ तक कह देते हैं- ''जहाँ तक भोजन करने या ना करने का सवाल है, इसे ज्यादा तूल नहीं दिया जाना चाहिए। खान-पान नितान्त व्यक्तिगत अभिरुचि का विषय है, नितान्त निजी पसन्द-नापसन्द का मामला है।''[73]

खान-पान को नितान्त निजी मामला बताकर गाँधी जी, और अब श्रीभगवान सिंह भी, शोषण और सामाजिक बहिष्कार के समूचे ऐतिहासिक संदर्भ को 'डायल्यूट' कर देते हैं और इस पूरे मसले को 'डीकॉन्टेक्स्चुअलाइज' कर देते हैं। आश्चर्य है कि श्रीभगवान सिंह 2008 में गाँधी जी के

उन्हीं तर्कों को अपनाकर गाँधी जी को 'डिफेन्ड' करते हैं जिन्हें, उन्हीं के तुताबिक, स्वयं गाँधी 1932 के बाद छोड़ने लगे थे।[74]

मुख्तसर कि गाँधी जी के वर्ण और जाति संबंधी विचारों में 1932 के बाद वैसा कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आता जैसा श्रीभगवान सिंह सिद्ध करना चाहते हैं। हाँ, सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह को लेकर उनके रूख में थोड़ी नरमी आती है, जिसे श्रीभगवान सिंह ठीक नोटिस करते हैं।[75] लेकिन यहाँ भी गाँधी जी इसे प्रोत्साहित करते हुए तो नहीं ही दिखाई पड़ते। वर्ण-व्यवस्था, जिसमें गाँधी जी जातिप्रथा के गुणों को भी समाहित कर देते हैं, अन्त तक गाँधी जी के लिए आदर्श सामाजिक व्यवस्था बनी रही। यह गाँधी जी के वर्ण और जाति संबंधी विचारों की सीमा है और इसे रेखांकित किया ही जाना चाहिए। यह गाँधी जी के विचारों के साथ 'सम्यक् अकादमिक न्याय' करने के लिए आवश्यक है।

अंबेडकर का जाति-चिंतन

गाँधी जी की तुलना में अंबेडकर जाति के सवाल पर ज्यादा विधिवत् और गहरा चिंतन करते दिखाई पड़ते हैं। 9 मई, 1916 को कोलंबिया यूनिवर्सिटी, न्यूयार्क, अमरीका में आयोजित एक संगोष्ठी में अंबेडकर ने 'भारत में जातिप्रथा : संरचना, उत्पत्ति और विकास' शीर्षक आलेख पढ़ा था। इस आलेख में उन्होंने विस्तार से जातिप्रथा के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है। अंबेडकर जातिप्रथा के मूलभूत लक्षण की तलाश करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "सजातीय विवाह एकमात्र लक्षण है, जो जातिप्रथा की विशेषता है।"[76] दरअसल अंबेडकर इस बात को अच्छी तरह समझ रहे हैं कि विवाह के अपनी जाति तक सीमित रहने के कारण ही जातिप्रथा टिकी हुई है, अन्यथा यह प्रथा टिक नहीं सकती।

अंबेडकर इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने का प्रयास करते हैं कि जातियों ने अपने आपको आत्म-केन्द्रित या सजातीय विवाह की प्रथा में क्यों बाँध लिया? अंबेडकर इस संबंध में पूरे विश्वास के साथ कहते हैं- "मेरा कहना है कि ब्राह्मणों के कारण ऐसा हुआ। सजातीय विवाह या आत्म-केन्द्रित रहना ही हिन्दू समाज का चलन था और क्योंकि इसकी शुरूआत ब्राह्मणों ने की थी, इसलिए गैर-ब्राह्मण वर्गो अथवा जातियों ने भी बढ़-चढ़कर इसकी नकल की और वे सजातीय विवाह प्रथा को अपनाने लगे। ...इस तरह जातिप्रथा का मार्ग प्रशस्त हुआ।"[77]

सजातीय विवाह और इसके आधार पर जातिप्रथा की उत्पत्ति के संबंध में अंबेडकर लिखते हैं- "यह प्रथा अपनी पूरी दृढ़ता के साथ केवल एक जाति, अर्थात् ब्राह्मणों में प्रचलित है, जो हिन्दू समाज की संरचना में सर्वोच्च स्थान पर है और गैर-ब्राह्मण जातियों ने इसका केवल अनुसरण किया, जहाँ इसके पालन में न तो उतनी दृढ़ता है और न संपूर्णता। ...इस रीति-नीति पर कड़ाई से पालन और इस पुरोहित वर्ग द्वारा प्राचीन काल से इस प्रथा का कड़ाई से अमल, यह प्रमाणित करता है कि वही वर्ग इस अप्राकृतिक संस्था का जन्मदाता था।"[78]

जातिप्रथा की उत्पत्ति के सवाल को अंबेडकर एक खास वर्ग के जाति के रूप में संगठित होने और फिर अन्य वर्गो द्वारा नकल के आधार पर जाति के रूप में संगठित होते जाने की प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित करते हैं। अंबेडकर का मानना है कि सबसे पहले पुरोहितों के वर्ग ने कुछ विशेष सामाजिक प्रथाओं के आधार पर अपने को एक विशेष समुदाय के रूप में संगठित किया और फिर विवाह को उस समुदाय के भीतर तक सीमित करके अपने को एक विशेष जाति (सजातीय समुदाय) के रूप में संगठित कर लिया। चूंकि ब्राह्मण समाजिक रूप से ऊँची हैसियत और प्रतिष्ठा वाले थे, इसलिए ब्राह्मणेतर विभिन्न वर्गो ने भी उनकी नकल के आधार पर अपने को सजातीय विवाह की परिधि में सीमित करके अपने को अलग जाति के रूप में संगठित कर लिया। इसी प्रक्रिया के तहत

जातिप्रथा सुदृढ़ होती गई। अंबेडकर विश्वास पूर्वक कहते हैं- ''इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि भारत में जातिप्रथा निम्न वर्ग द्वारा उच्च वर्ग की नकल का प्रतिफल है।''[79]

नकल के साथ-साथ विवशता को भी अंबेडकर जातिप्रथा के उभार के लिए उत्तरदायी मानते हैं। अंबेडकर का मानना है कि कुछ वर्गो ने तो ब्राह्मणों की नकल के आधार पर अपने को अलग जाति के रूप में संगठित किया, मगर कुछ वर्गो के लिए सजातीय विवाह की परिधि में बँधना और एक अलग जाति के रूप में संगठित होना विवशता भी थी। इस बारे में अंबेकर लिखते हैं- ''प्रश्न यह उठता है कि क्या उन्हें अपने दायरे में रहने के लिए विवश किया गया और उन्होंने सजातीय विवाह का नियम अपना लिया या उन्होंने स्वेच्छा से ऐसा किया। मेरा कहना है कि इसका द्विपक्षीय उत्तर है- कुछ ने द्वार बन्द कर लिया और कुछ ने दूसरे के द्वार अपने लिए बंद पाए।''[80]

अंबेडकर जातिप्रथा को अनावश्यक और समाज के लिए घातक मानते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि इस प्रथा की बुनियाद ही शोषण पर टिकी है। जातिप्रथा के समर्थन में दी जाने वाली इस दलील का अंबेडकर खंडन करते हैं कि जातिप्रथा श्रम विभाजन का एक आदर्श रूप है। अंबेडकर लिखते है- ''जातिप्रथा केवल श्रम का विभाजन नहीं है, यह श्रमिकों का विभाजन भी है।...जातिप्रथा मात्र श्रमिकों का विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रम के विभाजन से बिल्कुल भिन्न है। यह एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरे क्रम में होता है।...श्रम के विभाजन के रूप में जातिप्रथा में एक और गंभीर दोष है। जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न श्रम का विभाजन छांट पर आधारित विभाजन नहीं है। इसमें वैयक्तिक भावना और वैयक्तिक वरीयता का कोई स्थान नहीं है। इसका आधार पूर्व-नियति का सिद्धांत है।''[81]

अंबेडकर जातिप्रथा में श्रम विभाजन के स्वरूप की बिल्कुल ठीक आलोचना करते हैं। दरअसल जातिप्रथा में व्यक्ति के पैदा होने के पहले ही उसके श्रम के स्वरूप का निर्धारण कर दिया जाता है। व्यक्तिगत क्षमता, योग्यता और रुचि का कोई ध्यान इस श्रम विभाजन में नहीं रखा जाता। और इस प्रकार के श्रम विभाजन के आधार पर एक स्थायी शोषण के तंत्र का निर्माण होता है

जिसमें कुछ जातियों को स्थायी रूप से शोषित होने का अभिशाप और कुछ को स्थायी रूप से अन्य जातियों के शोषण का विशेषाधिकार मिल जाता है। निश्चित रूप से जातिप्रथा श्रम विभाजन का निकृष्टतम रूप है।

अंबेडकर जातिप्रथा के साथ-साथ वर्ण-व्यवस्था के अनौचित्य तथा उसके अन्यायपूर्ण स्वरूप को भी उद्घाटित करते हैं। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांत को वे जातिप्रथा की तुलना में बेहतर मानते हैं और लिखते हैं- ''जाति का आधारभूत सिद्धांत वर्ण के आधारभूत सिद्धांत से मूल रूप में भिन्न है, न केवल मूल रूप में भिन्न है, बल्कि मूल रूप से परस्पर विरोधी है। पहला सिद्धांत गुण पर आधारित है।''[82] ज़ाहिर है गुण पर आधारित होने के कारण जन्माधारित जातिप्रथा की तुलना में अंबेडकर वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांत को बेहतर मानते हैं। लेकिन अंबेकर वर्ण-व्यवस्था के इस आदर्श की व्यावहारिकता की परीक्षा करते हैं और इसे असफल पाते हैं। वे लिखते हैं- ''यह चातुर्वर्ण्य सामाजिक संगठन प्रणाली के रूप में अव्यावहारिक, घातक और अत्यंत असफल रहा है।''[83]

वर्ण-व्यवस्था के आदर्श का परीक्षण करते हुए अंबेडकर कुछ बुनियादी सवाल उठाते हैं। वे लिखते हैं- ''यह एक बहुत ही दोषपूर्ण व्यवस्था है कि ब्राह्मणों द्वारा विद्या का संवर्धन किया जाना चाहिए, क्षत्रिय को अस्त्र-शस्त्र धारण करना चाहिए, वैश्य को व्यापार करना चाहिए और शूद्र को सेवा करनी चाहिए... उस स्थिति में क्या होगा जब ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय विद्या प्राप्त करने, व्यापार करने तथा वीर सैनिक बनने के अपने-अपने कर्त्तव्यों को छोड़ दें? इसके विपरीत मान लीजिए कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं, किन्तु शूद्र के प्रति या एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उल्लंघन करते हैं, तब शूद्र का क्या होगा जब तीनों वर्ण उसकी सहायता न करें, या तीनों मिलकर उनको दबा कर रखें। उस स्थिति में शूद्र या वैश्य या क्षत्रिय के हितों की रक्षा कौन करेगा, जब उसकी अज्ञानता का लाभ उठाने वाला ब्राह्मण हो? शूद्र तथा ऐसे मामले में ब्राह्मण और वैश्य की स्वतंत्रता की रक्षा करने वाला कौन होगा, जब लुटेरा क्षत्रिय हो? एक वर्ण का दूसरे पर

निर्भर रहना अनिवार्य है। ...लेकिन परमावश्यकताओं की स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे पर निर्भर क्यों बनाया जाए? शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त करनी चाहिए। रक्षा के साधन सभी लोगों के पास होने चाहिए।''[84]

वर्ण-व्यवस्था का सैद्धांतिक आदर्श चाहे जैसा भी हो, उसका व्यावहारिक पक्ष तो निश्चय ही अन्यायपूर्ण है, जो व्यक्तियों के समुदाय विशेष को शिक्षा, सुरक्षा आदि बुनियादी अधिकारों से वंचित करता है और उन्हें गुलामी करते हुए जीने और मरने को विवश करता है। अंबेडकर गलत नहीं कहते हैं कि ''चातुर्वर्ण्य से बढ़कर सामाजिक संगठन की और कोई अपमानजनक पद्धति नहीं हो सकती। यह वह व्यवस्था है, जिसमें लोगों की उपयोगी क्रिया समाप्त, ठप तथा अशक्त हो जाती है।'' [85]

अंबेडकर हिन्दू धर्म तथा जातिप्रथा के संबंध में एक और बहुत महत्वपूर्ण बात कहते हैं। वे धर्मान्तरण के सवाल पर हिन्दू धर्म की तुलना दूसरे धर्मो से करते हैं। ज़ाहिर है जहाँ दूसरे धर्मो में धर्मान्तरण के लिए द्वार पूरी तरह खुले हुए हैं, वहीं हिन्दू धर्म में यह द्वार बिल्कुल बन्द है। किसी दूसरे धर्म का व्यक्ति इच्छा रखने पर भी हिन्दू धर्म को नहीं अपना सकता, जबकि हिन्दू धर्म का व्यक्ति इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि किसी भी धर्म को आसानी से अपना सकता है। इन धर्मों के द्वार धर्मान्तरण की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिए पूरी तरह खुले हुए हैं। हिन्दू धर्म में धर्मान्तरित व्यक्ति की अस्वीकार्यता का कारण बताते हुए अंबेडकर लिखते हैं- ''जातिप्रथा धर्म परिवर्तन नहीं होने देती। धर्म परिवर्तन में सिर्फ यही समस्या नहीं होती कि नई धारणाएँ और नए सिद्धांत अपना लिए जाएँ बल्कि दूसरी और सबसे बड़ी समस्या इसमें यह होती है कि धर्म-परिवर्तित व्यक्ति को किस जाति में स्वीकार किया जाए? ...किसी जाति विशेष की सदस्यता हर ऐरे-गैरे के लिए नहीं खुली रहती। जाति का नियम ही यह है कि उसकी सदस्यता उसी जाति में उत्पन्न व्यक्ति को प्राप्त होती है। हिन्दू समाज अनेक जातियों का समूह है, और क्योंकि हर एक जाति एक बंद निगमित

संस्था की तरह है, इसलिए धर्म-परिवर्तित व्यक्ति के लिए (किसी भी जाति में) कहीं कोई स्थान नहीं है।''[86]

चूंकि पूरा हिन्दू समाज अनिवार्य रूप से जातियों में बँटा हुआ है और जातियों के निर्धारण का आधार जन्म है, इसलिए किसी भी बाहरी व्यक्ति के लिए यह एक अभेद्य दीवार की तरह है जिसे पार कर हिन्दू धर्म में अपने लिए जगह बनाना असंभव है। इस संबंध में अंबेडकर का विश्लेषण एकदम तार्किक है।

अंबेडकर जातिप्रथा के उन्मूलन के उपायों पर भी यथोचित विचार करते हैं। वे जातिप्रथा के समाप्त हो जाने की केवल मंगलकामना नहीं करते बल्कि कुछ ठोस उपाय बताते हैं। अन्तर्जातीय खान-पान को अंबेडकर जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए अपर्याप्त मानते हैं। उनके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह के बिना जातिप्रथा का उन्मूलन संभव नहीं है। अंबेडकर अपने लंबे निबंध 'जातिप्रथा-उन्मूलन' में स्पष्ट लिखते हैं- ''अन्तर्जातीय खान-पान की व्यवस्था जाति-भावना या जाति-बोध को समाप्त करने में सफल नहीं हो पाई हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार अन्तर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने से ही रिश्ते की भावना पैदा होगी... हिन्दुओं में अन्तर्जातीय विवाह सामाजिक जीवन में निश्चित रूप से महान् शक्ति का एक कारक सिद्ध होगा।...अतः जाति-व्यवस्था को समाप्त करने का वास्तविक उपाय अन्तर्जातीय विवाह ही है। जाति-व्यवस्था समाप्त करने के लिए जाति-विलय को छोड़कर और कोई उपाय कारगर सिद्ध नहीं होगा।''[87]

अंबेडकर का मानना है कि जातिवाद के इस विषबेल को पोषण हिन्दू धर्मशास्त्रों से प्राप्त होता है। इसलिए इन शास्त्रोंके प्रति जब तक हिन्दू समाज की आस्था बनी रहेगी, तब तक जातिवादी व्यवहार को समाप्त करना व्यावहारिक रूप से संभव नहीं है। अंबेडकर लिखते है- ''लोग तब तक अपने आचरण में परिवर्तन नहीं करेंगे, जब तक वे शास्त्रों की पवित्रता में विश्वास करना

नहीं छोड़ देते, जिस पर उनका आचरण आधारित है।...प्रत्येक पुरुष और स्त्री को शास्त्रों के बंधन में मुक्त कराइए, शास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित हानिकर धारणाओं से उनके मस्तिष्क का पिंड छुड़ाइए, फिर देखिए, वह आपके कहे बिना अपने-आप अन्तर्जातीय खान-पान तथा अन्र्जातीय विवाह का आयोजन करेगा/करेगी।''[88]

अंबेडकर का जातिप्रथा का विश्लेषण और उसके उन्मूलन के लिए बताए गए उपाय तार्किक और व्यावहारिक हैं। उनके पूरे लेखन में जातिप्रथा के उन्मूलन के प्रति उनके 'कमिटमेंट' को देखा जा सकता है। अंबेडकर के विश्लेषण से निःसंदेह कहीं-कहीं असहमत हुआ जा सकता है, मगर जातिवाद को समाज से उखाड़ फेंकने की उनकी नीयत पर संदेह नहीं किया जा सकता।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में जाति संबंधी चिंतन

जाति एक बहुविश्लेषित एवं बहुविवेचित मुद्दा है। भारत की आज़ादी से पहले और आज़ादी के बाद अनेक सामाजिक चिंतकों एवं समाजशास्त्रियों ने इस पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। स्वतंत्र भारत में तो बीसियों समाजशास्त्रियों ने जाति के प्रश्न पर लिखा है। उन सब की अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं। लेकिन शोध की अपनी सीमा है और यहाँ उन सब पर विचार कर पाना संभव नहीं है। अतः डॉ. राममनोहर लोहिया के अलावा कुछ अन्य समाजशास्त्रियों जैसे डॉ. एम.एन.श्रीनिवास, दीपंकर गुप्ता, गेल ओमवेट और सुरिन्दर एस. जोधका के चिंतन को प्रतिनिधि चिंतन के तौर पर देखा जा सकता है, जिससे स्वातंत्र्योत्तर भारत में जाति-चिंतन की दिशा का पता चलता है।

लोहिया का जाति-चिंतन

हिन्दुस्तान में आज़ादी के बाद जाति प्रथा पर गहराई से विचार करने वाले और इसके विनाश के लिए सक्रिय प्रयास करने वाले लोहिया संभवतः पहले और आखिरी चिंतक एक्टिविस्ट रहे। लोहिया के लिए जाति-प्रथा का विनाश उनके अन्य राजनीतिक मुद्दों के साथ एक और मुद्दा भर नहीं था, बल्कि यह उनकी राजनीति की धुरी था। लोहिया सोशलिस्ट पार्टी के जरिये जिस रूप में हिन्दुस्तान की पुनर्रचना करना चाहते थे, उसके लिए जाति प्रथा का विनाश एक ज़रूरी शर्त्त थी। लोहिया जातिप्रथा को 'हिन्दुस्तानी जीवन में सबसे ज्यादा लेडूबू उपादान'[89] मानते थे, जिसने भारतीय समाज के बड़े हिस्से को लकवाग्रस्त कर रखा है। इस जातिवाद के चंगुल से भारतीय समाज को मुक्त करने का लक्ष्य लेकर लोहिया अपनी राजनीति कर रहे थे और इसी क्रम में जाति प्रथा के संबंध में उनके विचार बनते और परिपक्व होते गए और साथ ही जाति-विनाश के सक्रिय राजनीतिक प्रयास भी चलते रहे।

जाति की अवधारणा को लेकर प्रायः एक 'बिगूचन' की स्थिति पैदा की जाती है- जाति का संबंध कर्म से जोड़कर। ऐसा प्रायः वे लोग करते हैं जो जाति-व्यवस्था को 'डिफेंड' करने की कोशिश करते हैं। लोहिया की समझ इस झोल से मुक्त है। वे बहुत साफ समझ रखते हैं कि 'जाति का गुण, कर्म से संबद्ध नहीं।'[90] कर्मणा जाति वाले सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए लोहिया कहते हैं- "...कर्म परिवर्तन से जाति परिवर्तन भी हो जाएगा तो जाति का क्या मतलब?"[91] अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए लोहिया वर्ग और जाति के अन्तर को भी रेखांकित करते हैं- "वर्ग जड़ होकर जाति का गुण ले लेता है।...यानी वर्ग चलायमान होता है। उसके विपरीत जाति में आमदनी और स्थान बंध-सा जाता है। तब्दीली नहीं होती। वर्ग में परिवर्तन और संघर्ष चलता रहता है। चलायमान जाति को वर्ग और जड़ वर्ग को जाति कहते हैं। भारत जैसी जड़ जाति कहीं नहीं मिलेगी।"[92] अपनी पुस्तक 'इतिहास-चक्र' में जाति और वर्ग की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए भी लोहिया लिखते हैं- "जाति को वर्ग से अलग करने वाला तत्व है सामाजिक संबंधों में स्थिरता; न व्यक्ति अपने से ऊपर के वर्ग में जा सके और न पूरा वर्ग हैसियत या आमदनी में ऊपर उठ सके। वर्ग अस्थिर जाति है और जाति स्थिर वर्ग।"[93]

भारतीय समाज में जातिप्रथा की मौजूदगी को लोहिया विदेशी शक्तियों के हाथों भारत की पराजयों का भी कारण मानते हैं। 17 जुलाई, 1959 को हैदराबाद में जाति के विषय में भाषण देते हुए लोहिया ने कहा था- "हिन्दुस्तान बार-बार विदेशियों के कब्जे में गया और हमले हम इतने झेल नहीं पाए, इसका भी सबब जातिप्रथा है...।"[94] हालाँकि जातिप्रथा को लोहिया इसका अकेला कारण नहीं मानते, मगर सबसे बड़ा कारण ज़रूर मानते हैं। अपनी बात को लोहिया और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हिन्दुस्तान की लगभग 90 फीसदी आबादी जो पिछड़ी जातियों की है, 'उनको जाति-प्रथा के कारण इतना मुरदा बना दिया है कि राजनीति, राजगद्दी, युद्ध वगैरह से उनकी दिलचस्पी नहीं रहती।... राजनीति कौन लोग करते हैं। नेताओं को अगर निकाल लो तब तो 80-90

फीसदी आप पाओगे कि यही ऊँची जाति वाले राजनीति कर रहे हैं। रोजमर्रा राजनीति में दिलचस्पी लेने वाले कौन लोग हैं? वे ही ऊँची जातिवाले लोग हैं।'[95] राजनीति और पूरे अर्थतंत्र पर कब्जा जमाकर बैठे मुट्ठीभर ऊँची जाति के लोगों ने देश की 90 फीसदी आबादी को ऐसी मानसिक स्थिति में ला दिया है कि 'हिन्दुस्तान की आबादी की बड़ी संख्या राजनीति से वैरागी रही है और वह लड़ी वगैरह नहीं।'[96] लोहिया ने जून, 1962 में 'जाति' शीर्षक निबंध में लिखा- ''जो लोग कहते हैं कि फूट के कारण देश गुलाम बनता है, वे इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्र, कुछ नहीं जानते। हिन्दुस्तान गुलाम बनता रहा है मुख्यतः जनता की उदासी के कारण, और इस उदासी का सबसे बड़ा कारण जाति-प्रथा रही है।''[97]

यहाँ 'पिछड़ी जाति' के बारे में लोहिया की अवधारणा को स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। आज हम जिस सांवैधानिक अर्थ में 'पिछड़ी जाति' पद का प्रयोग करते हैं, उससे लोहिया की 'पिछड़ी जाति' का अर्थ भिन्न और व्यापक है। लोहिया सामाजिक रूप से पिछड़े तमाम समुदायों को 'पिछड़ी जाति' के दायरे में लाते हैं और इसे व्यापक बनाते हुए कहते हैं- ''औरत, शूद्र, हरिजन, अल्पसंख्यकों में विशेष दबे मुसलमान और ईसाई तथा आदिवासी देश की पिछड़ी जातियाँ हैं।''[98] इसलिए लोहिया जब 'पिछड़ी जातियों' की बात करते हैं, तब उससे यह भ्रम कतई नहीं होना चाहिए कि वे आज के प्रचलित अर्थ में केवल पिछड़ी जातियों की बात कर रहे हैं।

लोहिया जातिप्रथा की ऐतिहासिक जड़ों की तलाश करने का बहुत प्रयास नहीं करते। वे मानते हैं कि भारत में जाति के निर्माण के स्थायी सिद्धांत तय करने के लिए अभी पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। 'इतिहास-चक्र' पुस्तक में लोहिया साफ लिखते हैं- ''जाति का जो स्वरूप सिर्फ भारत में बना, वह कैसे उभरा, यह भी बहुत अटकल का विषय है। लेकिन इसने ऐसा समायोजन प्राप्त किया जिसमें जाति की आश्चर्यजनक स्वीकार्यता और समाज की व्यापक मुर्दनी का मेल हो गया।''[99]

जातिप्रथा की उत्पत्ति की प्रक्रिया में उलझने के बजाय लोहिया इसके वर्त्तमान स्वरूप और टिके रहने की वजहों को समझने की कोशिश करते हैं। जाति प्रथा के वर्त्तमान स्वरूप को बारीकी से समझना और इसके विनाश को सुनिश्चित करने वाले उपादानों पर विचार और अमल करना लोहिया की कोशिश रही। भारत में जाति-व्यवस्था को मजबूती से टिकाए रखने में धर्म की भूमिका को लोहिया खूब बेहतर ढंग से समझ रहे थे। 'जन्म के आधार पर वर्गीकरण और उसे धर्म की स्वीकृति'[100] को लोहिया जाति के आवश्यक लक्षण मानते हैं। धर्म ने जाति के लिए एक अभेद्य कवच का काम किया है। भारतीय समाज में जाति प्रथा से सर्वाधिक पीड़ित और प्रताड़ित जनता भी इतनी धर्मभीरु बना दी गई है कि तमाम सामाजिक यातनाओं को झेलते हुए भी वह धर्म और धर्मग्रंथों द्वारा संरक्षण प्राप्त जाति-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करने का साहस नहीं जुटा पाती। और तो और, प्रायः यह धर्मभीरु जनता तो यह समझ ही नहीं पाती कि वह कुछ चालाक लोगों की स्वार्थी व्यवस्था का शिकार है! लोहिया लिखते हैं- ''समय और धर्म ने भारत की जाति-व्यवस्था के तीखे किनारों को घिस दिया है और जाति को उन लोगों के लिए भी स्वीकार्य बनाकर जो जाति की यातना भोग रहे हैं, क्रूरता को जमीन के नीचे व्यापक और छिपे विष के रूप में दबा दिया गया है।''[101]

भारत में जाति-प्रथा के विरुद्ध कई संघर्ष हुए हैं। जाति-व्यवस्था के नाश के नाम पर कई आंदोलन और प्रयास हुए, लेकिन जातिवाद थोड़े-बहुत स्वरूप परिवर्तन के साथ अनवरत चलता रहा है। 'जातिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' (अगस्त, 1956) शीर्षक लेख में लोहिया लिखते हैं- ''आज तक जितने सुधारवादी आंदोलन हुए, सब के सब सनातन हिन्दू व्यवस्था द्वारा उदरस्थ कर लिए गए और जातिवाद का भयानक दलदल अभी बना हुआ है। यह दलदल इतना गहरा है कि बड़ा-से-बड़ा पत्थर इसके गर्भ में कहाँ चला जाता है, कुछ भी पता नहीं चलता। जब तक यह दलदल सुखा नहीं दिया जाता, भारत में जातिवाद का नाश नहीं हो सकता।''[102] लोहिया जाति-प्रथा के विरुद्ध हुए तमाम प्रयासों से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने इन प्रयासों की सीमा को ठीक-ठीक पहचाना था। उनका मानना था कि 'जाति मिटाने के अब तक के सिद्धांत एक को मिटाकर दूसरे को

बनाने वाले हैं।'[103] लोहिया का मानना था और बिल्कुल ठीक मानना था कि समाज में जातियों के शक्ति-समीकरण को बदल देने या उलट देने मात्र से जाति-प्रथा का अन्त नहीं हो सकता। जातियाँ तो तब भी रहेंगी, जातिवाद भी रहेगा और जातिवादी शोषण भी रहेगा। हाँ, इस शक्ति-समीकरण के बदलने से कुछ पिछड़ी जातियों और खासकर उन जातियों के नेताओं को कुछ लाभ मिल जाएंगे, पर सामाजिक जड़ता जस-की-तस रहेगी। इस प्रक्रिया में दलित-पिछड़ी जातियाँ इस्तेमाल होती हैं, परन्तु वास्तविक परिवर्तन घटित नहीं होता। इसलिए इस तरह के प्रयासों में लोहिया की आस्था कभी नहीं रही। उनका कहना था कि "जाति-प्रथा को समूचे भारत में नष्ट करने के बजाय, इस या उस जाति को ऊँचा उठाने के लिए ही दबी जातियों के विद्रोह को हमेशा और बार-बार बेजा इस्तेमाल किया गया।"[104]

लोहिया जाति-प्रथा के नाश के नाम पर राजनीतिक-आर्थिक वर्चस्व का केवल एक जाति से दूसरी जाति के बीच हस्तांतरण नहीं चाहते थे। वे जातिविहीन समाज के निर्माण पर ज़ोर देते हैं जिसमें सभी लोग अधिकार संपन्न हों- "अगर आप चाहते हो कि कोई एक सुखी न हो, बल्कि सभी सुखी हों तो फिर इस जाति के चक्र को तोड़ना होगा। वह तभी हो सकता है, जबकि किसी एक जाति के अधिकार को कम करके दूसरी को बिठाने के बजाय कोशिश यह की जाए कि सब लोगों के अधिकार करीब-करीब बराबर से हो जाएँ। इसका कोई तरीका निकाला जाए।"[105]

समतामूलक जातिविहीन समाज के निर्माण का एक तरीका लोहिया ने निकाला था- 'पिछड़ी जातियों के लिए विशेष अवसर का सिद्धांत'। लोहिया का मानना था कि देश की लगभग 90 फीसदी आबादी जो पिछड़ी हुई है, उसे योग्यता के आधार पर समान अवसर देकर आगे नहीं लाया जा सकता, क्योंकि योग्यता के आधार पर तो वही मुट्ठी भर ऊँची जाति वाले लोग आगे बने रहेंगे, जिन्हे पिछले 3-4 हजार वर्षों से 'अगुआगिरी' मिली हुई है। इसलिए लोहिया इस 90 फीसदी आबादी वाली पिछड़ी जातियों के लिए सरकारी नौकरियों, राजनैतिक पार्टियों, व्यापार और

पलटन में नेतृत्व की कम-से-कम 60 फीसदी जगहें आरक्षित करने की बात करते हैं। अपने इस विशेष अवसर के सिद्धांत के लिए लोहिया के अपने ठोस तर्क हैं- ''देश में जहाँ हजारों वर्ष के जातिगत संस्कार, परंपराएँ और विशिष्ट योग्यताएँ बन चुकी हों, वहाँ योग्यता पर आधारित समान अवसर का सिद्धांत मौजूदा गैरबराबरी को घटाने के बजाय बढ़ाता है।''[106] इसलिए ''देश में जनता के पिछड़े समूहों को उनकी योग्यता का लिहाज किए बिना सभी अवसर इस आशा में देने ही होंगे कि ज्यादा अवसर देने की इस उलटी प्रक्रिया से जाति-प्रथा का नाश होगा और जनता की योग्यता पुनर्जीवित होगी।''[107] नतीजा ''कुछ वर्षो में ऐसा विशेष अवसर पाने के बाद पिछड़ी जातियों में भी परंपरागत योग्यताओं और संस्कारों का निर्माण होगा और तब समूचा हिन्दुस्तान सबल बन सकेगा।''[108]

जातियों के बने रहने पर समाज में बराबरी नहीं आ सकती और बराबरी लाने के लिए योग्यता वाले सिद्धांत से काम नहीं चल सकता- ऐसी साफ समझ रखने वाले लोहिया को उन लोगों से चिढ़ थी जो जातियों को बनाए रखते हुए समाज में बराबरी लाने की बात करते थे। लोहिया वैसे लोगों से बचने की बात करते हैं- ''जो लोग जातियों को रखते हुए बराबरी कायम करने की बात करते हैं, वे या तो धूर्त हैं या मूर्ख हैं। जातियों में बराबरी कायम तभी हो सकती है, जब जातियों का नाश हो, और जातियों का नाश तभी हो सकता है जब दबी हुई जातियों को विशेष और गैर बराबर अवसर दिया जाए। इसीलिए 60 सैकड़ा संरक्षण का सिद्धांत मानना होगा।''[109]

विशेष अवसर के सिद्धांत के कारण द्विजों के मन में कटुता और कड़वाहट स्वाभाविक रूप से पैदा होने की संभावना है। इसके अलावा पिछड़ी जातियों के लोगों के मन में भी अपने साथ सदियों से अन्याय करने वाली द्विज जातियों के प्रति कटुता की भावना पैदा होने की संभावना है। इन दोनों बातों का अंदाज़ा लोहिया को था और इस पहलू को लेकर वे शुरुआत से ही सतर्क और सचेत रहे। वे जाति-विनाश की इस पूरी प्रक्रिया में किसी भी समुदाय में अनावश्यक कटुता पैदा नहीं करना चाहते थे, बल्कि वे द्विजों को भी विश्वास में लेना चाहते थे और उन्हें यकीन दिलाना चाहते थे कि

जाति प्रथा का नाश अन्ततः उनके लिए भी लाभकर होगा। मई 1956 में रायबरेली में पिछड़ी जाति संघ सम्मेलन में भाषण देते हुए लोहिया द्विज जातियों से अपील करते हुए कहते हैं- ''कई हजार वर्षों की गलती को सुधारने और न्याय और समता के नए युग का प्रारंभ करने के लिए द्विज को वक्ती अन्याय सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। जिस दिन ब्राह्मण और बनिये अपना सर्वस्व समाप्त कर देंगे, वह उनके लिए बड़ा गौरवान्वित दिन होगा।''[110] साथ ही उसी भाषण में शूद्रों से भी द्विजों के प्रति कटुता की भावना से मुक्त होने की अपील करते हुए कहते हैं- ''शूद्र को यह नहीं भूलना चाहिए कि द्विजों में अधिकांश लोग गरीब और महरूम हैं। परंतु जाति-प्रथा के चमत्कार ने मानवता के इन 8-9 करोड़ महरूम लोगों को यथास्थितिवाद का समर्थक बना दिया। वे शरीर के भिखारी हैं, पर अपने-आपको बुद्धि के मालिक मान बैठे हैं।''[111]

लोहिया पिछड़ी जातियों को द्विजों के प्रति जलन और उनके सामने घुटने टेकने-दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से बचने की सलाह देते हैं। उनका मानना है कि इन दोनों ही प्रवृत्तियों से जाति प्रथा का नाश नहीं हो सकता, बल्कि ये प्रवृत्तियाँ जाति-विनाश के राह में रोड़े अटकाती हैं। ''जलन की प्रवृत्ति द्विजों के विरुद्ध शूद्रों को खड़ा करती है और संरक्षण की माँग करती है।...इससे वे लोग आगे आ जाते हैं जो द्विजों के विरुद्ध शूद्रों को ज्यादा उभाड़ सकें। इससे ऐसी विभूतियाँ पैदा नहीं होतीं जिनके पीछे न सिर्फ शूद्र बल्कि द्विज भी चल सकें।...दूसरी प्रवृत्ति(द्विजों के चरणों में सिर झुकाने वाली) से भी शूद्र समानता हासिल कर सकें ऐसा नहीं लगता। इस प्रवृत्ति से शूद्र स्वयं द्विज बन जाने की कोशिश करता है और द्विजों के गुणों के बजाय उनके अवगुण अपनाता है।''[112]

लोहिया अंबेडकर से प्रभावित थे, उनकी विद्वता के वे कायल थे। अंबेडकर की जाति-नीति से भी लोहिया का कोई खास विरोध नहीं था, लेकिन अंबेडकर के भीतर ऊँची जातियों के प्रति जो कटुता थी, वह लोहिया को खटकती थी। लोहिया अंबेडकर को केवल हरिजनों के नेता के रूप में नहीं, बल्कि पूरे हिन्दुस्तान के नेता के रूप में देखना चाहते थे। खुद अंबेडकर को लिखे 10 दिसंबर, 1955 के एक पत्र में लोहिया ने उन्हें लिखा- ''अब भी मैं बहुत चाहता हूँ कि क्रोध के साथ दया भी

जोड़नी चाहिए और कि आप न सिर्फ अनुसूचित जातियों के नेता बनें, बल्कि पूरी हिन्दुस्तानी जनता के भी नेता बनें।''[113] लोहिया की चाहत थी कि अंबेडकर उनके साथ आएँ 'केवल संगठन में ही नहीं बल्कि पूरी तौर से सिद्धांत में भी'। इस बात का जिक्र लोहिया ने अंबेडकर की मृत्यु के कुछ महीने बाद 1 जुलाई 1957 को मधु लिमये को लिखे एक पत्र में किया है।[114] इस पत्र में भी लोहिया ने अंबेडकर के मन में द्विजों के प्रति कटुता का जिक्र किया है। इसी कटुता की वजह से लोहिया को बराबर लगता रहा कि 'डॉ. अंबेडकर जैसे लोगों में भी सुधार की जरूरत है'।[115]

पिछड़ी जातियों के मन में द्विजों के प्रति जलन का भाव या कटुता पैदा करने के बजाय उनमें आत्मसम्मान का भाव जगाना लोहिया को उनके उत्थान के लिए ज्यादा ज़रूरी और कारगर उपाय लगता है। लोहिया की स्पष्ट धारणा थी कि ''अगर किसी पिछड़ी जाति का सामूहिक रूप से उत्थान करना है तो सबसे पहले आत्मसम्मान और अभय को उगाना होगा।''[116] 17 जुलाई, 1959 को हैदराबाद में भाषण देते हुए लोहिया ने कहा- ''जब ये चमार, कापू, पद्मशाली और माली, मादीगा ये सब अपने अधिकार के बारे में सचेत होंगे, तब उन्हें लगेगा कि उनकी इज्जत को ठेस लग रही है और तब इनमें जान आएगी... हिन्दुस्तान का यह हिस्सा जो अब तक बिल्कुल मुरदा है, प्राणवान बनेगा।''[117]

लोहिया भारतीय समाज की पुनर्रचना से जुड़े एक बहुत अहम सवाल को उठाते हैं कि केवल आर्थिक गैरबराबरी के मसले को हल करने से भारतीय समाज को जीवंत नहीं बनाया जा सकता, जब तक कि जाति के मसले को हल न किया जाए। लोहिया को यह भ्रम भी कभी नहीं रहा कि आर्थिक मसले को हल कर लेने पर जातिप्रथा का धीरे-धीरे स्वतः नाश हो जाएगा। बल्कि वे तो बहुत साफ कहते हैं कि ''आर्थिक गैरबराबरी और जाति-पाँति जुड़वाँ राक्षस हैं और अगर एक से लड़ना है तो दूसरे से भी लड़ना ज़रूरी है।''[118] केवल आर्थिक मोर्चे की लड़ाई से कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आएगा इसे लोहिया बार-बार दुहराते हैं- ''जितना भी आप खेती और कारखानों को

सुधारते चले जाओ, लेकिन इस वक्त जो जातिगत फरक है, वह तो आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण में भी चलता रहेगा। यह मिट नहीं सकता।... आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण का फायदा इन्हीं ऊँची जातियों को ज्यादा मिलता चला जाएगा।"[119] तत्कालीन कम्युनिस्ट पार्टी की जाति-नीति की भी लोहिया बहुत कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं। सोशलिस्ट पार्टी के तीसरे राष्ट्रीय सम्मेलन (25-28 अप्रैल, 1956) में लोहिया कम्युनिस्टों की तरफ संकेत करते हुए कहते हैं- "कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सोचते हैं कि जातिप्रथा का सीधा सामना करने की जरूरत नहीं और वर्ग-संघर्ष के द्वारा पूंजीशाही का नाश कर लेने से जातियों का नाश अपने-आप हो जाएगा। एक तो, जातिप्रथा वाले देश में केवल वर्ग-संघर्ष से पूंजीशाही और सामंतशाही गैरबराबरी का अंत करना संभव नहीं दीखता। दूसरे वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए जिन लोगों को वर्ग-संघर्ष इतना ज़रूरी लगता है, उन्हें जातिविहीन समाज कायम करने के लिए जाति-संघर्ष से इतनी चिढ़ क्यों?"[120] तमाम राजनीतिक दल जातिमुक्त समाज के निर्माण की बात करते हैं, मगर किसी के भी पास इसके लिए कोई ठोस योजना या रूपरेखा नहीं है। लोहिया एक और बात की तरफ भी इशारा करते हैं कि प्रायः सभी राजनीतिक दलों में शीर्ष नेतृत्व द्विजों के हाथों में है और इसलिए इनमें भीतर से जातिप्रथा के नाश की इच्छा-शक्ति का अभाव है। लोहिया बड़े तल्ख अंदाज़ में कहते हैं- "द्विजों का, चाहे वे अलग-अलग पार्टियों में बँटे हों, और आपसी संघर्ष काफी बड़ा हो, एक तरह का अचेतन संयुक्त मोर्चा चलता रहता है। साथ उठना-बैठना, शादी-विवाह, नौकरियाँ और सिफारिशें इत्यादि उनमें एक संबंध बनाए रखते हैं।"[121] लोहिया ने यह बात आज़ादी के महज 5 साल बाद 1953 में कही थी। आज आज़ादी के 67 सालों के बाद यह प्रवृत्ति और ज़्यादा वीभत्स तरीके से उभर चुकी है। नतीजा, जातिवाद खत्म होने के बदले और अधिक विकृत और जटिल होता गया है।

कुछेक समाजशास्त्रियों (लोहिया मैक्स वेबर का उल्लेख करते हैं) और एक समय भारत के सुधारवादी आंदोलन के कुछेक नेताओं का भी मानना था कि यूरोप और आधुनिक तर्कनापरक विचारों के संपर्क में आने वाले शिक्षित हिन्दुस्तानी भारत वापस लौटकर जातिप्रथा को खत्म करेंगे। मगर इतिहास गवाह है कि ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ। लोहिया का अपना अनुभव भी उन्हें यही

बताता है। वे मैक्स वेबर और उनकी तरह सोचने वालों के विषय में अपने निबंध 'जाति-प्रथा नाश : क्यों और कैसे?' (जून, 1958) में लिखते हैं- ''वे इस बात को नहीं समझते थे कि ये यूरोप पलट हिन्दुस्तानी ज़्यादातर ऊँची जातियों के ही होंगे और अपनी शिक्षा और बढ़ी हुई हैसियत के कारण विशिष्ट विवाहों के द्वारा वे जाति-प्रथा को और भी मजबूत बनाएंगे।''[122] 17 जुलाई, 1959 के अपने हैदराबाद वाले भाषण में भी लोहिया कहते हैं- ''विलायत कौन गए।...छोटी जातिवालों के पास न पैसा ही था, न विद्या थी, न संस्कार थे।...वास्तव में ब्राह्मण या रेड्डी में भी जो धनी कुटुंब हैं या जिनके अंदर पढ़ने-लिखने की परंपरा कुछ वर्षों से चली आ रही है, उन्हीं को मौका मिलता है। पहले से ही ऊँची जाति और जब विलायत से पास करके लौटकर आते हैं तो ऊँची जाति में भी एक ऊँची जाति की सीढ़ी बन जाती है।''[123]

'सैद्धांतिक आधिपत्य की लंबी परंपरा' द्वारा 'निश्चल बना दी गई पिछड़ी जातियों' में गौरव और आत्मसम्मान का भाव जगाने और उन्हें समाज में बराबरी का दर्जा दिलाने के लिए लोहिया 'विशेष अवसर के सिद्धांत' पर ज़ोर देते हैं। लेकिन उनके लिए यह जाति-विनाश के लिए काफी नहीं है। जाति का समूल नाश तो अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज से ही होगा। इस संदर्भ में लोहिया के विचार गाँधी की तुलना में अंबेडकर के ज़्यादा करीब हैं। मई, 1960 में 'जाति-अध्ययन और विनाश संघ' के घोषणा-पत्र में लोहिया कहते हैं- ''हम अपना 'जाति-प्रथा अध्ययन और विनाश संघ' बनाते हैं, ...जो यह विश्वास करते हुए कि केवल अन्तर्जातीय विवाह से ही अन्ततोगत्वा जातियों का लोप होगा और वैज्ञानिक अध्ययनों और विधायक कलाओं के जरिए इस बात का प्रचार करते हुए, तत्काल हासिल किए जा सकने वाले सहभोज के लक्ष्य पर जोर देगा।''[124] अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज को प्रोत्साहन देने के लिए लोहिया सरकारी नीतियाँ भी बनाने की अपील करते हैं। मार्च-अप्रैल, 1961 में पटना में जाति-विनाश सम्मेलन के प्रस्ताव में लोहिया ने कहा- ''जाति-विनाश सम्मेलन की राय है कि चाहे जनसाधारण के लिए अन्तर्जातीय विवाह संबंधी कानून बनाना ठीक न

हो, लेकिन सरकार को हक है कि वह अपने नौकरों के संबंध में ऐसे कानून बनाए। जाति-विनाश सम्मेलन की निश्चित राय है कि अब से सरकारी नौकरी उसी को मिले जिसने अनमेल (अन्तर्जातीय) विवाह किया हो।''[125] इससे पहले जनवरी, 1953 में भी अपने निबंध 'जाति और योनि के दो कटघरे' में लोहिया ने यह बात साफ शब्दों में कही थी- ''जिस दिन प्रशासन और फौज में भर्ती के लिए, और बातों के साथ-साथ, शूद्र और द्विज के बीच विवाह को योग्यता और सहभोज के लिए इनकार करने पर अयोग्यता मानी जाएगी, उस दिन जाति पर सही मायने में हमला शुरू होगा।''[126]

लोहिया के पास जाति को लेकर एक स्पष्ट दृष्टिकोण है। जाति को लेकर उनकी समझ व्यावहारिक है। उनके पास जाति-विनाश का कोई त्वरित जादुई उपाय नहीं है। यह हो भी नहीं सकता। लेकिन जाति-विनाश की प्रक्रिया का एक साफ ब्लूप्रिंट उनके पास जरूर है, जो उनके पूरे चिन्तन-लेखन से उभर कर सामने आता है।

अन्य समाजशास्त्रियों द्वारा जाति-संबंधी चिंतन

स्वातंत्र्योत्तर भारत में जाति को देखने-समझने की एक अलग ढंग की दृष्टि एम.एन. श्रीनिवास के लेखन में दिखाई पड़ती है। श्रीनिवास मानते हैं कि 'जाति-व्यवस्था सबसे अधिक सामंती, न्यूनतम काम-धंधों और आर्थिक गतिविधियों वाली एक ठहरी हुई अर्थव्यवस्था में फली-फूली है।'[127] साथ ही वे मानते हैं कि 'अंग्रेजी राज के दौरान कुछ नई सामाजिक और आर्थिक शक्तियाँ सामने आईं जिनसे इस व्यवस्था में थोड़ा लचीलापन आया।'[128]

दरअसल, श्रीनिवास के विचारों की मौलिकता इस बात में है कि वे जाति को कोई ठहरी हुई इकाई नहीं मानते बल्कि उसे एक गतिशील इकाई मानते हैं। श्रीनिवास ने अपने लेखन में सर्वाधिक बल 'जातीय गतिशीलता' की अवधारणा पर दिया है। आज के समय में जाति के लक्षणों को सामने

रखते हुए वे लिखते हैं- ''जाति-व्यवस्था का आज जो स्वरूप है, उसके सबसे महत्वपूर्ण लक्षणों में से एक है इसके श्रेणीक्रम में स्पष्टता का अभाव... और इसी अस्पष्टता के कारण किसी जाति के लिए श्रेणीक्रम में ऊपर उठना संभव हो जाता है।''[129] यहीं वे जाति की एक खास 'टेंडेंसी' की तरफ संकेत करते हैं कि ''हरेक जाति यह साबित करना चाहती है कि यह अपने से 'उच्चतर' जाति के समकक्ष है और अपने 'समकक्षों' से उच्चतर है।''[130]

श्रीनिवास जाति की अवधारणा को वर्ण की अवधारणा से अलग रखकर समझने की पेशकश करते हैं। उनका मानना है कि ''वर्ण की अवधारणा ने जाति की एक विकृत और गलत छवि प्रस्तुत की है। अगर कोई समाजशास्त्री जाति-व्यवस्था को समझना चाहता है, तो उसे वर्ण की इस अवधारणा से मुक्त होना जरूरी है।"[131] वर्ण और जाति की अवधारणा में अंतर का मूल आधार श्रीनिवास सामाजिक गतिशीलता की संभावना को बनाते हैं। श्रीनिवास के अनुसार 'वर्ण आदर्श में किसी जाति-श्रेणी के स्थान के बारे में कोई संदेह नहीं होता।...पारस्परिक स्थान के बारे में अस्पष्टता या संशय...जाति की आवश्यक विशेषता है।''[132] जाहिर है श्रीनिवास जाति को एक गतिमान इकाई मानते हैं जो विभिन्न सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया में सोपान क्रम में अपना स्थान बदलती रहती है, जबकि वर्ण के साथ ऐसी बात नहीं है। 'वर्ण आदर्श में प्रत्येक वर्ण का स्थान सदा के लिए निर्धारित है।'[133]

श्रीनिवास जाति संबंधी अपने चिन्तन में जाति और राजनीति के संबंधों पर गहन रूप से विचार करते हैं। जातियों के राजनीतिकरण और राजनीति में जातियों की अहम् भूमिका के कारण विभिन्न जातियों की सामाजिक स्थिति में होने वाले परिवर्त्तनों पर श्रीनिवास ने विस्तार से विभिन्न उदाहरणों के साथ अपने विचार व्यक्त किए हैं। भारतीय समाज की गतिशीलता पर विचार करते हुए यद्यपि उन्होंने बहुत-सारी बातें सामने रखी हैं, लेकिन इनमें सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक ढंग से उन्होंने 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा को सामने रखा है। श्रीनिवास 'संस्कृतीकरण' को सामाजिक

गतिशीलता और जातियों की गतिशीलता का एक प्रमुख कारण मानते हैं। श्रीनिवास के मुताबिक "संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई 'नीच' हिन्दू जाति, या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह, किसी उच्च और प्रायः 'द्विज' जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकांड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है। आम तौर पर ऐसे परिवर्त्तनों के बाद वह जाति, परम्परा से स्थानीय समाज द्वारा सोपान में जो स्थान उसे मिला हुआ है, उससे ऊँचे स्थान का दावा करने लगती है।"[134] संस्कृतीकरण के संबंध में यह बात श्रीनिवास ने 1963 में कही हैं। इससे पहले 1952 में अपनी किताब 'रिलीजन एंड सोसाइटी एमंग कुर्ग्स ऑफ साउथ इंडिया' में वे संस्कृतीकरण के बारे में लिखते हैं- "संक्षेप में कहें तो... निचली जातियों द्वारा ब्राह्मणवादी जीवन-शैली अपनाना तथा जहाँ तक संभव हो, ब्राह्मणों के रीति-रिवाज, धार्मिक अनुष्ठान एवं मान्यताओं को अंगीकार कर लेना काफी आम बात थी। इस पुस्तक में इस प्रक्रिया को संस्कृतीकरण कहा है...।"[135]

श्रीनिवास अपनी संस्कृतीकरण की अवधारणा में ब्राह्मणी मानदंडों पर विशेष बल देते हैं। 1963 वाले लेख में भी वे संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का अर्थ इस तरह बताते हैं- "विभिन्न संस्कारों के लिए ब्राह्मण पुरोहित की सेवाएँ प्राप्त करना, संस्कृतीय पंचांग के त्योहारों को मनाना, प्रसिद्ध तीर्थस्थानों की यात्रा करना और धर्मशास्त्रों का अधिक ज्ञान प्राप्त करना।"[136]

श्रीनिवास के संस्कृतीकरण के सिद्धांत में ब्राह्मणी मानदंडों की सर्वोच्चता की आलोचना करते हुए निकोलस बी. डर्क्स लिखते हैं कि 'जातीय पद-सोपान में ऊपर की ओर गतिशीलता के लिए एकमात्र ब्राह्मणवादी सार्वभौम मानदंडों की प्रतिष्ठा स्पष्टतः ज्ञान के नए औपनिवेशिक समाजशास्त्र का परिणाम है, न कि भारतीय सभ्यता के किसी मूलभूत सिद्धांत की अभिव्यक्ति।'[137]

संस्कृतीकरण के ब्राह्मण आदर्शों पर अतिरिक्त बल देने का अहसास श्रीनिवास को भी है। अपने 1963 वाले लेख में वे इस बात का ज़िक्र करते हैं- "अब मैं अनुभव करता हूँ कि अपनी कुर्ग धर्म-संबंधी पुस्तक और 'संस्कृतीकरण तथा पश्चिमीकरण पर एक टिप्पणी', दोनों में मैंने

संस्कृतीकरण के ब्राह्मण आदर्श पर अनावश्यक बल दे दिया था...।''[138] श्रीनिवास 1963 से 'ब्राह्मण आदर्शों' के स्थान पर 'स्थानीय प्रभु जातियों के आदर्श' को संस्कृतीकरण का आधार मानते हैं। हलाँकि अंततः ये आदर्श ब्राह्मणी आदर्श ही ठहरते हैं, क्योंकि अन्य प्रभु जातियाँ भी कर्मकांडों में ब्राह्मणी आदर्शों का ही पालन और अनुकरण करती हैं।

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को दूसरे तरीके से (अर्थशास्त्र की -'ट्रिकल डाऊन थियरी' की तर्ज पर) स्पष्ट करते हुए भी श्रीनिवास ब्राह्मणों की जीवन शैली के आदर्श की सर्वोच्चता को सामने रखते हैं- ''ऊँची जातियों की संपूर्ण जीवन-शैली इस पद-सोपान में धीरे-धीरे नीचे की तरफ रिसती रहती है। और... ब्राह्मणों की भाषा, खान-पान, वस्त्र-आभूषण और उनकी जीवन-शैली आखिरकार पूरे समाज में फैल जाती है।''[139]

श्रीनिवास के संस्कृतीकरण के सिद्धांत में ब्राह्मणों या तथाकथित प्रभुजातियों की संस्कृति के प्रति श्रेष्ठता का भाव साफ दिखाई पड़ता है। ब्राह्मणों की संस्कृति की श्रेष्ठता की प्रतिष्ठा में उपनिवेशवाद की निश्चय ही एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसलिए निकोलस डर्क्स द्वारा की गई 'संस्कृतीकरण' की आलोचना उचित ही है।

जातिवाद के अंत को लेकर भी श्रीनिवास के विचार बहुत उचित नहीं लगते। उनका मानना है कि औद्योगिकरण और आर्थिक विकास के साथ-साथ जातिवाद स्वतः समाप्त हो जाएगा। औद्योगिकरण पर उन्हें इतना भरोसा है कि अन्तर्जातीय विवाह और सहभोज जैसे प्रयासों को वे जातिवाद के अंत के लिए गैर ज़रूरी मानते हैं। वे लिखते हैं- ''मेरा विश्वास है कि केवल एक कारखाने की स्थापना से ही उस स्थान पर अन्तर्जातीय संबंधों में जितना सुधार होगा, उतना अन्तर्जातीय विवाह या भोज के प्रचार पर समान राशि खर्च करने से भी नहीं हो सकता।''[140] अन्तर्जातीय विवाह को लेकर श्रीनिवास का रुख बहुत कुछ गाँधी जी की तरह है। श्रीनिवास के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है- ''विवाह एक 'कठिन मसला' है और इस समय अन्तर्जातीय विवाहों

की ज़रूरत का बहुत ज्यादा प्रचार करने से ऊँची जाति वाले घबराकर सभी प्रकार के सुधारों के खिलाफ खड़े हो सकते हैं।''[141] श्रीनिवास ने 1960 के आसपास जातिवाद के अंत के लिए औद्योगिकरण में अपनी आस्था प्रकट की थी। लेकिन आज 50 वर्षों से ज्यादा समय गुज़र जाने और पर्याप्त औद्योगिकरण के बावजूद जातिवाद अपने जटिलतम रूप में बना हुआ है। 'औद्योगिकरण जातिवाद का अंत कर देगा'- इस सिद्धांत में अब कोई दम नहीं रह गया है। जातिवाद ने औद्योगिकरण की प्रक्रिया में एक नया स्वरूप धारण कर लिया है। आज जातिवाद टूटा नहीं है, बल्कि और ज्यादा जटिल रूप में प्रकट हो रहा है।

श्रीनिवास का जाति संबंधी अध्ययन मूलतः आधुनिक और स्वतंत्र भारत पर केन्द्रित है। स्वतंत्र भारत में जाति से जुड़ा एक महत्वपूर्ण मुद्दा है आरक्षण का। आरक्षण को लेकर भी श्रीनिवास का नज़रिया सकारात्मक नहीं है। श्रीनिवास का मानना है कि आरक्षण ने जातिवाद को और मजबूत किया है। अपने निबंध 'आधुनिक भारत में जाति' में वे लिखते हैं- ''आजादी के बाद आबादी के पिछड़े तबकों और खासकर अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए बनाए गए प्रावधानों ने भी जातिवाद को नवजीवन प्रदान किया है।''[142] श्रीनिवास की दृष्टि का एकांगीपन यहाँ साफ दिखाई पड़ता है। जातिगत विशेषाधिकारों को सदियों से भोगती आ रही उच्च जातियों द्वारा आबादी के एक बड़े और पिछड़े तबके का शोषण जातिवाद को मजबूती नहीं दे रहा था और इन्हीं पिछड़े तबकों के अपने सामाजिक अधिकारों को सुनिश्चित करने की कोशिश ने जातिवाद को नवजीवन प्रदान किया! श्रीनिवास की यह दृष्टि उच्च जातियों के हितों को सुरक्षित रखने वाली दृष्टि है। श्रीनिवास की इस दृष्टि को और बेहतर ढंग से देखा-समझा जा सकता है, यदि हम मद्रास प्रेसिडेन्सी में कोटा व्यवस्था लागू होने की घटना पर श्रीनिवास की टिप्पणी को देखें। वे लिखते हैं- ''जातियों के निश्चित अंश (कोटा) की व्यवस्था कायम हुई; इसके परिणामस्वरूप प्रायः बेहतर योग्यता वाले ब्राह्मणों की बजाय कम योग्यता वाले गैर-ब्राह्मणों को लिया जाने लगा।''[143] श्रीनिवास यहाँ तक लिखते हैं कि सरकारी नौकरियों में जातीय आरक्षण के कारण 'कार्यक्षमता और

ईमानदारी में कमी आई है' और 'ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की योग्यता नहीं फल-फूल सकती।'[144] अभी पिछले वर्षों में पिछड़ी जाति के लिए 27% आरक्षण के विरोध में दिए जाने वाले 'मेरिटोक्रेसी' के तर्क और श्रीनिवास के तर्क में अद्‌भुत साम्य है! निकोलस डर्क्स ने भी श्रीनिवास की इस समस्या को बिल्कुल ठीक रेखांकित किया है।[145]

कुल मिलाकर श्रीनिवास जाति के सवाल पर एक उच्चजातीय दृष्टि से विचार करते हैं। इस दृष्टि की अपनी सीमाएँ और समस्याएँ हैं। निश्चित तौर पर श्रीनिवास के जाति संबंधी विचार भी इन सीमाओं और समस्याओं से ग्रस्त हैं।

दीपंकर गुप्ता अपनी संपादित किताब 'सोशल स्ट्रैटिफिकेशन' में सामाजिक सोपानीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं। दीपंकर का मानना है कि 'सामाजिक सोपानीकरण का आशय केवल सामाजिक विभेदीकरण से नहीं बल्कि उस विभेदीकरण के सामाजिक प्रदर्शन से है।'[146] जाहिर है अपने अलग और विशिष्ट होने के प्रदर्शन के आधार पर ही एक समुदाय स्वयं को दूसरे समुदाय से सामाजिक रूप से श्रेष्ठ या अलग रूप में स्थापित करता है। दीपंकर जाति व्यवस्था को विभेदीकरण के इसी सामाजिक प्रदर्शन की प्रक्रिया के रूप में समझते हैं। दीपंकर लिखते हैं कि 'जाति व्यवस्था मूल रूप से 'प्राकृतिक श्रेष्ठता' के सिद्धांत पर आधारित मानी जाती है। इस 'प्राकृतिक श्रेष्ठता' का संबंध शारीरिक शुद्धता से है। लेकिन हम जानते हैं कि शारीरिक शुद्धता की मात्रा के आधार पर व्यक्तियों की भिन्नता को सुनिश्चित करने वाली कोई स्पष्ट कसौटी नहीं है। लिहाजा यह जरूरी है कि सामाजिक व्यवहार, व्यवसाय, जीवन पद्धति, रीति-रिवाज और टैबू आदि के प्रदर्शन के आधार पर जातियों की भिन्नता को प्रदर्शित किया जाए।'[147]

दीपंकर की उपर्युक्त बातों से समझा जा सकता है कि जाति व्यवस्था से मनुष्य की वास्तविक प्राकृतिक शुद्धि का कोई संबंध नहीं है, बल्कि विभिन्न जातियाँ अपनी जीवन-पद्धति, सामाजिक व्यवहार, आदि के आधार पर अपनी शुद्धता और श्रेष्ठता का दावा करती हैं। अपनी इसी स्पष्ट मान्यता के आधार पर दीपंकर ड्यूमा के प्रसिद्ध 'प्योरिटी एंड पॉल्यूशन' के सिद्धांत की

आलोचना करते हैं। ड्यूमा के सिद्धांत की आलोचना करते हुए दीपंकर लिखते हैं कि 'शुद्धि और अशुद्धि के सिद्धांत से मुक्त भिन्न-भिन्न विवाह-संस्कार, आभूषण, पोशाक और कई दूसरे कारक हैं जिनके माध्यम से विभिन्न जातियाँ अपनी श्रेष्ठता का ही प्रदर्शन नहीं करतीं बल्कि दूसरी जातियों से अपनी भिन्नता पर भी ज़ोर देती हैं।'[148]

दीपंकर जाति व्यवस्था को सामाजिक सोपानीकरण और विभेदीकरण की व्यवस्था मानते हैं। इस व्यवस्था में शोषक और शोषित जातियों का क्रम निर्धारित है। जाहिर है तथाकथित ऊँची जातियाँ नीची जातियों के संदर्भ में शोषक जाति की भूमिका निभाती हैं। जाति का नियम नीची जातियों को ऊँची जातियों की सेवा करने का निर्देश देता है। दीपंकर इस नियम को एक प्रकार की सत्ता की अभिव्यक्ति मानते हैं। वे लिखते हैं- 'जाति का नियम यह है कि निम्न जातियाँ ऊँची जातियों की सेवा करें। यह नियम असल में एक प्रकार की सत्ता की अभिव्यक्ति है, जिसे ब्राह्मणवाद छुपाने की कोशिश करता है।'[149]

ब्राह्मणवाद की विचारधारा अपने स्वार्थों और हितों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए जाति के ऐसे नियमों को दैवी बताकर और जाति व्यवस्था को आदर्श समाज व्यवस्था बताकर दरअसल एक किस्म की मिथ्या चेतना का प्रचार करती है और जाति व्यवस्था के वास्तविक शोषक रूप को छुपा लेती है!

दीपंकर श्रीनिवास के 'संस्कृतिकरण' के सिद्धांत की भी आलोचना करते हैं। दीपंकर का मानना है कि 'संस्कृतिकरण' का सिद्धांत जातियों के निर्धारित पेशे और उनके वास्तविक पेशे के बेमेलपन को अधूरेपन के साथ समझता है। निम्न जातियों द्वारा अपने जीवन को बेहतर बनाने के वैसे प्रयास जो पारंपरिक तौर पर उन जातियों से संबद्ध नहीं हैं, को 'संस्कृतिकरण' इस रूप में व्याख्यायित करती है मानो निम्न जातियाँ अपनी पारंपरिक पहचान से शर्मिंदा हैं और इसलिए वे तथाकथित ऊँची जातियों की आदतों और परंपराओं को अपना रही हैं। जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है। दीपंकर निम्न जातियों के इन प्रयासों को इस रूप में व्याख्यायित करते हैं-

"निम्न जातियाँ प्रदर्शन करती हुईं अपने उन जायज अधिकारों का दावा करती हैं, जिन्हें वे हमेशा से अपना अधिकार मानती रही हैं और इस तरह वे उस कैद से मुक्त होना चाहती हैं जो जातिवादी श्रेणीबद्धता के नियम ने उन पर थोप रखे हैं।"[150]

दीपंकर की यह व्याख्या बिल्कुल ठीक मालूम पड़ती है। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है- यदि निम्न जातियाँ मंदिर में प्रवेश करना चाहते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्राह्मणों द्वारा मंदिर में पूजा करने को वे अत्यंत श्रेष्ठ कार्य मानती हैं और उसे अपना कर ब्राह्मणों की तरह श्रेष्ठ बनना चाहती हैं, बल्कि मंदिर-प्रवेश के रूप में वे अपने मौलिक सामाजिक अधिकार का दावा करती हैं और जातिवाद के अमानवीय नियमों को चुनौती देती हैं।

दीपंकर इस बात को भी बिल्कुल ठीक-ठीक पहचानते हैं कि दूसरी जातियों से जुड़े पेशे को अपना लेने से भी जातिगत पहचान में कोई अंतर नहीं आता। उनका निष्कर्ष बहुत साफ है कि पेशा या व्यवसाय किसी जाति की अनिवार्य पहचान नहीं है। इसी संदर्भ में वे एक बात और कहते हैं कि 'जिन पवित्र ग्रंथों के आधार पर जातियों को विभिन्न पेशों के साथ जोड़ा जाता है, उन ग्रंथों में आज की बहुत-सी जातियों का उल्लेख नहीं मिलता।'[151] ऐसी हालत में जाति और व्यवसाय के संबंध को अनिवार्य मानना भारी भूल होगी।

दीपंकर वर्ग और जाति के अंतर को भी बहुत साफ-साफ सामने रखते हैं। वर्गीय पहचान एक परिवर्तनशील पहचान है जबकि जाति एक स्थायी पहचान। सामाजिक तौर पर वर्गीय पहचान बदल जाने पर भी जाति की पहचान में परिवर्तन संभव नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए दीपंकर लिखते हैं- 'पेशे में परिवर्तन से स्वतः जाति परिवर्तन संभव नहीं है। ब्राह्मण भूस्वामी होकर भी ब्राह्मण ही बने रहते हैं और पारंपरिक कृषक जातियाँ अन्य पेशा अपना कर भी वही बनी रहती हैं। आर्थिक रूप से उन्नत हो जाने के बावजूद जाटव जाटव ही बने रहे। अपने पारंपरिक पेशे से इनकार करने के बावजूद महार महार ही रहे।'[152]

आगे जाति से वर्ग की पहचान को अलगाते हुए दीपंकर कहते हैं कि 'जाति और वर्ग के बीच का अंतर यह है कि यदि एक कर्मचारी अकाउंटेंट बन जाए तो वह अपने पहले वाले वर्ग से निकलकर एक अन्य वर्ग का सदस्य बन जाता है, जबकि जाति की पहचान के साथ ऐसा संभव नहीं है।'[153]

इस तरह दीपंकर जाति के पेशागत आधार को तार्किक रूप से खंडित करते हैं तथा जाति व्यवस्था को ब्राह्मणवाद की विचारधारा द्वारा एक प्रकार की सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में व्याख्यायित करते हैं।

गेल ओमवेट जाति के सवाल को दलित नजरिए से देखने का प्रयास करती हैं। ब्रिटिश मूल की भारतीय लेखक गेल ओमवेट जाति के सवाल पर विचार करते हुए 19 वीं शताब्दी से लेकर अब तक के सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों का विश्लेषण-मूल्यांकन करती हैं और इस प्रसंग में दलित आंदोलन को भारतीय समाज के मुख्य लोकतांत्रिक आंदोलनों में से एक मानती हैं। गेल ने भारतीय समाज, मुख्यतः दक्षिण भारतीय समाज, के गहरे अध्ययन के आधार पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं, जिससे उनके निष्कर्ष प्रामाणिक मालूम पड़ते हैं।

जाति व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए गेल लिखती हैं- "जातियों को निर्मित करने वाला अंतर्वैवाहिक सिद्धांत और प्रचलन, शुद्धता तथा अशुद्धता के व्यवहार, नियम तथा संस्तरण को निर्धारित करने वाले व्यावसायिक कार्य, जो शोषण को भी निर्धारित करते हैं, वे नियम तथा प्रचलन हैं, जो जाति व्यवस्था को निर्मित करते हैं।"[154]

गेल जाति व्यवस्था में अंतर्निहित शोषण की प्रक्रिया को बारीकी से पकड़ती हैं तथा इसे जाति व्यवस्था को टिकाए रखने में ऊँची जातियों के स्वार्थ के रूप में रेखांकित करती हैं। गेल बिल्कुल ठीक लिखती हैं कि "जाति व्यवस्था उन गैर-उत्पादकों, जो ऊँची जाति के हैं, राज्य शक्ति के नियंत्रक हैं, को पूँजी संग्रहण तथा उपभोग की अनुमति देती है।"[155]

गेल ने अपने पूरे विश्लेषण में जाति व्यवस्था को हमेशा एक शोषणकारी व्यवस्था के रूप में देखा है। जाति के किसी भी स्वरूप में कोई अच्छाई गेल नहीं देखतीं। यह अकारण नहीं है कि गेल जाति-वर्ण को लेकर गाँधी के नजरिए से बिल्कुल सहमत नहीं हैं। इसके विपरीत फुले-अंबेडकर-पेरियार का दृष्टिकोण गेल को प्रभावित करता है, सही लगता है।

गेल की रुचि जाति व्यवस्था के विश्लेषण में कम है। जाति-मुक्ति के संघर्षों और आंदोलनों के विश्लेषण-मूल्यांकन की ओर उन्होंने ज्यादा ध्यान दिया है। उन्नीसवीं सदी के सामाजिक सुधारों की नियत पर भी गेल आपत्ति दर्ज करती हैं। राजनीतिक सुधारों का नेतृत्व उन्नीसवीं सदी में कांग्रेस के पास ही रहा। कांग्रेस पार्टी की भीतरी सामाजिक संरचना भी जातिवाद से मुक्त नहीं थी। उसमें ज्यादातर ऊँची जातियों के लोग थे। लिहाजा दलितों-पिछड़ों की समस्याओं की प्रायः अवहेलना की गई। गेल लिखती हैं- "कांग्रेस के सदस्य- वकील, शिक्षाशास्त्री, पत्रकार इत्यादि ऊँची जातियों के थे (बहुत बड़ी संख्या में ब्राह्मण) और उनका संबंध किसानी मध्यस्थ, जमींदार या महाजन के रूप में भूमि से था। कांग्रेस के वे शक्तिधारक अंत तक जमींदार विरोधी कानूनों का विरोध करते रहे।...इस प्रकार पूरी शताब्दी में दलित और गैर-ब्राह्मण किसानों की आवश्यकताओं की न केवल अवहेलना की गई बल्कि कांग्रेस राष्ट्रवादियों द्वारा उनकी उचित माँगों का विरोध भी किया गया।[156]

इसी तरह उन्नीसवीं सदी के सामाजिक सुधार आंदोलन भी जाति मुक्ति के सवाल से दूर ही रहे। जाति के सवाल को जिन लोगों ने उठाया भी उन्होंने इसे केवल अस्पृश्यता के मुद्दे तक सीमित रखा। यहाँ भी इरादा केवल दलितों को हिंदू धर्म के भीतर बनाए रखने भर का ही था। कुल मिलाकर ये सभी सामाजिक सुधार आंदोलन हिंदुत्व के फ्रेम में ही 'ऑपरेट' हो रहे थे। गेल ओमवेट ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि "सामाजिक सुधार के प्रयास आमतौर पर दलित और नीची जातियों के समर्थन के समझे जाते हैं, लेकिन यथार्थ यह है कि ये प्रयास ऊँची जातियों के प्रभुत्व को और अधिक ऊँचा करने और उसे आधुनिकता के आधार पर औचित्यता प्रदान करने के प्रयास थे।[157]

इस बात को आगे बढ़ाते हुए गेल उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में राष्ट्रवाद की अवधारणा और जातिवाद के संबंधों को भी सामने रखती हैं। उन्नीसवीं सदी में इस बात को सही सिद्ध करने का प्रयास पूरे जोर-शोर से किया गया कि भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपराएँ हिंदुत्व से जुड़ी हुई हैं। तमाम तरह के हिंदू धार्मिक प्रतीकों को गढ़ने का काम भी इस दौर में बड़े पैमाने पर किया गया। यह सब करने के पीछे की मंशा भारत को एक हिंदू राष्ट्र के रूप में पेश करने की रही और इस काम में प्रायः ऊँची जातियाँ ही शामिल रहीं। गेल ठीक ही लिखती हैं कि "सच बात यह है कि पूरी उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में ऊँची जाति के अभिजन राष्ट्र की रचना और उसके संबंध में कल्पना हिंदू राष्ट्र के रूप में करते रहे हैं।...उन्होंने यह पहले से ही स्वीकार कर लिया कि भारत की बहुसंख्यक जनसंख्या हिंदू है और भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपराएँ भी हिंदूवादी हैं।[158]

इन हिंदूवादी उच्चजातीय अभिजनों के विपरीत फुले-अंबेडकर-पेरियार की परंपरा को गेल ज्यादा महत्वपूर्ण मानती हैं जो हिंदुत्ववादी पूर्वग्रहों से न केवल मुक्त है, बल्कि उनका विरोधी है। वे लिखती हैं- "फुले/ अंबेडकर/ पेरियार की परंपराएँ उस प्रयास का प्रतिनिधित्व करती हैं जो गैर-उत्तर भारतीय नीची जातियों के परिप्रेक्ष में, व्यक्तियों की एक वैकल्पिक पहचान को बनाती हैं। वे न केवल प्रभुत्वशील हिंदुओं द्वारा शोषण की आलोचना कर रहे थे, साथ ही वे उनके द्वारा उनकी प्राचीनता तथा मुख्य भारतीय परंपराओं पर उनके दावे को भी चुनौती दे रहे थे।"[159]

जाति के सवाल को समझने और जाति मुक्ति के लिए संघर्ष करने के मामले में गेल ओमवेट मार्क्सवाद और मार्क्सवादियों की भी कड़ी आलोचना करती हैं। गेल बराबर और जोर देकर यह कहती हैं कि मार्क्सवादियों ने वर्ग और वर्ग-संघर्ष को ही अंतिम सच मान लिया, लिहाजा जाति और जाति-संघर्ष के बारे में विचार करना भी जरूरी और उचित नहीं समझा। मार्क्सवाद की सैद्धांतिक सीमा बताते हुए गेल लिखती हैं- "इस सिद्धांत का सबसे बड़ा दोष यही था कि वर्ग और वर्ग संघर्ष को इतना प्रधान मान लिया गया कि अन्य समाजशास्त्रीय प्रसंग इसके सामने गौण हो गए। यथार्थ में वर्ग शब्द क्रिया के विश्लेषण तथा निर्देशन में इतना प्रभावशाली हो गया कि

मार्क्सवाद तथा समाजवाद के प्रस्तावकों के लिए परिवार, नातेदारी, राज्य, जेंडर और भारत में जाति आदि न केवल अप्रासंगिक हो गए अपितु व्यवहारतः गैर-अस्तित्व में आ गए।"[160]

गेल द्वारा मार्क्सवाद की यह आलोचना बहुत हद तक जायज है। भारतीय सामाजिक संरचना के संबंध में जाति पर विचार किए बिना कोई सिद्धांत व्यावहारिक रूप से टिक नहीं सकता। जिस 'वर्ग' की बात मार्क्सवाद करता है उस 'वर्ग' का भी ठोस जातिगत आधार भारतीय समाज में मौजूद है। वर्ग और जाति के संबंधों को समझे बिना भारत में कोई समाजवादी क्रांति संभव नहीं है। भारतीय वामपंथियों ने यही गलती की। गेल सही लिखती हैं कि "साम्यवादियों तथा अन्य वामपंथियों ने दलित मुद्दों पर अपने स्वयं के मोर्चे खोलने की आवश्यकता नहीं समझी। किसी दलित संगठन के साथ जुड़ने की भी आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी।"[161]

वर्ग और वर्ग संघर्ष को लेकर मार्क्सवादियों की जिद और अन्य सामाजिक सच्चाईयों से मुँह मोड़ लेने की प्रवृत्ति ने वामपंथ का भी नुकसान किया। जाति को अपने विश्लेषण के दायरे में शामिल करके वामपंथ भारत में सामाजिक क्रांति का नेतृत्व कर सकता था, जो यह नहीं कर सका। गेल भारतीय मार्क्सवादियों की इस सीमा को रेखांकित करती हैं- "शोषण तथा मुक्ति के एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य में, वर्ग श्रेणियों ने भारतीय मार्क्सवादियों को विश्लेषण के लिए एक श्रेष्ठ साधन प्राप्त करा दिया था। लेकिन उस परिवेश में उन्हें अन्य कारकों से भी बंधना था। इसके बजाय कि नीची जातियों, किसानों तथा मजदूरों के बहुपक्षीय संघर्षों से प्रेरणा लेते, उन्होंने इन विवादों और संघर्षों को संकुचित मान लिया था तथा मात्र वर्ग परिप्रेक्ष्य में उसे देखने का प्रयास किया था।... व्यवहारतः साम्यवादियों ने मार्क्सवाद को एक बंद सिद्धांत के रूप में देखा, विकासशील विज्ञान के रूप में नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि अंबेडकर जैसे नेता के साथ उनका कोई संवाद स्थापित नहीं हो सका।"[162]

गेल की आपत्ति उचित है। बाद में मार्क्सवादियों ने भी इस बात को समझा और जाति को अपने एजेंडे में शामिल किया।

गेल ने भूमि स्वामित्व और जाति के संबंध का भी दिलचस्प अध्ययन प्रस्तुत किया है। गेल का यह अध्ययन वर्ग और जाति के संबंध को समझने के लिहाज से भी महत्वपूर्ण है। 1911 और 1921 की जनगणना के आधार पर महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक राज्यों में विभिन्न जातियों की स्थितियों के अध्ययन के उपरांत गेल ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, वे स्वातंत्र्योत्तर भारत तथा उत्तर भारतीय समाज में जातियों की स्थितियों से बहुत अलग नहीं हैं। आँकड़ों के आधार पर गेल अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करती हैं- "सभी जनगणनाएँ कृषि भूमि स्वामित्व के संबंध में सामान्यतः तीन प्रकार की श्रेणियाँ दर्शाती हैं। भूमिपति (जिनकी आय या तो स्वयं की खेती से या भूमि के लगान से होती है), कृषक तथा भूमिहीन श्रमिक।"[163]

गेल ने आँकड़ों की जो सारणी प्रस्तुत की है[164], उसके आधार पर यह बात साफ तौर पर काही जा सकती है कि अधिकांश मामलों में भूमिपति जाति ब्राह्मण तथा ऊँची जातियाँ हैं, कृषक जातियाँ मध्यवर्गी खेतिहर जातियाँ (पिछड़ी जातियाँ) हैं और भूमिहीन श्रमिक हैं- दलित जातियाँ। ओमवेट साफ तौर पर लिखती भी हैं- "तथ्य इस बात का संकेत देते हैं कि दलित जातियाँ कृषि श्रमिक थीं।"[165]

ओमवेट भूमि और जाति के संबंध को 'जेंडर' के सवाल के साथ भी उठाती हैं। ओमवेट का अध्ययन विभिन्न जातियों के भीतर की पितृसत्तात्मकता और सामंतवाद को भी सामने लाता है। विभिन्न जातियों में स्त्री श्रमिकों की संख्या के आँकड़ों के आधार पर गेल अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करती हैं- "तथ्य यह कहते हैं कि सभी क्षेत्रों में ब्राह्मणों की स्त्रियाँ कम काम करती थीं। कृषक जातियों में इनकी संख्या काफी अधिक थी। इनमें से सबसे बड़ी संख्या दलितों की है।"[166] ओमवेट के समाजशास्त्रीय निष्कर्ष हमारे सामाजिक अनुभवों से मेल खाते हैं!

आजाद हिंदुस्तान में अंबेडकर के प्रयासों के फलस्वरूप दलितों के लिए आरक्षण की व्यवस्था हो सकी। आरक्षण का मूल उद्देश्य दलितों को देश की मुख्यधारा में लाना था ताकि सामाजिक पाबंदियों के कारण भारतीय समाज का जो हिस्सा हाशिए पर पड़ा रहा, वह सरकारी नौकरियों में आ सके और ऊँची जातियों का वर्चस्व टूट सके। लेकिन तमाम जोड़-तोड़ और तिकड़मों के आधार

पर ऊँची जातियाँ अपना वर्चस्व आज भी बरकरार रखी हुई हैं। गेल ओमवेट इस तथ्य को भी सामने रखती हैं- "आरक्षण के कारण दलित सरकारी नौकरियों में आगे बढ़े। इससे एक मध्यम वर्ग उभरा तथा इसी कारण वे अपने आप को आगे बढ़ा सकने में समर्थ भी हुए। आम जनों के लिए यह नए स्रोतों तथा आशाओं का सूचक था, लेकिन ऊँची जातियों के वर्चस्व को वे हिला नहीं सके। 1979-80 में मंडल आयोग की रिपोर्ट के आते यह साफ था कि 20 प्रतिशत ऊँची जातियों ने 70 प्रतिशत नौकरियों पर कब्जा कर रखा था और नौकरशाही के वर्ग I में उनका 90 प्रतिशत स्थानों पर कब्जा था।"[167]

भारतीय समाज में मौजूद जाति व्यवस्था का गेल का अध्ययन गहरा एवं व्यापक है। उनके निष्कर्ष सुचिंतित, तार्किक एवं तथ्य आधारित हैं। गेल का कहना बिल्कुल ठीक है कि 'स्वतंत्र भारत का राजनीतिक इतिहास बहुत कुछ अर्थों में जाति के संदर्भ से ही पढ़ा जा सकता है।'[168]

सुरिंदर एस. जोधका जाति के सवाल को समकालीन संदर्भों में देखने-समझने की कोशिश करते हैं। आजादी के तकरीबन 60-65 सालों बाद भारतीय लोकतंत्र में दलित-पिछड़ी जातियों की स्थितियों का विश्लेषण करते हुए जोधका पाते हैं कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया और स्वतंत्र भारत में राज्य की नीतियों के फलस्वरूप दलित-पिछड़ी जातियों की सामाजिक स्थिति में काफी परिवर्तन आया है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया में दलित-पिछड़ी जातियों की राजनीतिक भागीदारी ने दलितों-पिछड़ों को हाशिए से उठाकर मुख्यधारा में शामिल किया। इस प्रक्रिया ने भारतीय राजनीति की तस्वीर बदल कर रख दी। दलितों-पिछड़ों की स्थिति में परिवर्तन के लिए जोधका उनके राजनीतिक और भौतिक संघर्षों और बदलती आर्थिक स्थिति को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। इसी बिंदु पर वे श्रीनिवास के 'संस्कृतिकरण' के सिद्धांत की सीमा भी स्पष्ट करते हैं। जोधका उचित ही लिखते हैं कि 'संस्कृतिकरण एक मात्र माध्यम नहीं था, जिसके जरिए सामाजिक क्रम के विभिन्न समूहों ने जाति क्रम में अपनी स्थिति को बदला होगा। राजनीतिक एवं भौतिक संघर्षों ने भी अपनी भूमिका निभाई होगी। इसी

प्रकार बदलते आर्थिक एवं जनसंख्या संबंधी यथार्थ ने भी जाति के सामाजिक अनुक्रम को प्रभावित किया होगा।'[169]

भारतीय लोकतंत्र ने दलितों-पिछड़ों को बहुत सारे अवसर उपलब्ध कराए, लेकिन इससे उनकी स्थिति पूरी तरह बदल गई हो- ऐसा नहीं है। जोधका इस बात को एक तथ्य के साथ सामने रखते हैं कि 'एक तरफ जाति कमजोर हुई है, छुआछूत के पुराने ढर्रे पीछे छूट रहे हैं, लेकिन दूसरी तरफ प्रभुत्वशाली जातियों द्वारा दलितों पर अत्याचार बढ़े हैं।'[170]

जोधका इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "यह सही है कि अब स्थानीय प्रभुत्वशाली जातियों के लिए पारंपरिक तौर पर हाशिए पर रहीं जातियों की राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी को रोक पाना संभव नहीं है, लेकिन इसका मतलब सामाजिक गैर-बराबरी और जाति का अंत नहीं है। दलित होना और पिछड़ा होना आज भी सामाजिक रूप से एक प्रतिकूल स्थिति ही है और सामाजिक बहिष्कार का सबब है। जाति-हिंसा का एकतरफा होना, जिसमें आज भी दलित ही हिंसा के शिकार होते हैं, जातिगत असमानता की निरंतरता के बारे में बहुत कुछ बयां करता है।"[171]

सत्ता के साथ ऊँची जातियों का गठजोड़ परंपरा से चला आ रहा है। संपत्ति पर उनका एकाधिकार आज भी कमोबेश बना हुआ है। ऐसे में दलितों द्वारा सत्ता में हिस्सेदारी और संपत्ति पर भी अपनी दावेदारी पेश करना जातीय हिंसा के प्रमुख कारणों में से एक है। जोधका इस बात को भी पंजाब के ग्रामीण इलाकों में हुई जाति-हिंसा के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।[172]

जोधका अपने अध्ययन के आधार पर कई उदाहरणों से इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि जाति और जातिवादी शोषण का अस्तित्व आज भी भारतीय समाज में भीतर तक मौजूद है। लोकतंत्र ने जातिवादी शोषण के स्वरूप को थोड़ा बदला जरूर है, लेकिन जाति-मुक्ति का संघर्ष अभी बाकी है। पूँजीवाद का प्रसार भी जाति की पहचान को मिटाने में नाकामयाब रहा है। जातिवादी संबंधों की कठोरता और पारंपरिक रूढ़िवादी मानसिकता के कारण दलितों की स्थिति

में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं आ सका है। जोधका ठीक लिखते हैं कि 'आर्थिक क्षेत्रों में पूँजीवादी संबंधों के प्रभावशाली होने के बावजूद जाति ने वर्गीय पहचान को अनिवार्यतः उभरने नहीं दिया है। जातिवादी पूर्वग्रह और जाति आधारित सामाजिक बहिष्कार आज के भारत में शहरी जीवन का भी यथार्थ है।'[173]

गेल ओमवेट की ही तरह जोधका भी जाति और भूमि स्वामित्व के संबंध की पड़ताल करते हैं। बिल्कुल हाल के (2009 के) आँकड़ों के आधार पर उनका निष्कर्ष है कि 'भारत में लगभग 75 फीसदी दलित आबादी भूमिहीन या लगभग भूमिहीन है। भारत के कुछ राज्यों में तो यह प्रतिशत 90 प्रतिशत से भी अधिक है।'[174] आजादी के 60 सालों बाद भारतीय समाज में दलितों की भूमिहीनता की यह स्थिति जाति व्यवस्था की वर्तमानता की गवाह है।

जोधका शिक्षा जगत में व्याप्त जातिवाद के आधार पर भी आज के भारत में जाति की उपस्थिति को स्पष्ट करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में दलित बच्चों के साथ आज भी जातिवादी व्यवहार लगातार जारी है। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में दलित बच्चों के 'ड्राप आउट' के आँकड़ों के आधार पर जोधका लिखते हैं कि 'दलित बच्चों के पढ़ाई छोड़ देने का यह उच्च दर केवल आर्थिक मजबूरियों का नतीजा नहीं है, बल्कि दलित बच्चों के साथ जो जातिगत भेदभाव स्कूलों में बरता जाता है, उससे भी दलित बच्चे अलगाव का शिकार होते हैं और पढ़ाई छोड़ने पर मजबूर हो जाते हैं। भारत के कई हिस्सों में आज भी स्कूलों में दलित बच्चों के लिए पीने के पानी के अलग घड़े रखे जाते हैं।'[175]

इसके अलावा दलित बच्चों को जाति के आधार पर अन्य कई तरह से प्रताड़ित करना, उनमें हीनता बोध भरना आज भी भारतीय शिक्षा जगत में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उच्च शिक्षा में भी ऐसी स्थितियों की चर्चा लगातार होती रहती है।

दलित जातियों की सामाजिक हैसियत में जो थोड़ा बहुत परिवर्तन आया है, उसमें आरक्षण की भूमिका को जोधका अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं। वे दलितों को मिलने वाले आरक्षण को दुनिया

भर के 'अफर्मेटिव ऐक्शन' की योजनाओं में सबसे अधिक सफल मानते हैं। उनका मानना है कि योग्य दलित अभ्यर्थियों को नौकरी देने के अलावा आरक्षण में दलित समुदाय के भीतर से नए नेतृत्व तथा अभिजात वर्ग के उदय को भी प्रोत्साहित किया जो आज अपनी सामाजिक और राजनीतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं।[176]

गैर सरकारी कॉरपोरेट सेक्टर की नौकरियों में भी जातिवाद की मौजूदगी को जोधका तथ्यों के आधार पर सिद्ध करते हैं। भारत में तथा दुनिया के अन्य हिस्सों में भी निजी उद्योगों का स्वामित्व ऐतिहासिक रूप से कुछ एक सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों के हाथों में केंद्रित है। यह विशेष सामाजिक सांस्कृतिक समूह अपनी रुचि और पूर्वग्रहों के आधार पर ही अपने कर्मचारियों का चयन करते हैं। भारत की तमाम बड़ी कंपनियां प्रायः ऊँची जातियों के स्वामित्व में हैं। लिहाजा वहाँ भी मेरिट का भ्रम बनाए रखते हुए खुले तौर पर जातिवाद 'ऑपरेट' हो रहा है। जोधका दिल्ली में किए एक सर्वे के आधार पर यह पाते हैं कि प्राइवेट सेक्टर में नौकरी देने के लिए जो प्रक्रिया अपनाई जाती है, वह प्रायः ऐसी होती है, जिसमें कंपनी अपने लोगों को ही चुनती है। यदि खुले साक्षात्कार के आधार पर चयन होना है तो प्रत्येक अभ्यर्थी से उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि के संबंध में सवाल अनिवार्य रूप से किए जाते हैं। जोधका बिल्कुल ठीक कहते हैं कि इस सवाल के आधार पर कंपनी असल में अभ्यर्थी की सांस्कृतिक पूँजी (कल्चरल कैपिटल) की जाँच करती है जिसमें एक बड़ी भूमिका अभ्यर्थी की जाति की होती है।[177] जाहिर है जाति के जंजाल से मुक्ति यहाँ भी नहीं है।

जोधका इसी तरह अलग-अलग क्षेत्रों में जातिवाद की उपस्थिति की पड़ताल करते हुए समकालीन संदर्भों में जाति के सवाल को समझने का प्रयास करते हैं।

संदर्भ

---

[1] पुरुषसूक्त भाष्यसङ्गहः, संपा. एवं हिन्दी भाष्यकार- डॉ. शिवशंकर अवस्थी, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1994 पृष्ठ- 94

[2] वही, पृष्ठ- 94

[3] वही, पृष्ठ- 97

[4] वही, पृष्ठ- 97

[5] वही, पृष्ठ- 100

[6] वही, मंत्र – 12, पृष्ठ- 97

[7] मनुस्मृति, संपादक, अनुवादक तथा व्याख्या-शिवराज आचार्य कौण्डिन्न्यायन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2008 पृष्ठ- 75

[8] वही, पृष्ठ- 75

[9] वही, पृष्ठ- 86

[10] वही, पृष्ठ- 86

[11] वही, प्रथम अध्याय, श्लोक सं. 88, 89, 90, 91

[12] वही, श्लोक - 92, पृष्ठ- 87

[13] वही, अध्याय- 10, मनु., पृष्ठ- 503

[14] वही, पृष्ठ- 503

[15] वही, अध्याय- 10, पृष्ठ- 497

[16] वही, पृष्ठ- 497

[17] वही, अध्याय- 10, पृष्ठ- 502

[18] वही, पृष्ठ- 502

[19] वही, अध्याय- 10, पृष्ठ- 502

[20] वही, पृष्ठ- 502

[21] कौटिलीय अर्थशास्त्रम, संपादन तथा व्याख्या- वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2011, प्रकरण-1, अध्याय-2, पृष्ठ- 10

[22] वही, पृष्ठ- 10

[23] रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ- 247

[24] कौटिलीय अर्थशास्त्रम, पृष्ठ- 11

[25] वही, पृष्ठ- 11

[26] वही, पृष्ठ- 11

[27] वही, पृष्ठ- 11

[28] रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृष्ठ- 248

[29] कौटिलीय अर्थशास्त्रम, प्रकरण-63, अध्याय-7, पृष्ठ- 284

[30] वही, पृष्ठ- 284

[31] रवि श्रीवास्तव, 'सामंतवाद, वर्णव्यवस्था और धर्मशास्त्र', पक्षधर पत्रिका, संपादक-विनोद तिवारी, वर्ष-4, अंक-9, दिल्ली, पृष्ठ- 80 पर उद्धृत

[32] वही, पृष्ठ- 80

[33] रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भैतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ- 204

[34] रामविलास शर्मा, 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृष्ठ- 235

[35] श्रीविष्णुपुराण, अनुवाद-श्रीमुनिलाल गुप्त, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2069, चतुर्थ अंश, 24वाँ अध्याय, श्लोक-70 से 97, पृष्ठ- 306-07

[36] वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथमोऽध्यायः, श्लोक - 6, पृष्ठ- 7

[37] वही, पृष्ठ- 7

[38] रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृष्ठ- 204

[39] महात्मा जोतिबाफुले रचनावली- 1, संपा.- एल.जी. मेश्राम 'विमलकीर्ति', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृष्ठ- 13

[40] वही, पृष्ठ- 31-32

[41] वही, पृष्ठ-135

[42] वही, पृष्ठ-135-36

[43] वही, पृष्ठ- 146

[44] वही, पृष्ठ-150

[45] वही, पृष्ठ- 45

[46] वही, पृष्ठ- 241

[47] देखें, वही, पृष्ठ- 242-250

[48] देखें, वही, पृष्ठ- 275-76

[49] डा. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-16, डा. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृष्ठ- 282 पर उद्धृत

[50] वही, पृष्ठ- 283 पर उद्धृत

[51] वही, पृष्ठ- 284 पर उद्धृत

[52] वही, पृष्ठ- 284 पर उद्धृत

[53] वही, पृष्ठ- 284 पर उद्धृत

[54] वही, पृष्ठ- 284 पर उद्धृत

[55] वही, पृष्ठ- 284 पर उद्धृत

[56] वही, पृष्ठ- 285 पर उद्धृत

[57] वही, पृष्ठ- 284 पर उद्धृत

[58] वही, पृष्ठ- 285 पर उद्धृत

[59] वही, पृष्ठ- 285 पर उद्धृत

[60] श्रीभगवान सिंह, गाँधी और दलित भारत-जागरण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2010, पृष्ठ- 49

[61] वही, पृष्ठ- 50

[62] वही, पृष्ठ- 72

[63] वही, पृष्ठ- 72 पर उद्धृत

[64] वही, पृष्ठ- 107

[65] डा. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-1, डा. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृष्ठ- 108 पर उद्धृत

[66] देखें- M.K. Gandhi, My Religion, Compiled & Edited by- Bharatan Kumarappa, Pg.-171; WebAddress : www.mkgandhi.org

गाँधी जी कहते हैं- "Varna thus conceived is no man-made institution but the law of life universally governing the human family. Fulfillment of the law would make life livable, would spread peace and content, end all clashes and conflicts, put an end to starvation and pauperization, solve the problem of population and even end disease and suffering." Harijan, 28-9-' 34, p.-261-62

[67] डा. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृष्ठ- 108 पर उद्धृत

[68] श्रीभगवान सिंह, गाँधी और दलित भारत-जागरण, पृष्ठ- 49 पर उद्धृत

[69] वही, पृष्ठ- 50 पर उद्धृत

[70] देखें, M.K. Gandhi, Hindu Dharm, Orient Paperbacks, New Delhi, 2005, Pg.-108.

गाँधी जी कहते हैं- "…you know the esteem in which I Hold Malviyaji. I would wash his feet. But he would not take food touched by me. Am I to repent it as a mark of contempt? Certainly not, because I know that no contempt is meant.''

[71] देखें, वही, पृष्ठ- 46

गाँधी जी कहते हैं- "Not to have water or food or enter into matrimonial alliance anywhere and everywhere, I reagard as civilized behavior. This ensures preservation of health and purity."

[72] श्रीभगवान सिंह, गाँधी और दलित भारत-जागरण, पृष्ठ- 86

[73] वही, पृष्ठ- 86

[74] देखें, वही, पृष्ठ- 107

[75] वही, पृष्ठ- 107

[76] डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृष्ठ- -21

[77] वही, पृष्ठ- 31

[78] वही, पृष्ठ- 28

[79] वही, पृष्ठ- 33

[80] वही, पृष्ठ- 31

[81] वही, पृष्ठ- 66-67

[82] वही, पृष्ठ- 81

[83] वही, पृष्ठ- 81

[84] वही, पृष्ठ- 84

[85] वही, पृष्ठ- 86

[86] वही, पृष्ठ- 75

[87] वही, पृष्ठ- 91

[88] वही, पृष्ठ- 92

[89] लोहिया रचनावली (खंड-2), मस्तराम कपूर (संपा), अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृष्ठ- 171

[90] वही, पृष्ठ- 126

[91] वही, पृष्ठ- 125

[92] वही, पृष्ठ- 126

[93] वही, पृष्ठ- 38

[94] वही, पृष्ठ- 198

[95] वही, पृष्ठ- 199

[96] वही, पृष्ठ- 199

[97] वही, पृष्ठ- 247

[98] वही, पृष्ठ- 277

[99] वही, पृष्ठ- 40

[100] वही, पृष्ठ- 38

[101] वही, पृष्ठ- 45

[102] वही, पृष्ठ- 118

[103] वही, पृष्ठ- 129

[104] वही, पृष्ठ- 180

[105] वही, पृष्ठ- 194

[106] वही, पृष्ठ- 277

[107] वही, पृष्ठ- 233

[108] वही, पृष्ठ- 277

[109] वही, पृष्ठ- 282

[110] वही, पृष्ठ- 107

[111] वही, पृष्ठ- 107

[112] वही, पृष्ठ- 119

[113] वही, पृष्ठ- 110

[114] वही, पृष्ठ- 116

[115] वही, पृष्ठ- 117

[116] वही, पृष्ठ- 278

[117] वही, पृष्ठ- 203

[118] वही, पृष्ठ- 102

[119] वही, पृष्ठ- 201

[120] वही, पृष्ठ- 279

[121] वही, पृष्ठ- 102

[122] वही, पृष्ठ- 184

[123] वही, पृष्ठ- 197

[124] वही, पृष्ठ- 225

[125] वही, पृष्ठ- 281

[126] वही, पृष्ठ- 90

[127] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में जाति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृष्ठ-102

[128] वही, पृष्ठ-102

[129] वही, पृष्ठ- 74

[130] वही, पृष्ठ- 74

[131] वही, पृष्ठ--73

(अन्यत्र भी श्रीनिवास इसी तरह की बात कहते हैं। देखें, वही, पृष्ठ- 75 तथा आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्त्तन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967, पृष्ठ- 69 और पृष्ठ-18 से 20)

[132] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्त्तन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967, पृष्ठ-19

[133] वही, पृष्ठ- 20

[134] वही, पृष्ठ- 21

[135] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में जाति, पृष्ठ- 49

[136] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्त्तन, पृष्ठ- 37

[137] निकोलस बी. डर्क्स, कास्ट्स ऑफ माइंड, परमानेन्ट ब्लैक, दिल्ली, 2010, पृष्ठ- 252

डर्क्स लिखते हैं: "The significance of a single "universal" Brahmanical scale for upward mobility was clearly the result of the new colonial sociology of knowledge, not an expression of a fundamental principle in Indian civilization."

[138] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्त्तन, पृष्ठ- 22

[139] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में जाति, पृष्ठ- 52

[140] वही, पृष्ठ- 84

[141] वही, पृष्ठ- 84

[142] वही, पृष्ठ- 23

[143] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्त्तन, पृष्ठ- 100

[144] एम.एन. श्रीनिवास, आधुनिक भारत में जाति, पृष्ठ- 96-97

[145] निकोलस बी. डर्क्स, कास्ट्स ऑफ माइंड, पृष्ठ- 252

डर्क्स लिखते हैं: "... Srinivas had serious difficulties appreciating the rise of backward casfe agitations in more receat days.... Srinivas's progressive and historically texured View of social mobility appeared, even by his own admission, to favour a Brahmanical view of India, as well as to register concern about the effects on Brahmans of social legislation (and to agree with the widely held view that reservations for non Brahmans naturally increased the level of administrative inefficiency)."

[146] दीपंकर गुप्ता (संपा.), सोशल स्ट्रैटिफिकेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ- 2 (अनुवाद मेरा)

दीपंकर लिखते हैं- "... when we talk of social stratification we not only mean differentiation but differentiation that is made socially visible."

[147] वही, पृष्ठ- 2-3 (अनुवाद मेरा)

दीपंकर लिखते हैं- "The principal criterion on which the caste system is based is the principal of natural superiority. Natural superiority in this case is not physical prowess or intelligence, though these often work their way in, but the endowment of bodily purity. It is a known fact that there is no unambiguous physical criterion by which individuals can be differentiated on the basis of the extent of purity of their bodies. This is why it is essential that social practices, occupations, life styles, rituals and taboos demonstratively differentiate one caste from another for all to see."

[148] वही, पृष्ठ- 127 (अनुवाद मेरा)

दीपंकर लिखते हैं- "Differences in marriage rites, jewellery, dress and other such factors also neutral to purity or pollution are adhered to rigidly by different castes, not always to show their superiority, but to emphasize their differences."

[149] वही, पृष्ठ- 118 (अनुवाद मेरा)

दीपंकर लिखते हैं- "The caste rule in this sense, which holds that the subaltern castes must serve the privileged ones, is an expression of power and Brahmin ideology attempts to cloak it."

[150] वही, पृष्ठ- 132 (अनुवाद मेरा)

दीपंकर लिखते हैं- "They only seek to be relieved from the duress they were placed under in the prevailing hierarchical rule, by asserting demonstratively what they have always believed to be their rightful status."

[151] देखें, वही, पृष्ठ- 131

[152] वही, पृष्ठ- 136 (अनुवाद मेरा)

दीपंकर लिखते हैं- "… a change of occupation does not automatically entail a change of caste. The proud landowning Brahmans remain Brahmans, nor do the traditional agrarian castes like Dhanuks and Dusadhs cease to become so when they change their occupation. The Jatavs remained as Jatavs though they moved upwards economically. The Mahars remained Mahars even after many of them refused to do their traditional occupation."

[153] देखें, वही, पृष्ठ- 136

[154] गेल ओमवेट, दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति, सेज पब्लिकेशन, दिल्ली, 2009, पृष्ठ- 22

[155] वही, पृष्ठ-52

[156] वही, पृष्ठ- 84-85

[157] वही, पृष्ठ- 85

[158] वही, पृष्ठ-236-237

[159] वही, पृष्ठ-237

[160] वही, पृष्ठ-17

[161] वही, पृष्ठ-173

[162] वही, पृष्ठ-176

[163] वही, पृष्ठ- 69

[164] देखें, वही, पृष्ठ- 72-73

[165] वही, पृष्ठ- 69

[166] वही, पृष्ठ- 74

[167] वही, पृष्ठ-322

[168] वही, पृष्ठ-326

[169] देखें, सुरिन्दर एस. जोधका, ऑक्सफोर्ड इंडिया शार्ट इंट्रोडक्शन्स: कास्ट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ- 107-108 (अनुवाद मेरा)

जोधका लिखते हैं: "Sanskritization was not the only mode through which groups in the social order would have changed their position in the caste hierarchy.

Political and material struggles would have also played their role. Similarly, changing economic and demographic realities would have also influenced the social order of caste."

[170] देखें, वही, पृष्ठ- 158

जोधका लिखते हैं: "…while ideologically caste has considerably weakened and older forms of untouchability are receding, atrocities committed on Dalits by the local dominant castes have increased…"

[171] वही, पृष्ठ- 159 (अनुवाद मेरा)

जोधका लिखते हैं: "While it has become quite difficult for locally dominant groups to prohibit the traditionally marginalized caste communities from participating in the political process, this has not meant an end of social inequalities or caste and rank. Being a Dalit, or in some cases OBC, continues to be a marker of disadvantage and social exclusion. The fact that caste violence is almost always a one–way process where Dalits end up at the receiving end also says enough about the continued inequalities of caste groups."

[172] देखें, वही, पृष्ठ- 156-157

जोधका लिखते हैं: "In the emerging scenario, local Dalits had begun to assert for equal rights and a share from the resources that belonged commonly to the village, and had so far been under the exclusive control of the locally dominant caste groups or individual households. This new found sense of entitlement and assertion amonf Dalit communities was directly responsible for the frequent caste-related conflicts and violence being reported from rural Punjab."

[173] वही, पृष्ठ- 159 (अनुवाद मेरा)

जोधका लिखते हैं: “Even where capitalist relations have become dominant in the economic sphere, caste has not necessarily given way to class-like identities. Caste prejudice and caste-based social exclusion continues to be a fact of urban life in contemporary India as well.”

[174] देखें, वही, पृष्ठ- 160-161

[175] वही, पृष्ठ- 133 (अनुवाद मेरा)

जोधका लिखते हैं: “This high dropout rate among SC children is not merely because of economic compulsions. In some instances, caste discrimination is also responsible for the feeling of alienation that Dalit children experience in school. There are instances where separate pots for drinking water are still kept in schools for Dalit children in some parts of India.”

[176] देखें, वही, पृष्ठ- 134

जोधका लिखते हैं: “…it has been one of the most successful programmes of affirmative action in the world today. Apart from giving employment to eligible Dalit candidates, the job quotas also helped produce a new leadership, an elite, from within the SC communities. These new community elite in turn are playing a very critical role in articulating their aspirations in the social and political domain”

[177] देखें, वही, पृष्ठ- 166

द्वितीय अध्याय

स्वतंत्रता-पूर्व हिन्दी उपन्यास और जाति का प्रश्न

(क) जाति का सामाजिक यथार्थ और जातिवादी शोषण
(ख) चरित्र-चित्रण: व्यक्तिगत पहचान बनाम जातिगत पहचान
(ग) जाति की समस्या: जिसके आगे राह नहीं

जाति का सामाजिक यथार्थ और जातिवादी शोषण

आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास नवजागरण के समानांतर हुआ। यह अकारण नहीं है कि आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रारंभिक लगभग सौ वर्षों के कालखंड को नवजागरण काल भी कहा जाता है। भारतीय नवजागरण का सीधा संबंध भारत राष्ट्र की विदेशी पराधीनता से मुक्ति से था। लेकिन इस विदेशी पराधीनता के साथ-साथ और भी बहुत से मोर्चे थे, जहाँ भारतीय समाज मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा था। व्यापक तौर पर यह सभी मोर्चे भारत की वास्तविक मुक्ति के ही मोर्चे थे। भारतीय नवजागरण के अध्ययन से यह बात साफ तौर पर समझी जा सकती है कि उस दौर में मुक्ति और स्वराज्य की एक व्यापक संकल्पना मौजूद थी, जिसमें राजनीतिक मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक मुक्ति का प्रश्न भी समान रूप से महत्वपूर्ण था। सामाजिक मुक्ति के इन्हीं प्रश्नों में से एक था- जाति का प्रश्न। चूँकि भारतीय समाज की संरचना की बुनियाद इस जाति प्रथा पर टिकी है, इसलिए भारतीय समाज की मुक्ति की कोई भी संकल्पना इस प्रश्न को अनदेखा नहीं कर सकती। इस प्रश्न से मुखामुखम अनिवार्य है। कहना न होगा कि आधुनिक हिंदी साहित्य जब नवजागरण में अपनी भूमिका अदा कर रहा था, तब हिंदी के बहुत सारे साहित्यकार जाति-प्रश्न से मुखामुखम की अनिवार्यता को भी समझ रहे थे। इसी परिप्रेक्ष में आधुनिक हिंदी साहित्य में जाति के सवाल पर विचार किया जा सकता है, बल्कि किया जाना चाहिए।

जहाँ तक हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों का सवाल है वहाँ जातिप्रथा को लेकर कोई विशेष चिंता दिखाई नहीं पड़ती। प्रारंभिक उपन्यासों के अधिकांश पात्र तथाकथित ऊँची जातियों के पात्र हैं। इन उपन्यासों में आए प्रेम के प्रसंगों को भी ध्यान से देखें तो प्रायः यह जाति-वर्ण की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता। पात्रों का प्रेम-संबंध प्रायः अपने ही जाति-वर्ण के स्त्री-पुरुष के साथ दिखाई पड़ता है।

हिंदी के तीन बिल्कुल प्रारंभिक उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870), 'भाग्यवती' (1877) और 'वामा शिक्षक' (1872 में लिखित व 1883 में प्रकाशित) मूलतः 'कंडक्ट नॉवेल' हैं,

जिनमें स्त्रियों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य को ही विस्तार से बताया गया है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' में वणिक परिवार को कथा के केंद्र में रखा गया है। लेखक पं. गौरीदत्त का कहना है कि "इस पुस्तक में यह भी दर्शा दिया है कि इस देश के बनिये जन्म-मरण विवाहादि में क्या-क्या करते हैं... इस पुस्तक में ठीक-ठीक वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है।"[1] हालाँकि बनिया समाज और उसकी जातिगत विशेषता आदि से इस उपन्यास का कोई संबंध नहीं है।

'भाग्यवती' उपन्यास का कथा-केंद्र एक ब्राह्मण परिवार है। उपन्यास पर तत्कालीन नवजागरण का प्रभाव या कहें दबाव साफ तौर पर देखा जा सकता है। लेखक स्त्री शिक्षा, विवाह, दहेज आदि कई मुद्दों पर वैचारिक रूप से प्रगतिशील दिखने का प्रयास करता है। लेकिन लेखक की यह वैचारिक प्रगतिशीलता भी काफी सीमित है। पूरे उपन्यास का यदि सूक्ष्मता से विश्लेषण किया जाए तो यह प्रायः जाति-वर्ण के आदर्श को कहीं चुनौती देता हुआ प्रतीत नहीं होता, बल्कि यथासंभव इसे बनाए-बचाए रखने का ही प्रयास करता नजर आता है। उपन्यास की कोई भी घटना जाति-वर्ण के दायरे का अतिक्रमण नहीं करती। श्रद्धाराम फुल्लौरी वर्णाश्रम के विरोधी थे भी नहीं, इसलिए यह स्वाभाविक ही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में श्रद्धाराम फुल्लौरी के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखते हैं- "पंडित श्रद्धाराम जी तुरंत संवत 1920 में कपूरथला पहुँचे और उन्होंने महाराज (रणवीर सिंह) के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का ऐसा सुंदर निरूपण किया कि सबलोग मुग्ध हो गए।"[2]

इसी तरह 'वामा शिक्षक' कायस्थ परिवार को केंद्र में रखकर लिखा गया है। लेकिन यह भी पूरी तरह से स्त्रियों को चरित्र और व्यवहार की शिक्षा देनेवाली उपदेशपरक रचना ही ठहरती है।

प्रारंभिक दौर के अन्य उपन्यासों में 'परीक्षा गुरु' (1882) भी वणिक समाज की कथा कहता है और बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास 'सौ अजान और एक सुजान' (1906) का केंद्र भी वणिक समाज ही है। लेकिन इनमें से कोई भी उपन्यास जाति को मुद्दा बनाकर नहीं लिखा गया है। इनमें जाति का

उल्लेख केवल और केवल भारतीय समाज में व्यक्ति की सामजिक पहचान के एक अनिवार्य उपकरण के रूप में हुआ है। लेकिन एक बात पर गौर करने की ज़रुरत है कि इन तमाम शुरूआती उपन्यासों के पात्र ऊँची जातियों के हैं। नीची जातियों के पात्रों को हिंदी उपन्यास ने अभी स्थान नहीं दिया है। इससे उपन्यासकार की दृष्टि का कुछ तो अंदाज होता ही है।

किशोरीलाल गोस्वामी के रोमांसों के बारे में गोपाल राय 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' में लिखते हैं- "इन रोमांसों में अधिकतर हिन्दू पात्र राजपूत कुल से संबद्ध हैं जो आदर्श प्रेमियों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।"[3] इसके आगे गोस्वामी जी की दृष्टि के बारे में भी गोपाल राय लिखते हैं- "उनकी दृष्टि मुख्यतः सनातनी हिन्दू दृष्टि है। ...जातिगत भेद-भाव और छुआ-छूत का भी उन्होंने समर्थन किया है। 'अँगूठी का नगीना' और 'माधवी माधव वा मदन मोहिनी' में उन्होंने नवजागरण की प्रगतिशील परंपरा को नकारते हुए 'मेहतर' आदि दलित जातियों के प्रति अपनी घृणा का इजहार किया है।"[4]

गोस्वामी जी की ही तरह उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में कई उपन्यासों की रचना करने वाले महता लज्जाराम शर्मा भी मूलतः हिंदूवादी और जातिवादी दृष्टि का ही पोषण करते हैं। अपने अधिकांश उपन्यासों (हिन्दू गृहस्थ:1902,आदर्श दंपत्ति:1902, आदर्श हिन्दू: 1914-15, आदि) की रचना शर्मा जी इसी हिंदूवादी वर्णाश्रमी दृष्टि से करते हैं। हिंदी उपन्यास का इतिहास में गोपाल राय की टिप्पणी है- "आदर्श हिन्दू में उन्होंने उस वर्ण-व्यवस्था का भी समर्थन किया है जिसमें ब्राह्मण ब्राह्मण और शूद्र शूद्र बने रहें।"[5]

हिन्दी उपन्यास में जाति के सवाल पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि भुवनेश्वर मिश्र द्वारा 1896 में लिखित उपन्यास 'बलवंत भूमिहार' इस लिहाज से हिन्दी का पहला महत्वपूर्ण उपन्यास है। 'बलवंत भूमिहार' संभवतः हिन्दी का अब तक का अकेला उपन्यास है जिसमें उपन्यास के शीर्षक में ही मुख्य पात्र की जाति का स्पष्ट उल्लेख कर दिया हाया है। इस उपन्यास में

मुजफ्फरपुर (बिहार) के बलवंत सिंह और रनपाल सिंह नामक दो जमींदारों की आपसी रंजिश की कथा है, यद्यपि उपन्यास सुखांत है और अन्त में इनकी आपसी रंजिश समाप्त हो जाती है। बलवंत सिंह 'जथरिया संप्रदाय का भूमिहार' है और रनपाल सिंह 'दनिसवार संप्रदाय के भूमिहार' हैं।

'बलवंत भूमिहार' में जातिवाद की सामाजिक समस्या को विषय नहीं बनाया गया है, बल्कि उपन्यासकार ने एक जाति विशेष का चरित्र इस उपन्यास में लिखने की कोशिश की है। उपन्यास की भूमिका में भुवनेश्वर मिश्र लिखते हैं- ''बिहार प्रदेश के उत्तरी भाग के जमींदारों की संख्या में अधिक लोग भूमिहार जाति के पाए जाते हैं। जमींदारों में इनकी इतनी बहुतायत इस ओर है कि साधारण लोग इनको 'जमींदार वाभन' जाति का कहते हैं। इस कारण मैंने इन लोगों का चरित्र इस पुस्तक में लिखा है।''[6]

बिहार में जमींदारों के रूप में भूमिहारों की जिस स्थिति का उल्लेख भुवनेश्वर मिश्र करते हैं, उसी पुष्टि प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकान्त की किताब 'बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम' से भी होती है। इस पुस्तक के लेखक लिखते हैं- ''बिहार में हमींदारों का एक बड़ा हिस्सा इसी जाति से आता था। टिकारी, हथुवा, बेतिया जैसी बड़ी-बड़ी रियासतों के मालिक इसी जाति के थे। दूसरे पटना, गया, मुंगेर, मुजफ्फरपुर, चम्पारण आदि जिलों में कायमी रैयतों का एक अच्छा-खासा हिस्सा भी इसी जाति का था।''[7]

अपने उपन्यास में भूमिहार जाति के चरित्र को उद्घाटित करने की बात करते हुए भूमिका में भुवनेश्वर मिश्र आगे लिखते हैं- ''इसकी कथा आज से प्रायः तीस वर्ष पूर्व की सी दी गई है, पर जैसा चरित्र भूमिहारों का इसमें लिखा गया है, प्रायः वैसा ही चरित्र उन लोगों का आज तक है। मैंने उस चरित्र में दोषारोपण नहीं किया है और न उसकी उत्तमता प्रगट करने की चेष्टा की है- पर जैसा मैंने उसे पाया है, इस पुस्तक में लिख दिया है।''[8]

अब यह देखना दिलचस्प है कि भूमिहारों के जिस चरित्र को लिखने की बात भुवनेश्वर मिश्र उपन्यास की भूमिका में कर रहे हैं, उसके बारे में उपन्यास में उन्होंने क्या लिखा है। उपन्यास के तीसरे अध्याय में जमींदार रनपाल सिंह के बारे में भुवनेश्वर मिश्र लिखते हैं- ''रनपाल सिंह ने तब अपना ध्यान अपनी जमींदारी बढ़ाने की ओर फेरा और इसके लिए इन्होंने यत्न भी वही किया, जो इनकी जाति के लोग उस समय अकसर किया करते थे- अर्थात् दीन जमींदारों को अधिक सूद के करार पर रुपया कर्ज देकर दो-चार वर्ष के बाद उनकी जमींदारी नीलाम कराकर थोड़े दाम पर खरीद लेना; अथवा दबेल जमींदारों की जमींदारी जबरदस्ती छीन लेना और फिर मुकद्दमा होने से कड़ी पैरवी करके रुपया और बातूनी वकीलों की सहायता से बिजयी होना अथवा दो जमींदारों को चढ़ाकर आपस में लड़ा देना और पीछे दोनों की जमीन किसी प्रकार ले लेना। इन्हीं प्रकारों को अवलंबन कर रनपाल सिंह एक प्रचंड जमींदार कहलाने लगे...।''[9]

रनपाल सिंह के संदर्भ में बात करते हुए भुवनेश्वर मिश्र ने भूमिहारों के चरित्र के जिन लक्षणों को सामने रखा है, ज़ाहिर है वे प्रशंसनीय नहीं हैं। ऊपर से भुवनेश्वर मिश्र भूमिका में यह भी कह चुके हैं कि 'प्रायः वैसा ही चरित्र उन लोगों का आज तक है।' यह एक जाति विशेष की 'स्टीरियोटाइपिंग' है। जातियों के इस तरह के 'स्टीरियोटाइप' समाज में बनते रहे हैं और इनके बनने का भी अपना समाजशास्त्र है। बहरहाल, भुवनेश्वर मिश्र ने रनपाल सिंह को खलनायक बनाने के क्रम में पूरी भूमिहार जाति के मत्थे जो खलनायकत्व मढ़ दिया, उसका प्रबल विरोध उस जमाने में भूमिहार समुदाय के द्वारा हुआ था। भुवनेश्वर मिश्र के उपन्यासों- 'बलवंत भूमिहार' और 'घराऊ घटना' का संपादन व प्रस्तुति करनेवाले रामनिरंजन परिमलेन्दु ने पुस्तक के प्राक्कथन में इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है- ''सन् 1896 में लिखित 'बलवंत भूमिहार' को उसके तीखे यथार्थ के कारण कोई प्रकाशक नहीं मिल सका। अंततः इसका प्रकाशन सन् 1901 में सुप्रसिद्ध उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री ने लहरी प्रेस, लाहौरी टोला, बनारस से किया। जब 'बलवंत भूमिहार' उपन्यास

का प्रकाशन हुआ तो मुजफ्फरपुर जिले के जमींदारों ने उपन्यास की सभी प्रतियों को खरीदकर उन्हें गंगा में विसर्जित कर दिया। यह सन् 1901 की घटना है।''[10]

भुवनेश्वर मिश्र इस उपन्यास की भूमिका में भूमिहारों के चरित्र के बारे में जो कुछ कहते हैं और फिर उपन्यास में रनपाल सिंह के बहाने भूमिहारों के चरित्र पर जो टिप्पणी करते हैं, उनके आधार पर भूमिहारों की पर्याप्त नकारात्मक छवि उभरकर सामने आती है और ऐसे में इसका भूमिहार समाज के द्वारा विरोध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। लेकिन इसी उपन्यास का नायक बलवंत सिंह भी जाति का भूमिहार ही है, परन्तु उसके चरित्र में रनपाल सिंह की तरह भूमिहारों के कोई लक्षण नहीं हैं। इसके विपरीत वह स्वाभिमानी और पर्याप्त उदार है। रनपाल सिंह का पुत्र जसवंत सिंह भी रनपाल सिंह की अपेक्षा उदार है। स्वयं रनपाल सिंह का भी उपन्यास के अन्त में हृदय परिवर्तन हो जाता है। इस तरह भुवनेश्वर मिश्र अपने ही द्वारा बनाए गए भूमिहार जाति के 'स्टीरियोटाइप' को खंडित करते हैं। 1901 में भूमिहार जमींदारों का समुदाय यदि उपन्यास के इस पक्ष पर ध्यान दे पाता तो शायद भुवनेश्वर मिश्र और इस उपन्यास को इतने विरोध का सामना न करना पड़ता। खैर!

इस उपन्यास में कुछेक प्रसंग ऐसे हैं जहाँ ऊँची-नीची जातियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का संकेत उपन्यासकार ने किया है। उपन्यास के पहले अध्याय में ही बलवंत सिंह मंदिर से निकलकर जब रनपाल सिंह के आदमियों से छुपते हुए आगे बढ़ते हैं तो उन्हें एक झोपड़ी दिखाई पड़ती है। आगे उपन्यासकार लिखता है- ''झोपड़ी में एक बूढ़ी औरत बैठी थी। उसकी पोशाक और आँगन तथा घर की वस्तुओं को देखने से मालूम होता था कि वह औरत किसी छोटी जाति की थी।[11]

उपन्यासकार के उपर्युक्त कथन से यह बात समझ में आती है कि वह जाति के सामाजिक यथार्थ को पकड़ पाने में सक्षम है। सामान्य तौर पर भारतीय समाज में और खासतौर पर ग्रामीण भारतीय समाज में जाति का गहरा संबंध व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से जुड़ता है। उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज पर तो यह बात और ज्यादा लागू होती है। इसी तरह एक और प्रसंग में जातिवादी समाज के यथार्थ की उपन्यासकार की समझ का पता लगता है। उपन्यास के तीसरे अध्याय में बाबू

रनपाल सिंह की कचहरी का दृश्य सामने रखते हुए भुवनेश्वर मिश्र लिखते हैं- ''बाबू साहब को सामने से आते देख भीतर-बाहर सब जगह के लोग उठकर खड़े हो गए और सब लोग झुककर सलाम करने लगे, केवल ब्राह्मणों ने सलाम नहीं किया, पर दोनों हाथ सामने आगे बढ़ाकर 'जय होय,' 'भगवान कल्याण करथु' इत्यादि कहने लगे।''[12]

जमींदार को झुककर सलाम करने के बजाय ब्राह्मणों के द्वारा आशीर्वाद दिया जाना दरअसल ब्राह्मणों द्वारा अपने उसी विशेषाधिकार की रक्षा है जो उन्हें जातिवादी समाज के द्वारा मिला हुआ है- वे पूज्य हैं; वे सलाम करवाने के लिए धरती पर आए हैं, सलाम करने के लिए नहीं! भुवनेश्वर मिश्र जातिवादी समाज के इस यथार्थ का संकेत करते हैं।

'बलवंत भूमिहार' के प्रकाशन के तीन साल बाद 1899 ई. में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का पहला उपन्यास 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की रचना हरिऔध जी ने 'ठेठ हिन्दी' (जनसाधारण की बोली) के उपन्यास के रुप में की है। मतलब यहाँ उपन्यासकार का ध्यान कथा पर कम और भाषा पर अधिक है। हरिऔध ग्रंथावली के संपादक डॉ. तरुण कुमार भी भूमिका में इस बात का उल्लेख करते हुए लिखते हैं- ''इन दोनों उपन्यासों (ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल') में भाषा साध्य है और कथा या कहानी-रचना साधन।''[13] ज़ाहिर है, इस उपन्यास में हरिऔध जी ने कथावस्तु पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। उपन्यास का विस्तार भी बहुत थोड़ा है और कथा भी एकरेखीय है। लेकिन अपने इस उपन्यास में हरिऔध जाति के सवाल को सीधे-सीधे उठाते हैं। जाति के सवाल के गिर्द ही कथा आगे बढ़ती है। उपन्यास की नायिका देवबाला और नायक देवनंदन एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और विवाह भी करना चाहते हैं। देवबाला की माँ हेमलता भी यही चाहती है। देवबाला और देवनंदन दोनों ही ब्राह्मण है, इसलिए हेमलता को कोई परेशानी नहीं है। लेकिन देवबाला के पिता रामकान्त इस रिश्ते के लिए तैयार नहीं हैं। कारण है कि देवनंदन 'हाड़ (कुलीनता)' में अच्छा नहीं है। देवबाला के पिता रामकान्त का तर्क है- ''उस के

(देवनंदन के) घर की लड़की का ब्याह मेरे यहाँ हो सकता है, मेरे घर की लड़की उसके यहाँ नहीं दी जा सकती। वह जात में मुझ से उतर कर है।''[14] भारतीय समाज में जाति भीतर जाति का यह एक बेजोड़ उदाहरण है। हरिऔध स्वयं इस तरह के जाति के बंधन को सामाजिक कुरीति ही मानते हैं। उपन्यास के बिल्कुल अंत में देवनन्दन के माध्यम से हरिऔध अपनी बात कहते हैं- ''इससे मैं समझता हूँ देश की बुरी रीत जो रामकान्त के जी को डाँवाडोल न करती, अनसमझी से जो वह हाड़ ही को सब बातों से बढ़कर न समझते, झूठे घमंडों के बस उतर कर ब्याज करके लोगों से हँसे जाने का जो उनको डर न होता, तो वह हठ न करते...।''[15]

हरिऔध जी की जाति संबंधी दृष्टि को ठीक से समझने के लिए इस उपन्यास को थोड़ी बारीकी से पढ़ने की ज़रूरत है। जाति के बंधन की कठोरता से मुक्त होने की हरिऔध जी की दृष्टि निश्चित रूप से एक प्रगतिशील दृष्टि है, लेकिन इस प्रगतिशीलता की तमाम सीमाएँ हैं, जो इसी उपन्यास में दिखाई पड़ जाती हैं। देवबाला और देवनंदन के मामले में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे दोनों समान जाति के हैं, जातियों के उपभेद का अंतर है। हरिऔध चाहते तो इसे अन्तर्जातीयता का मामला भी बना सकते थे, लेकिन हरिऔध ने ऐसा नहीं किया है। उपन्यास से यह बात स्पष्ट होती है कि हरिऔध जाति के बंधन को किस सीमा तक ढीला करने के हिमायती हैं।

एक और बात इस उपन्यास में ध्यान खींचती है। देवबाला और देवनंदन एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, विवाह करना चाहते हैं। लेकिन इस प्रेम में किसी प्रकार की चुनौती को वे स्वीकार नहीं करते। जाति की कुलीनता के नाम पर सहर्ष अपने प्रेम की बलि चढ़ जाने देते हैं। आश्चर्य होता है जब दोनों अकस्मात् एक-दूसरे से प्रेमी-प्रेमिका की जगह भाई-बहन का संबंध बना लेते हैं! और यह सब करते हुए उन्हें गर्व भी होता है, अपने ब्राह्मणत्व पर! देवनंदन देवबाला से कहता है- ''...क्या मैं ब्राह्मण का बेटा नहीं हूँ? क्या मैं हिन्दू के घर में नहीं जन्मा हूँ? क्या मैं धरम की मरजादा नहीं जानता... क्या हिन्दू की बेटी माँ-बाप जो कहें वह न करके दूसरा कर सकती है?... क्या अपने बड़ों की मरजादा हमलोग बिगाड़ सकते हैं? कभी नहीं!!!''[16]

इस उपन्यास में ब्राह्मणत्व के प्रति श्रेष्ठता-बोध को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। देवनंदन और देवबाला के संवाद में तो यह स्पष्ट है ही, उसके अलावा भी कई जगहों पर यह श्रेष्ठता बोध ज़ाहिर होता है। देवनंदन देवबाला के नालायक पति रमानाथ को समझाता है- "तुम उस जनम की कमाई को क्यों झींखते हो, उस जनम की कमाई तुम्हारी बहुत अच्छी रही है, जो अच्छी न होती, ब्राह्मन के घर जनम न होता, देवबाला ऐसी घरनी न मिलती।"[17] एक और प्रसंग में, देवबाला का पति रमानाथ एक मारवाड़ी को लूटना चाहता है और देवनंदन के बीच में आ जाने से वह ऐसा नहीं कर पाता। मारवाड़ी रमानाथ को पुलिस के हवाले कर सकता था, पर वह ऐसा नहीं करता। कारण स्पष्ट करता हुआ मारवाड़ी कहता है- "एक तो यह बाम्हन हैं, दूसरे आप (देवनंदन) कहते हैं, इसलिए मैंने इनको छोड़ दिया...।"[18] ब्राह्मणत्व के प्रति यह जो श्रेष्ठता-बोध है, वह शुद्ध वर्णाश्रमी दृष्टि है। हरिऔध अपने इस उपन्यास में इस वर्णाश्रमी दृष्टि का ही निर्वाह करते हैं।

शिवपूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' का प्रकाशन 1926 में हुआ। उपन्यास के नाम से ही स्पष्ट है कि उपन्यास की कथा-भूमि देहात है। देहात का नाम है 'रामसहर'। उपन्यास की भूमिका में ही शिवपूजन सहाय ने लिखा भी है- "मैं ऐसी ठेठ देहात का रहनेवाला हूँ... वहीं पर मैंने स्वयं जो कुछ देखा-सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यों-का-त्यों इसमें अंकित कर दिया है।"[19]

जाति और जातिवाद यों तो पूरे भारतीय समाज का यथार्थ है, लेकिन ग्रामीण समाज में यह ज्यादा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। ऐसे में 'ठेठ देहात' की कथा में जाति के सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति सहज और स्वाभाविक है।

'रामसहर' गाँव के जमींदार 'बाबू सरबजीत सिंह ने एक बीघा खेत के लिए ब्रह्महत्या की थी' और वे 'ब्रह्मदोषी' कहलाने लगे थे। इसी कलंक के कारण बाबू साहब के बेटे रामटहल सिंह का विवाह न हो सका। बाबू रामटहल सिंह अपनी कोटी में गोबर पाथने वाली बुधिया पर फिसल पड़े

और फिर बुधिया बाबू रामटहल सिंह की 'रखेली' हो गई। आगे चलकर बाबू रामटहल सिंह ने मनबहाल सिंह की नौंवी लड़की 'महादेई' से विवाह कर लिया। मनबहाल सिंह बेटियों के विवाह के नाम पर उनका सौदा किया करते थे और उसी से उनकी रोजी-रोटी चलती थी। महादेई से बाबू रामटहल सिंह के विवाह के बाद गाँव में मनबहाल सिंह को लेकर बातें होने लगीं- ''जब कभी बैलों और गाय-भैंसों के घावों में कीड़े पड़ते थे, तब बेटी बेचने वालों के सात नाम लिखकर उनके गले में बाँधने के लिए नामों का पता लगाना पड़ता था। पर अब तो केवल मनबहाल सिंह का नाम ही काफी होगा।''[20]

इस बात की खबर बाबू रामटहल सिंह को हो गई और वे 'दिन-रात इसी फिराक में रहने लगे- किसी को ऐसा कहते-सुनते पकड़ पाऊँ, तो उसकी पीठ की खाल उधेड़ डालूँ'।[21]

इससे आगे उपन्यासकार जिस घटना का जिक्र करता है, वह ऊँची जाति के जमींदार की दबंगई और उसकी अमानवीयता का गवाह है। बाबू रामटहल सिंह के बारे में उपन्यासकार लिखता है-

''एक दिन उन्होंने खेदू कहार को मारते-मारते बेहोश कर डाला। पीटते-पीटते आप भी थक गए। इसी बीच उसकी स्त्री सोनिया गिड़गिड़ाती हुई आकर उनके पैरों पर गिर पड़ी। थके और हाँफते रहने पर भी उसका झोंटा पकड़कर नालदार जूते से पीटने लगे। इतने में उनके नौकर-चाकर भी डंडे और लाठियों के साथ पहुँचकर खेदू के घर पर टूट पड़े।

सोनिया अपने जवान बेटों के सामने ही नंगी करके डंडों से पीटी गई। उसके लड़के डर के मारे काँपते और फूट-फूट कर रोते रह गए। उन्हें बाबू साहब के नौकरों ने गाय-गोरू की तरह पीटा। उनकी स्त्रियों की इज्जत तक उतर ली।''[22]

सारी काली करतूतों और अनैतिकताओं के बाबजूद अपनी झूठी सामाजिक मर्यादा को बचाने के नाम पर दूसरों की माँ-बहू-बेटियों की इज्जत उतार लेना ऊँची जातिवालों की दबंगई नहीं

तो और क्या है! पूरे गाँव के बीच इस तरह की क्रूरता करने के बावजूद अपने जातिगत सामजिक वर्चस्व के बल पर रामटहल सिंह जैसे लोग घमंड से सिर उठाकर चलते हैं। ऐसा नहीं है कि गाँव के लोग इस तरह के अन्याय का प्रतिकार करना नहीं चाहते, लेकिन उनके पास 'बाबू साहब' से टकराने का साहस कहाँ है! शिवपूजन सहाय लिखते हैं-

"गाँव के लोगों का कलेजा ही कितना जो बाबू साहब को खेदू की छाती पर कोदो दलते देखकर भी जीभ हिलाते! बेचारे चुपचाप तमाशा देखते रहे। किसी में इतना भी जीवट नहीं था, जो खेदू की जान छुड़ाने के लिए बाबू साहब के आगे आता।"[23]

जिस तरह खेदू कहार की पिटाई हुई थी, उसी तरह की पिटाई कुछ दिनों बाद पलटू चमार की हुई। ध्यान देने की बात है कि पिटाने वाला व्यक्ति दोनों ही घटनाओं में अत्यंत पिछड़ी और दलित जाति का व्यक्ति है। ज़ाहिर है इस मसले को आर्थिक आधार पर देखना सही नहीं होगा। यहाँ असली मसला उस जातिवादी आधार का है जो ऊँची जाति के जमींदार को इस तरह के आपराधिक कर्म करने की खुली छूट दे देता है। खैर! पलटू चमार के प्रसंग में शिवपूजन सहाय एक और बात लिखते हैं जिस पर ध्यान देने की जरूरत है। वे लिखते हैं- "कुछ दिनों बाद पलटू चमार की भी खेदू की दशा हुई। पर खेदू की तरह पलटू लाचार नहीं था। वह जूतियाँ गाँठकर पेट पालने वाला चमार नहीं था। वह था ईसाई चमारों का सरदार। अपने समाज में उसकी बड़ी साख और धाक थी। उस पर मार पड़ते ही ईसाइयों के कान खड़े हो गए। वे तुरंत पलटू को बाल-बच्चे सहित अपने अड्डे पर ले गए।"[24]

पिटाई पलटू चमार की भी हुई, मगर ईसाई हो जाने की वजह से उसकी सुरक्षा और संरक्षण का प्रबंध हो गया। हालाँकि शिवपूजन सहाय ने इस प्रसंग को आगे नहीं बढ़ाया है, लेकिन इतने से ही धर्मान्तरण के कारण दलितों को मिलने वाले 'सुरक्षा कवच' का संकेत उन्होंने कर दिया है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि इस तरह की घटना का जिक्र उन्होंने 1926 में किया है, जब दलितों के धर्मान्तरण का मुद्दा अंबेडकर ने भी इतने जोर-शोर से नहीं उठाया था।

खेदू कहार का लड़का बहोरन बाबू रामटहल सिंह की क्रूरता और अपने परिवार की स्त्रियों की बेइज्जती से दुःखी होकर अपने भाइयों से कहता है- ''क्या हमलोग कहार होने से ही इतने गये-बीते हो गए कि हमारी ही आँखों के सामने हमारी स्त्रियाँ बेइज्जत की गयीं, और हम चूँ भी नहीं कर सके? धिक्कार है हमारे जीने को! हमें उसी जगह जान दे देना उचित था। क्या हमलोग डोम-चमार हैं कि अपनी इज्जत का कुछ खयाल नहीं है? मगर पलटू भी तो चमार ही है; उनसे अपनी इज्जत की लाज से ही अपना धर्म तक छोड़ दिया। जब डोम-चमार जैसे अछूत भी अपनी इज्जत के लिए प्राण-समान प्यारा धर्म छोड़ देते हैं तब हम तो कहार हैं। हमारा गट्टा पाक है। हमारा छुआ पानी तो ब्राह्मण पीते हैं।''[25]

बहोरन की उपर्युक्त बातों से भारतीय समाज की जातिवादी संरचना की बहुस्तरीयता को समझा जा सकता है, जिसमें प्रत्येक जाति अपने से नीची जाति की पहचान कर लेती है। बहोरन के कथन में ऊँची जाति के जमींदार के प्रति रोष है, इस बात का अहसास भी है कि केवल कहार/अत्यंत पिछड़ी जाति के होने के कारण उसे अपने परिवार की बेइज्जती झेलनी पड़ रही है, लेकिन इन सब के साथ-साथ उसके मन में डोम-चमारों से ऊपर होने का गर्व-भाव भी है। उसे मालूम है कि उसका 'गट्टा पाक है'। 'ब्राह्मण उसका छुआ पानी पी सकते हैं'- यह डोम-चमारों की तुलना में उसकी श्रेष्ठता/उच्चता का प्रमाण है! यही दरअसल जाति प्रथा का वास्तविक स्वरूप है, जिसमें एक व्यक्ति स्वयं जातिवादी दंश का शिकार है किन्तु उसके पास कुछ अन्य जातियों से श्रेष्ठ होने का अभिमान भी है। इस रूप में जातिवादी समाज में व्यक्ति जातिवाद को दोहरे रूप में जीता है- अपने से ऊपर की जाति के प्रति रोष और अपने से नीची जातिवालों के प्रति हीनभाव! शिवपूजन सहाय बहोरन के उक्त कथन के आधार पर जातिवादी समाज के इस दोहरेपन को सामने लाते हैं।

जाति का बंधन जीवन भर नहीं टूटता। एक बार जिस जाति में पैदा हो गए, उससे मुक्ति संभव नहीं है। आर्थिक संपन्नता एक बात है, मगर उससे जाति और जाति के कारण मिलने वाले मान-अपमान की स्थिति को बदलना इतना आसान नहीं है। खेदू कहार का बेटा सजीवन इसी जाति के बंधन के बारे में अपने अनुभव की बात कहता है- ''हमदोनों भाई अगर लाखों रूपए कमाकर घर में डाल देंगे, तो भी अपने गाँव में बाबू साहब के सामने सिर न उठा सकेंगे। इस जन्म में हमलोग उनसे आँख बराबर नहीं कर सकते।''[26]

'देहाती दुनिया' में तमाम ऊँची-नीची जातियों के पात्रों की उपस्थिति है। बाबू रामटहल सिंह संभवतः भूमिहार हैं, क्योंकि बिहार में जमींदारों का बड़ा हिस्सा इसी जाति के लोगों का है। इसके अलावा पसुपत पाँड़े, तिवारीजी, गुदड़ी राय, खेदू कहार, डपटू चमार, आदि तमाम पात्र अपनी जातिगत पहचान के साथ मौजूद हैं। इनके अलावा भी पूरे उपन्यास में अहीर, तेलीन, कोइरी, बढ़ई आदि जातियों के छिटपुट पात्रों की चर्चा हुई है। वहाँ भी उपन्यासकार प्रायः इन जातियों की अपनी विशिष्ट पेशागत पहचान को सामने रखने का प्रयास करता है। कामरू-कमच्छा जाते-जाते जब पाँड़े जी ने ट्रेन वाले सूरदास के गाँव में डेरा डाला तो ''आसपास के गाँवों में बाबा के नाम का नगाड़ा पिट गया। स्त्रियाँ झुंड-के-झुंड आने लगीं। ...स्त्रियों के सिवा अनेक पुरुष भी पैदावार का हाल और अदालती लड़ाइयों का फल पूछने के लिए पहुँचते थे। अहीर दूध-दही लाते, कोइरी साग-भाजी लाते, बढ़ई खड़ाऊँ लाते, ब्राह्मण जनेऊ लाते, बाबू और बनिये नगद लाते।''[27] विभिन्न जातियों के लोगों की भेंट के साथ उनकी जातिगत और पेशागत पहचान जुड़ी हुई है।

प्रेमचंद भारतीय समाज, खासकर उत्तर भारतीय ग्रामीण समाज के विश्लेषण और चित्रण में बेजोड़ हैं। उत्तर भारतीय ग्रामीण समाज में जाति एक बहुत बड़ी सच्चाई है। वहाँ व्यक्ति की पहचान और उसकी समाजिक हैसियत बहुत कुछ जाति के आधार पर तय होती है। इसलिए व्यक्ति की जाति की जानकारी होने से एक हद तक उसकी सामाजिक स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है।

प्रेमचंद इस मामले में अद्‌भुत रचनाकार हैं। उनके कथा साहित्य में उनके प्रात्र प्रायः अपनी जातिगत पहचान के साथ उपस्थित होते हैं। पात्रों की जाति, उनके जातिगत पेशे और उनकी सामाजिक हैसियत का प्रेमचंद विशेष रूप से ध्यान रखते हैं। यह प्रेमचंद की यथार्थवादी रूझान का भी प्रमाण है। प्रेमचंद के उपन्यासों में जाति के सामाजिक यथार्थ को बड़ी ही स्पष्टता से देखा जा सकता है।

प्रेमचंद के एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपन्यास 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन 1922 में हुआ। यह उपन्यास किसान-जीवन की महागाथा है। उपन्यास के पहले परिच्छेद में ही जाति के प्रति प्रेमचंद की सचेत अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। उपन्यास के कथा-केन्द्र लखनपुर गाँव के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं- ''लखनपुर बनारस नगर से बारह मील पर उत्तर की ओर एक बड़ा गाँव है। यहाँ अधिकांश कुर्मी और ठाकुरों की बस्ती है, दो-चार घर अन्य जातियों के भी हैं।''[28] उपन्यास में अन्य स्थानों पर भी प्रेमचंद ने लखनपुर के लोगों की जाति का स्पष्ट उल्लेख किया है। जमींदार के कारिंदे गौस खाँ की हत्या के मामले में जब अधिकांश गाँववालों पर मुकदमा चलता है, तब अदालत में भी वकील इर्फान अली और तहसीलदार की जिरह और जवाब में इसका उल्लेख होता है। यह प्रसंग द्रष्टव्य है- ''इर्फान -आप यह तसलीम करते हैं कि यह सब मुलजिम लखनपुर के खास आदमियों में हैं? तहसीलदार -हो सकते हैं, लेकिन जात के अहीर, जुलाहे और कुर्मी हैं।''[29]

इसी प्रसंग में आगे जातियों की सामाजिक हैसियत का संकेत भी प्रेमचंद इर्फान अली के माध्यम से करवाते हैं-

''इर्फान-आप जानते हैं जमीन लीपना किसका काम है?

तहसीलदार-यह किसी खास जात का काम नहीं है।

इर्फान-मगर आपको इससे तो इन्कार नहीं हो सकता कि आम तौर पर अहीर और ठाकुर यह नहीं करते?''[30]

असल में यह मामला तहसीलदार और उसके अमलों द्वारा गाँव वालों से बेगार में घास छीलने और जमीन लीपने जैसे काम करवाने को लेकर था। गाँव की अगड़ी और पिछड़ी जातियों के लोगों के लिए इस तरह के काम करना ज़िल्लत की बात थी। यह काम तो दलितों का है! तहसीलदार और दूसरे सरकारी अफसरों की ज़ोर जबर्दस्ती से गाँव वालों को मौके-बेमौके बेगार करने पड़ते थे। ऐसे ही एक मौके पर प्रेमचंद लिखते हैं- "बेगार की समस्या इससे कठिन थी। पाँच बड़े-बड़े घोड़ों के लिए हरी घास छीलना सहज नहीं था। गाँव के सब दलित इस काम में लगा दिए गए। कई नोनिए पानी भर रहे थे। ... कहारों को कर्मचारियों की खिदमत से सिर उठाने की फुरसत न थी। इसलिए जब दो बजे साहब ने हुक्म दिया कि मैदान में घास छीलकर टेनिस कोर्ट तैयार किया जाए, तो वे लोग भी पकड़े गए जो अब तक अपनी वृद्धावस्था या जाति सम्मान के कारण बचे हुए थे। चपरासियों ने पहले दुखरन भगत को पकड़ा।"[31]

दुखरन भगत को घास छीलने को कहा जाता है। यह उसके लिए अपमान की बात है, क्योंकि उसके अनुसार "घास दलित छीलते हैं, यह हमारा काम नहीं है।"[32] दुखरन के साथ-साथ अन्य गाँव वाले भी बेगार के लिए पकड़े गए थे। उनकी मनोदशा भी कुछ ऐसी ही थी। मनोहर भी दुःखी मन से कहता है- "खाँ साहब के कारण हम भी दलित हो गए।"[33] घास छीलने तक तो दुखरन भगत ने बर्दाश्त कर लिया, मगर जब उससे जमीन लीपने को कहा गया तो वह फूट पड़ा। उसने साफ इनकार कर दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि उन्हें तहसीलदार के अमलों के जूते खाने पड़े। मौके पर प्रेमशंकर पहुँच जाते हैं और बीच-बचाव करते हैं। वे दुखरन के संबंध में तहसीलदार से कहते हैं- "आपको मालूम नहीं था कि यह ऊँची जाति का काश्तकार है? जमीन लीपना या कूड़ा फेंकना इनका काम नहीं है।"[34]

इस पूरे प्रसंग से जाति के सामाजिक यथार्थ को समझा जा सकता है। घास छीलने और जमीन लीपने जैसा बेगार करना ऊँची जाति या पिछड़ी जाति के लोगों का काम नहीं है, यह तो

दलितों का काम है- यही समाज की मान्यता है। दुखरन, मनोहर, प्रेमशंकर, इर्फान अली और अन्य तमाम गाँववालों की यही मान्यता है। प्रेमचंद इन तमाम पात्रों के जरिए जाति के इस सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं।

प्रेमचंद के पूरे कथा साहित्य में 'मरजाद' की चिंता को रेंखांकित किया जा सकता है। प्रेमचंद के किसान, जो प्रायः पिछड़ी जातियों के हैं, अपनी इसी 'मरजाद' को बचाने के लिए तमाम कष्ट उठाते हैं। मजदूरी करना और बेगार करना इसी 'मरजाद' में बट्टा लगाना है। लखनपुर के किसान जब बेगार करने से मना करते हैं तो इसमें भी 'मरजाद-रक्षा' की चिन्ता निहित है। दलितों की स्थिति समाज में सबसे नीची है। जातिवादी समाज ने सदियों से उन्हें दलित बनाए रखा है। इनके पास न कोई सामाजिक अधिकार है और न कोई सम्पत्ति। इसलिए ये प्रायः मान-अपमान की चिन्ता से मुक्त हैं। 'मरजाद' की चिन्ता इन्हें नहीं है। इस बात को प्रेमचंद के पूरे कथा साहित्य में देखा जा सकता है। वहाँ दलितों की पीड़ा पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया गया है, उनकी पीड़ा के प्रति गहरी संवेदना पैदा करने का प्रयास किया गया है, दलितों को अपने अधिकारों के लिए लड़ते हुए भी दिखाया गया है, परंतु 'मरजाद' की रक्षा दलितों की चिन्ता कहीं नहीं है। 'प्रेमाश्रम' में मुकदमे के फैसले वाले दिन लखनपुर गाँव की स्थिति के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं- ''किन्तु गाँव में जरा भी हलचल न थी। मर्दों में कादिर खाँ के छोटे लड़के के सिवा और सभी नीच जातियों के लोग थे, जिन्हें मान-अपमान का ज्ञान ही न था...।''[35] इस वाक्य को दलितों के प्रति द्वेष या हीन भावना के रूप मे देखने पर हम प्रेमचंद के साथ न्याय नहीं कर पाएँगे। यह वस्तुतः तत्कालीन ग्रामीण भारतीय समाज का यथार्थ है, जिसकी अभिव्यक्ति मात्र प्रेमचंद कर रहे हैं। दलितों और अन्य जातियों के संदर्भ में प्रेमचंद की अभिव्यक्ति को तत्कालीन भारतीय समाज के यथार्थ की अभिव्यक्ति के रूप में विश्लेषित करना ज्यादा सार्थक और उचित होगा।

प्रेमाश्रम में भी, प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों की तरह, प्रायः सभी प्रात्र अपनी-अपनी जाति के साथ मौजूद हैं। मनोहर महतो (अहीर), बलराज (अहीर), सुक्खु चौधरी (संभवतः कुर्मी), डपटसिंह (ठाकुर), रंगी दलित, बिसेसर साहू (बनिया), गजाधर अहीर, भोला अहीर, दमड़ी पासी, मस्ता कोरी और पंडित लेखराज के अलावा बाबू जटाशंकर, प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर (सभी संभवतः कायस्थ) तथा ज्वालासिंह, रायसाहब (दोनों ठाकुर) सभी अपनी-अपनी जाति और जातिगत विशेषताओं के साथ उपन्यास की कथा में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। विभिन्न जातियों के पात्रों की चर्चा करते हुए प्रेमचंद बहुत सतर्क रहते हैं। जातिवादी समाज की बारीकियों को सूक्ष्मता से समझे बिना ऐसी सतर्कता संभव नहीं है। जो लोग प्रेमचंद के साहित्य को केलव वर्गीय आधार पर समझने का प्रयास करते हैं, उनसे इस तरह की बारीकियाँ या तो छूट जाती हैं, या वे इन्हें जान-बूझकर छोड़ देते हैं। प्रेमचंद के किसानों को यदि हम केवल एक वर्ग के रूप में समझने की कोशिश करेंगे तो हम भी उसी गलती के शिकार होंगे। प्रेमचंद के किसान भी अपनी-अपनी जाति के साथ ही उपस्थित होते हैं। और, यहाँ जाति का उल्लेख प्रेमचंद अकारण नहीं करते। यहाँ जाति के उल्लेख में विशेष अर्थ निहित होते हैं। 'प्रेमाश्रम' के लखनपुर में विभिन्न जातियों के किसान हैं जिनमें कुर्मी भी है, अहीर भी हैं और ठाकुर भी हैं। प्रेमचंद की एक टिप्पणी देखिए- ''गाँव में दस-बारह घर ठाकुरों के थे। उनसे लगान बड़ी कठिनाई से वसूल होता था, किन्तु इजाफा लगाने की खबर पाते ही वह भी दब गए।''[36]

ठाकुरों की जातिगत उच्चता और उससे जुड़ी सामजिक हैसियत और दबदबे के कारण उनके साथ लगान वसूली में वैसी कड़ाई नहीं हो पाती, जैसी पिछड़ी जाति के किसानों के साथ की जाती है। यह जातिवादी भारतीय समाज का यथार्थ है, जिसे केवल वर्ग के चश्मे से पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। प्रेमचंद जातिवादी समाज के इस यथार्थ को गहराई से समझ रहे थे, इसलिए उनके उपन्यासों में किसानों और जमींदारों का वर्ग तो स्पष्ट नज़र आता है, मगर जातिगत पहचान से

रहित होकर नहीं, बल्कि वर्ग के जातिगत आधार को स्पष्ट करता हुआ। प्रेमचंद के पूरे कथा-साहित्य में शायद ही कोई जमींदार पिछड़ी जाति को हो! इसी तरह प्रेमचंद के किसान प्रायः पिछड़ी जाति के किसान हैं, कुछेक उदाहरणों को छोड़कर। इस तरह प्रेमचंद के उपन्यासों में वर्ग और जाति के अन्तः संबंधों को भी बारीकी से समझा जा सकता है।

भारतीय समाज में विभिन्न जातियों की विशिष्ट पहचान बन गई है। प्रत्येक जाति को कुछ खास गुणों के साथ जोड़ दिया गया है और इस तरह से जातियों के 'स्टीरियोटाइप्स' निर्मित्त हो गए हैं। 'बनिया' जाति अपनी कंजूसी, चालाकी और अपने लाभ को सबसे ऊपर रखने के लिए बदनाम है। प्रेमाश्रम में 'बिसेसर साहू' के चरित्र के माध्यम से जातियों के 'स्टीरियोटाइपिंग' को समझा जा सकता है। प्रेमचंद लिखते हैं- ''सीधे किसान वितंडावादी नहीं होते। वासतव में इन लोगों के ध्यान में यह बात ही न आई थी कि बयान का बदलना प्रत्यक्ष जाल है। कादिर खाँ ने इस विषय का निदर्शन किया तो उन लोगों की सरल सत्य-भक्ति जाग्रत हो गयी।.... लेकिन बिसेसर पर उनके भाषण का कुछ असर न हुआ। साहजी के यहाँ शक्कर और अनाज का कारोबार होता था। डेंवढ़ी-सवाई चलती थी, लेन-देन करते थे, दो हल की खेती होती थी; गाँजा भाँग चरस आदि का ठीका भी ले लिया था, पर उनका भेषभाव उन्हें अधिकारियों के पंजे से बचाता रहता था।''[37]

उपर्युक्त उद्धरण पर ध्यान देने पर कुछ बातें साफ होती हैं। किसान प्रेमचंद की निगाह में प्रायः साफ दिल के होते हैं। वहाँ बहुत तीन-पाँच नहीं होता। लेकिन बनिया बिसेसर इतना सरल और सहज नहीं है। उसे अपने कारोबार और नफा-नुकसान का ध्यान बराबर बना रहता है और इसलिए वह अधिकारियों और सरकारी अमलों को खिला-पिलाकर उनके कोप से बचता रहता है। एक और बात यहाँ ध्यान देने की है। बिसेसर साह के यहाँ भी 'दो हल की खेती होती थी' लेकिन बिसेसर साह किसान नहीं है। प्रेमचंद के किसानों पर विचार करते हुए बराबर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि केवल खेती होने से वह किसान नहीं हो सकता। खेती जमींदारों के यहाँ भी होती

है, लेकिन वे भी प्रेमचंद की निगाह में किसान नहीं हैं। प्रेमचंद के किसान प्रायः छोटी जोतवाले किसान हैं, जो अपने खेतों में खुद काम करते हैं, केवल मजदूरों के भरोसे खेती नहीं करवाते। प्रेमाश्रम का 'मनोहर' और गोदान का 'होरी' ऐसे ही किसान हैं। ध्यान देने की बात है कि ये दोनों ही पिछड़ी जाति के किसान हैं। बहरहाल! बिसेसर साह का अपना हिसाब-किताब उसे अधिकारियों के साथ मेलजोल रखने को बाध्य करता है और वह पूरी कोशिश करता है कि अन्य गाँववालों के साथ उसे भी मुचलका न देना पड़े। इस कोशिश में वह तमाम गाँववालों के साथ विश्वासघात करता है और सरकारी अधिकारियों का भेदिया बन जाता है। गौस खाँ की हत्या के बाद के प्रसंग में प्रेमचंद लिखते हैं- ''लखनपुर के प्रायः सभी बालिग आदमियों को चालान हुआ। बिसेसर साह को टैक्स की धमकी ने भेदिया बना दिया।''[38]

'कर्मभूमि' का प्रकाशन 1932 में हुआ। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने दलितों की समस्या और उसके सुधार को विषय बनाया है। ध्यान देने की बात है कि 1932 के आसपास गाँधी बड़े महत्वपूर्ण ढंग से दलितों के सुधार के लिए अस्पृश्यता उन्मूलन और मंदिर प्रवेश का आंदोलन चला रहे थे। इस समय तक अंबेडकर भी दलितों के नेता के रूप में उभर चुके थे और दलितों के अधिकारों और उनकी शोषण से मुक्ति के लिए महत्वपूर्ण प्रयास कर रहे थे। ऐसे समय में प्रेमचंद 'कर्मभूमि' में इसी मुद्दे को कथा का विषय बनाते हैं। यह अकारण नहीं है कि 'कर्मभूमि' में अछूतोद्धार और मंदिर-प्रवेश के आंदोलन को प्रमुखता से स्थान दिया गया है।

उपन्यास के दूसरे भाग में अमरकांत भटकता हुआ जिस गाँव में पहुँचता है उसका संक्षिप्त विवरण देते हुए प्रेमचंद लिखते हैं- ''उत्तर की पर्वत-श्रेणियों के बीच एक छोटा-सा रमणीक पहाड़ी गाँव हैं।...इस गाँव में मुश्किल से बीस-पच्चीस झोंपड़े होंगे। पत्थर के रोड़ों को तले ऊपर रखकर दीवारें बना ली गई हैं। उन पर छप्पर डाल दिया गया है। द्वारों पर बनकट की टट्टियाँ हैं। इन्हीं काबुकों में इस गाँव की जनता अपने गाय-बैलों, भेड़-बकरियों को लिए अनन्त वे विश्राम करती चली आती है।''[39]

गाँव के झोपड़ों और वहाँ की जनता की जीवन-शैली के जरिए प्रेमचंद इस बात का संकेत कर दे हैं कि यह संभ्रांत लोगों का गाँव नहीं है। यहाँ पक्के मकान तक नहीं हैं, केवल बीस-पच्चीस झोपड़े हैं! गाँव की जनता कौन लोग हैं इसका पता तब चलता है। जब अमरकांत गाँव की एक बुढ़िया (सलोनी) से रात बिताने के लिए जगह माँगता है। बुढ़िया ने जवाब दिया- ''यहाँ तो सब रैदास रहते हैं भैया!''[40]

गाँव चमारों का है। सलोनी बुढ़िया के जवाब में सदियों पुरानी जाति प्रथा और अस्पृश्यता का अहसास भरा हुआ है। उसे अनुभव ने उसे सिखा दि है कि किसी को आश्रय देने से पहले उसे बता दिया जाए कि वह बस्ती चमारों की है। खैर! अमरकान्त को चमारों की बस्ती में टिकने में कोई आपत्ति नहीं है। वह कहता है- ''मैं जात-पाँत नहीं मानता माताजी। जो सच्चा है, वह चमार भी हो, तो आदर के जोग है; जो दगाबाज झूठा, लम्पट हो, वह ब्राह्मण भी हो, तो आदर के जोग नहीं।''[41]

अमरकांत के इस कथन के जरिए प्रेमचंद मनुष्यता और सहृदयता को जातिवाद के ऊपर स्थापित करते हैं।

बहरहाल! अमरकान्त अछूतों की बस्ती में टिक जाता है। पहली रात से ही उसे अछूतों की समस्याओं का अंदाजा होने लगता है। गूदड़ चौधरी का पोता रात में अमरकान्त के लिए दरी लेकर आता है तब अमरकान्त यूँ ही उससे पूछ लेता है कि वह कहाँ पढ़ने जाता है। लड़के का जवाब अछूत समाज के कड़वे यथार्थ को अमरकान्त के सामने उघाड़ कर रख देता है। प्रेमचंद लिखत हैं- ''बालक ने नीचे का ओठ सिकोड़कर कहा- कहाँ जायँ, हमें कौन पढ़ाये। मदरसे में कोई जाने तो देता नहीं। एक दिन दादा हम दोनों को लेकर गये थे। पण्डितजी ने नाम लिख लिया; पर हमें सबसे अलग बैठाते थे; सब लड़के हमें 'चमार-चमार' कहकर चिढ़ाते थे। दादा ने नाम कटा लिया।''[42]

गूदड़ चौधरी को जब मालूम हुआ कि अमरकान्त पढ़ा-लिखा है और अंग्रेजी भी जानता है, तब वह भी अमरकान्त पर विनम्र दबाव बनाता है- ''तब तो भैया, हम तुम्हें न जाने देंगे। बाल-बच्चों

को बुला लो और यहीं रहो। हमारे बाल-बच्चे भी कुछ पढ़ जायेंगे।''[43] गुदड़ के पोते का जवाब और स्वयं गूदड़ का दबाव अमरकान्त पर असर कर जाता है। अछूतों के उस गाँव में अमरकान्त की पाठशाला खुल जाती है और गाँव के लड़के लड़कियाँ उसमें पढ़ने लगते हैं।

'कर्मभूमि' के तीसरे भाग में अछूतों के मंदिर प्रवेश का प्रसंग विस्तार से आया है। ठाकुरद्वारे में एक महीने से कथा हो रही थी। उस दिन उस कथा में नौजवान सभा और डॉ. शांतिकुमार की सेवा-पाठशाला के विद्यार्थी और अध्यापक भी पहुँचे हुए थे। इन्हीं लोगों की प्रेरणा और प्रयास से कई दलित भी कथा सुनने पहुँचे हुए थे। अचानक हो हल्ला शुरू हो गया, भगदड़ मच गई। कारण यह था कि ब्रह्मचारी जी ने कथा सुनने आए दलितों को देख लिया था। प्रेमचंद इस घटना का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

''ब्रह्मचारी ने ब्रह्मतेज से लाल-लाल आँखें निकालकर कहा- बात क्या है, यह लोग भगवान् की कथा सुनने आते हैं कि अपना धर्म भ्रष्ट करने आते हैं! भंगी, चमार जिसे देखो घुसा चला आता है, - ठाकुरजी का मंदिर न हुआ सराय हुई।
समरकान्त ने कड़क कर कहा-निकाल दो सभी को मार कर!
एक बूढ़ें ने हाथ जोड़कर कहा-हम तो यहाँ दरबज्जे पर बैठे थे सेठजी, जहाँ जूते रखे हैं। हम क्या ऐसे नादन हैं कि आप लोगों के बीच में जाकर बैठ जाते। ब्रह्मचारी ने उसे एक जूता जमाते हुए कहा- तू यहाँ आया क्यों? यहाँ से वहाँ तक एक दरी बिछी हुई है। सब का-सब भरभंड हुआ कि नहीं? परसाद है, चरणामृत है, गंगाजल है। सब मिट्ी हुआ कि नहीं? अब जाड़े-पाले में लोगों को नहाना-धोना पड़ेगा कि नहीं?''[44]

इसी पूछताछ और बहस में ब्रह्मचारी जी को मालूम हुआ कि ये लोग तो रोज, यहाँ आते थे। फिर क्या था, ''धर्मात्माओं के क्रोध का वारापार न रहा। कई आदमी जूते ले-लेकर उन गरीबों पर

पिल पड़े। भगवान् के मंदिर में, भगवान् के भक्तों के हाथों, भगवान के भक्तों पर पादुका-प्रहार होने लगा।''[45]

उस दिन तो अछूतों को मारपीट कर भगा दिया गया और फिर उस दिन कथा भी नहीं हुई। लेकिन अगले दिन शांतिकुमार की प्रेरणा और उत्साह से कई सौ अछूत स्त्री-पुरुष फिर मंदिर की ओर चल पड़े। ये मंदिर तक तो पहुँचे पर धर्म के ठेकेदारों ने इन्हें मंदिर में प्रवेश नहीं करने दिया। लाठियाँ चली, लोग घायल हुए, मगर उस दिन भी मंदिर का द्वार नहीं खुल पाया। लेकिन अछूतों का जोश कम होने की बजाय बढ़ता गया। अब सुखदा (अमरकान्त की पत्नी) भी इनके साथ थी। संघर्ष तेज हुआ और दमन के हथियार भी बदले। लाठियों की जगह पुलिस की गोलियाँ चलीं। लेकिन अछूतों ने तय कर लिया था कि अबकी हार नहीं मानेंगे। अन्ततः अछूतों के लिए मदिर का द्वार खुल जाता है। प्रेमचंद लिखते हैं- ''दूसरे दिन मंदिर में कितना समारोह हुआ, शहर में कितनी हलचल मची, कितन उत्सव मनाए गए, इसकी चरचा करने की जरूरत नहीं। सारे दिन मंदिर में भक्तों को ताँता लगा रहा। ब्रह्मचारी आज फिर बिराजमान हो गए थे, और जितनी दक्षिणा उन्हें आज मिली, उतनी शायद उम्र भर में न मिली होगी। इससे उनके मन का विद्रोह बहुत कुछ शांत हो गया; किन्तु ऊँची जाति वालें सज्जन अब भी मंदिर में देह बचाकर आते और नाक सिकोड़े हुए कतराकर निकल जाते थे।''[46]

प्रेमचंद का संकेत स्पष्ट है। अछूतों के संघर्ष से भौतिक रूप से मंदिर का द्वार तो उनके लिए खुल गया है, लेकिन ऊँची जाति वालों के मन के द्वार अभी भी जातिवाद के मजबूत ताले से बंद हैं। जातिवाद का संस्कार अचानक एक दिन में समाप्त नहीं हो सकता। प्रेमचंद इस बात को खूब अच्छी तरह समझते हैं, इसलिए व्यक्तियों के हृदय परिवर्तन के तो ढेरों प्रसंग प्रेमचंद के साहित्य में मिल जाते हैं, मगर समष्टि के हृदय परिवर्तन का प्रसंग शायद ही कहीं मिलता है!

कर्मभूमि में गाँधी के अछूतोद्धार और मंदिर प्रवेश आंदोलन के प्रभाव को साफ तौर पर लक्षित किया जा सकता हैं। प्रेमचंद निश्चित रूप से गाँधी जी के गहरे प्रभाव में थे। लेकिन इसके

साथ-साथ प्रेमचंद के पास व्यापक सामाजिक अनुभव और समाज को समझने की अपनी गहरी अन्तदृष्टि भी थी। प्रेमचंद के साहित्य के विश्लेषण से यह बात समझ में आती है कि वे गाँधी जी के अस्पृश्यता-उन्मूलन के प्रयासों से तो प्रभावित हैं, मगर गाँधी जी के सिद्धांतों से वे पूरी तरह सहमत नहीं दिखाई पड़ते। 'कर्मभूमि' के आधार पर भी इस बात को परखा जा सकता है।

गाँधी वर्ण व्यवस्था को आदर्श सामाजिक व्यवस्था मानते हैं और उसका प्रबल समर्थन करते हैं। प्रेमचंद वर्ण व्यवस्था को सामाजिक ऊँच-नीच और शोषण का साधन मानते हैं। वर्ण व्यवस्था के प्रति तनिक भी सहानुभूति प्रेमचंद के मन में नहीं है। 'कर्मभूमि' में अछूतों के मंदिर प्रवेश वाले प्रसंग में शांतिकुमार नौजवान-सभा के सामने खुले मैदान में अलग से कथा का आयोजन करते हैं। इस बारे में प्रेमचंद लिखते है- ''यह देवी-देवताओं और अवतारों की कथा न थी। ब्रह्म-ऋषियों के तप और तज वृत्तन्त न था, क्षत्रियों के शौर्य और दान की गाथा न थी। यह उस पुरुष का पावन चरित्र था, जिसके यहाँ मन और कर्म शुद्धता ही धर्म का मूल तत्व है। वही ऊँचा है, जिसका मन शुद्ध है; वही नीचा है, जिनका मन अशुद्ध है- जिसने वर्ण का स्वाँग चरकर समाज के एक अंग को मदान्ध और दूसरे को म्लेच्छ नहीं बनाया। किसी के लिए उन्नति या उद्वार का द्वार नहीं बन्द किया-एक के माथे पर बड़प्पन का तिलक और दूसरे क माथे पर नीचता का कलंक नहीं लगाया।''[47]

वर्ण-व्यवस्था को लेकर गाँधी और प्रेमचंद के नजरिए में फर्क स्पष्ट है। गाँधी सहभोज के समर्थक नहीं थे। बल्कि और सपष्ट कहना चाहिए कि वे सहभोज के विरोधी थे। मगर प्रेमचंद के उपन्यास 'कर्मभूमि' का पात्र अमरकान्त अछूतों की बस्ती में उनके साथ रहता है, उनके साथ ही भोजन करता है। ऊँची जाति की (राजपूतनी) मुन्नी तो अछूतों की बस्ती में उन्हीं की होकर रहने लगती है और इसमें उसे हार्दिक शांति मिलती है। कहने का आशय यह है कि प्रेमचंद के साहित्य पर गाँधीवाद के प्रभाव को रेखांकित करते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि उसपर गाँधी और उनके आंदोलनों-प्रयासों का असर तो है, मगर वह गाँधी के सिद्धान्तों की कलात्मक अनुकृति

नहीं है। वहाँ कई स्थलों पर गाँधी के सिद्धांतों से एक 'क्रिटिकल डिस्टेंस' बहुत साफ दिखाई पड़ता है। ये प्रेमचंद के अपने सामाजिक अनुभव का कलात्मक रूपांतरण है।

'गोदान' (1936) तक आते-आते प्रेमचंद के किसान की तस्वीर मुकम्मल हो जाती है। 'प्रेमाश्रम' के मनोहर से लेकर 'गोदान' के होरी तक प्रेमचंद की पूरी औपन्यासिक यात्रा को ध्यान से दखें तो प्रेमचंद के किसान को बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है। यह अकारण नहीं है कि 'गोदान' के होरी को पढ़ते हुए कई बार 'प्रेमाश्रम' के मनोहर की झलक दिखाई पड़ती है। मनोहर, होरी और प्रेमचंद की कहानियों में आए तमाम किसान चरित्रों को देखते हुए प्रेमचंद के किसान के बारे में कुछ बातें निश्चित तौर पर कही जा सकती हैं कि-

- वे प्रायः छोटी जोत के किसान हैं, जो अपने खेतों में प्रायः स्वयं काम करते हैं।
- खेती उनके लिए महज व्यवसाय नहीं, बल्कि 'मरजाद' को बचाए रखने का साधन है।
- वे प्रायः पिछड़ी जाति के हैं।

होरी महज पाँच बीघे का किसान है। वह और उसका पूरा परिवार (यहाँ तक कि उसकी छोटी बेटी रूपा भी) खेतों में काम करता है। वह निश्चित रूप से प्रेमचंद का आदर्श किसान चरित्र है। खेत मातादीन के पास भी ह, बल्कि होरी से ज्यादा है। मगर प्रेमचंद की निगाह में वह किसान नहीं है। वह ब्राह्मण है और उसका मूल व्यवसाय जजमानी है। मातादीन का बेटा दातादीन झिंगुरी सिंह से कहता है- ''तुम जजमानी को भीख समझो, मैं तो उसे हमींदारी समझता हूँ; बंकघर। जमींदार मिट जाए, वंकघर टूट जाए लेकिन जजमानी अन्त तक बनी रहेगी। जब तक हिन्दू-जाति रहेगी, तब तक ब्राह्मण भी रहेंगे और जजमानी भी रहेगी।... ऐसा चैन न जमींदारी में है, न साहूकारी में।''[48]

इससे आगे प्रेमचंद मातादीन की खेती के बारे में लिखते हैं' ''दूसरे पेड़ के नीचे दातादीन का निजी पैरा था। चार बैलों से मड़ाई हो रही थी। धन्ना चमार बैलों को हाँक रहा था, सिलिया पैर से अनाज निकाल-निकालकर ओसा रही थी और मातादीन दूसरी ओर बैठा अपनी लाठी में तेल मल रहा था।''[49]

गौर करने की बात है कि मातादीन के पास खेत है, मगर वह खेती का काम नहीं करता। धन्ना चमार खेत में काम करता है, मगर उसके पास अपना खेत नहीं हैं। वह दूसरों के खेत में मजदूरी करता है। होरी के पास थोड़े-से सही, पर अपने खेत हैं और वह सपरिवार उसमें काम करता है। प्रेमचंद की निगाह में किसान न तो मातादीन है और न धन्ना चमार, किसान तो होरी ही है। खेती-किसानी अगर किसी के लिए मरजाद का मामला है तो होरी के लिए। उपन्यास के शुरूआती प्रसंगों में ही गोबर को समझाते हुए होरी कहता है- ''हमीं को खेती से क्या मिलता है? एक आने नफरी की मजूरी भी तो नहीं पड़ती। जो दस रुपए महीने का भी नौकर है, वह भी हमसे अच्छा खाता-पहनता है; लेकिन खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता। खेती छोड़ दें, तो और करें क्या? नौकरी कहीं मिलती है? फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में तो नहीं है।''[50]

प्रेमचंद के पूरे कथा साहित्य में मरजाद का सवाल छाया हुआ है। इस मरजाद के लिए चिंता करने वाले प्रायः पिछड़ी जाति के किसान हैं। क्या इस तथ्य को महज एक संयोग मानकर छोड़ दिया जाना चाहिए? प्रेमचंद के लिए किसान केवल अर्थ आधारित वर्ग ही नहीं है, बल्कि वह एक जाति आधारित वर्ग भी है। इसलिए प्रेमचंद के किसानों पर विचार करते समय जाति के सामाजिक आधार को नजर अंदाज नहीं किया जाना चाहिए। प्रेमचंद के साहित्य में आए तमाम किसानों की सूची बनाई जाए तो बहुत ही कम किसान ऊँची जातियों और दलित जातियों के मिलेंगे। 'रंगभूमि' के सूरदास को देखिए। उसके पास जमीन तो है, पूरे उपन्यास की कथा उसी ज़मीन को बचाने के

संघर्ष की कथा है, मगर सूरदास भी किसान नहीं है। 'कर्मभूमि' में दलितों की बस्ती में सलोनी बुढ़िया और गूदड़ चौधरी के पास भी कुछ खेत हैं, लेकिन प्रेमचंद ने उन्हें कभी खेती करते या खेती की चिन्ता करते हुए नहीं दिखाया। खेती-किसानी की जो पूरी एक संस्कृति प्रेमचंद के कथा साहित्य में दिखाई पड़ती है, वह प्रायः पिछड़ी जाति के किसानों के संदर्भ में ही दिखाई पड़ती है, अन्यत्र नहीं। प्रेमचंद के किसान और कृषक संस्कृति के इस जातिगत सामाजिक पहलू को ठीक से समझे जाने की जरूरत है। इस विषय पर बारीकी से पहली बार विचार किया है युवा आलोचक डॉ. कमलेश वर्मा ने। उन्होंने अपने लेख 'प्रेमचंद के किसान, पिछड़ी जातियाँ और भारतीय संस्कृति' में प्रेमचंद के किसानों की जातिगत पहचान तथा भारत की कृषि-संस्कृति के निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका का बेहतरीन विश्लेषण किया है। वे लिखते हैं- " 'गोदान' के होरी महतो से लेकर 'पूस की रात' के हल्कू तक- जहाँ भी किसान है, वह पिछड़ी जाति का व्यक्ति है। प्रेमचंद ने किसान को लेकर जितनी कहानियाँ लिखी है, उनमें किसान के रूप में पिछड़ी जाति के ही पात्र हैं।... उन्होंने जहाँ भी किसान-जीवन को विषय बनाया है, वहाँ के पात्र पिछड़ी जातियों से चुना है। उनकी स्पष्ट दृष्टि दिखाई पड़ती है कि किसान का अर्थ है पिछड़ी जातियाँ। उन्होंने ऊँची जातियों तथा दलित जातियों से किसान पात्र नहीं लिए हैं।"[51]

'गोदान' में होरी की जाति का स्पष्ट उल्लेख प्रेमचंद ने नहीं किया है। हाँ, इतना अवश्य स्पष्ट है कि वह पिछड़ी जाति का किसान है, संभवतः कोइरी या कुर्मी। रामविलास शर्मा होरी की जाति का अनुमान करते हैं। 'प्रेमाश्रम' के मनोहर और 'गोदान' के होरी की तुलना करते हुए होरी के भी अहीर होने का अनुमान करते हुए वे लिखते हैं- "मनोहर और होरी दोनों महतो हैं; मनोहर अहीर है, होरी भी उसी बिरादरी का जान पड़ता है।"[52]

अनुमान करने तक तो कोई परेशानी की बात नहीं है, लेकिन रामविलास जी अपने इस अनुमान को सत्य बनाकर स्थापनाएँ भी दे डालते हैं। यहाँ समस्या खड़ी होती है। गोबर भोला की

विधवा बेटी झुनिया को पसन्द करता है, झुनिया भी गोबर को पसन्द करती है। गोबर झुनिया से विवाह करके उसे अपने साथ रखना चाहता है, मगर उसे 'विरादरी के झंझट' की चिन्ता है। रामविलास जी बिरादरी के इस झंझट की व्याख्या करते हुए स्थापना देते हैं- "गोबर बिरादरी के जिस झंझट के बारे में सोचता है, उसका संबंध एक विधवा को घर में डालने से है, अन्तर्जातीय विवाह से नहीं।"[53] रामविलास जी की यह स्थापना सही नहीं है। 'गोदान' के बिल्कुल प्रारंभिक प्रसंगों से ही यह बात स्पष्ट हो जाती हैं कि होरी अहीर नहीं है। भोला और होरी की जाति अलग-अलग है। उपन्यास के प्रारंभ में ही जब होरी रायसाहब से मिलने जा रहा है और रास्ते में भोला से उसकी मुलाकात होती है तब उसकी नई गाय को देखकर होरी भोला से कहता है- "इसमें क्या संदेह है भाई! मालिक क्या खा के लेंगे? नजराने में मिल जाय, तो भले ले लें। यह तुम्हीं लोगों का गुर्दा है कि अँजुली-भर रुपये तकदीर के भरोसे गिन देते हो। यही जी चाहता है कि इसके दरसन करता रहूँ। धन्य है तुम्हारा जीवन कि गऊओं की इतनी सेवा करते हो!"[54] होरी के कथन में 'तुम्ही लोगों' से स्पष्ट संकेत भोला की बिरादरी के लोगों की तरफ होता है।

इसी तरह जब होरी के घर गाय आ जाती है तब गाँव के लोगों की प्रतिक्रिया और जनमत को प्रेमचंद अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं- "जिसने सुना, सब काम छोड़कर देखने दौड़ा। वह मामूली देशी गऊ नहीं है। भोला के घर से अस्सी रुपये में आई है। होरी अस्सी रुपये क्या देंगे, पचास-साठ रुपये में लाए होंगे। गाँव के इतिहास में पाचास-साठ रुपये की गाय का आना भी अभूतपूर्व बात थी। बैल तो पचास रुपये के भी आए, सौ के भी आए लेकिन गाय के लिए इतनी बड़ी रकम किसान क्या खा के खर्च करेगा? यह तो ग्वाले ही का कलेजा है कि अंगुलियों रुपये गिन आते हैं।"[55] 'यह तो ग्वाले ही का कलेजा है...' और 'होरी अस्सी रुपये क्या देंगे' से साफ ज़ाहिर है कि होरी अहीर नहीं है।

झुनिया को घर में रखना केवल विधवा को घर में रखने की ही समस्या नहीं, अन्तर्जातीयता की भी समस्या है। अन्तर्जातीयता के कारण ही यह 'बिरादरी' का झंझट है अन्यथा अगर केवल विधवा को घर में रखने की बात होती तो यह पूरे गाँव-समाज की निगाह में एक नैतिक अपराध होता। बिरादरी का झंझट और उससे मुक्ति के लिए डाँड़ देना- यह सब समाज की जातिगत समस्या है। भोला और होरी को एक ही जाति का मानकर और झुनिया के होरी के घर आकर रहने को अन्तर्जातीय विवाह की समस्या न मानकर रामविलास जी बड़ी गलती करते हैं। गोबर जब शहर से लौटकर आता है और भोला के घर अपने बैल लेने जाता है, तब भोला की बात से भी होरी और भोला के अलग-अलग जाति के होने का संकेत मिलता है। भोला गोबर से कहता है- ''बिरादरी का ढकोसला है, नहीं तुममें और हममें कौन भेद है? सच पूछो तो मुझे खुश होना चाहिए था कि झुनिया भले घर में है, आराम से है।''[56] इसी तरह के छिटपुट और भी संकेत 'गोदान' में मिल जाते हैं, जिनसे होरी और भोला की अन्तर्जातीयता का पता चलता है। बहरहाल!

'गोदान' में जाति का सवाल एक और दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद के पूरे कथा-साहित्य में 'गोदान' में संभवतः पहली बार दलित समुदाय इतना मुखर और सक्रिय प्रतिरोध करता हुआ दिखाई पड़ता है। सिलिया और मातादीन के संबंध के माध्यम से प्रेमचंद ने ब्राह्मणों के चरित्र के दोहरेपन को प्रकट किया है, जो एक चमारिन के साथ शारीरिक संबंध तो रखता है, मगर उसे अपने घर और चौके में घुसने देने में उसके ब्राह्मणत्व में बट्टा लग जाता है। सारे नैतिक-अनैतिक कर्म-कुकर्म करने के बाद भी नेम-धर्म के नाम पर अपने ब्राह्मणत्व का दंभ भरने वाले दातादीन और मातादीन पर चुटकी लेते हुए प्रेमचंद ने लिखा है- ''दातादीन अपनी जवानी में स्वयं बड़े रसिया रह चुके थे; लेकिन अपने नेम-धर्म से कभी नहीं चूके। मातादीन भी सुयोग्य पुत्र की भाँति उन्हीं के पद-चिन्हों पर चल रहा था। धर्म का मूल तत्व है पूजा-पाठ, कथाव्रत और चौका-चूल्हा। जब पिता-पुत्र दोनों ही मूल तत्व को पकड़े हुए हैं, तो किसकी मजाल है कि उन्हें पथभ्रष्ट कह सके?''[57]

दातादीन का बेटा मातादीन सिलिया के साथ शारीरिक संबंध रखता है, सिलिया को लगता है मातादीन उसे प्रेम करता है, मगर मातादीन उसे केवल अपनी यौन तुष्टि के साधन के रूप में इस्तेमाल करता है और उसे मजदूरनी से अधिक कुछ नहीं समझता। प्रेम के वशीभूत होकर सिलिया भले मातादीन की सच्चाई को नहीं समझ पाती मगर सिलिया के परिवार वाले अपने सामाजिक अनुभव से इस यथार्थ को खूब अच्छी तरह समझते हैं कि एक ब्राह्मण एक चमारिन को अपनी यौन-तृप्ति का साधन तो बना सकता है, पर उससे प्रेम नहीं कर सकता, उसे अपने घर में, आपनी पत्नी के रूप में, स्थान नहीं दे सकता। 'गोदान' में सिलिया और मातादीन का पूरा प्रसंग इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इसमें दलित समुदाय ब्राह्मणों के चारित्रिक दोहरेपन और समाज के जातिवादी दाँचे को अच्छी तरह समझ पर रहा है, बल्कि यह पूरा प्रसंग इस कारण से ज्यादा महत्वपूर्ण है कि इसमें दलित समुदाय सामाजिक जातिवादी यथार्थ की अपनी समझ को सक्रिय प्रतिरोध में तब्दील कर पा रहा है। सिलिया के बाप हरखू का कथन जैसे दलित समुदाय के संकल्प के रूप में अभिव्यक्त हुआ है- "हम आज या तो मातादीन को चमार बन के छोड़ेंगे, या उनका और अपना रकत-एक कर देंगे। सिलिया कन्या जात है, किसी-न-किसी के घर जाएगी ही।... मगर उसे जो कोई भी रखे, हमारा होकर रहे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है, तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो, तो अपन धरम हमें दो।"[58] सिलिया की माँ का आक्रोश भी सिलिया पर फूटता है- "जब ब्राह्मण के साथ रहती है, तो ब्राह्मण की तरह रह। सारी बिरादरी की नाक कटवाकर भी चमारिन ही बनना था, तो यहाँ क्या घी का लोंदा लेने आई थी!"[59] सिलिया की माँ का अक्रोश प्रतिरोध की शक्ल लेता है इन शब्दों में- "हम चमार हैं, इसलिए हमारी कोई इज्जत ही नहीं! हम सिलिया को अकेले न ले जाएंगे, उसके साथ

मातादीन को भी ले जाएंगे, जिसने उसकी इज्जत बिगाड़ी है। तुम बड़े, नेमी-धरमी हो। उसके साथ सोओग; लेकिन उसे हाथ का पानी न पिओगे!''[60]

इन सब संकल्प-उद्घोष की परिणति होती है मातादीन को चमार बनाकर। मातादीन के मुँह में बड़ी-सी हड्डी ठूँस दी जाती है, उसके जनेऊ तोड़ दिए जाते हैं। यह पूरा प्रसंग बदलते हुए सामाजिक जातिवादी समीकरण के प्रति प्रेमचंद की सचेत दृष्टि का प्रमाण है। 1930 के बाद दलितों के अपने अधिकरों के प्रति बढ़ते रूझान और उसके लिए उनके प्रतिरोध को प्रेमचंद बारीकी से समझ और महसूस कर रहे थे। गोदान का यह पूरा प्रसंग जातिवाद के इसी बदलते सामाजिक यथार्थ की भविष्यवाणी है और साथ ही ऊँची जाति के 'मातादीनों' को चेतावनी थी।

पांडेय बेचन शर्मा उग्र ने भंगी समाज को केंद्र में रखकर अपना तीसरा उपन्यास 'बुधुआ की बेटी' 1928 में लिखा जो बाद में (1955 में दूसरा संस्करण) मनुष्यानंद नाम से प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास बुधुआ (बुधराम) और उसकी बेटी रधिया तथा अन्य दलित पात्रों के माध्यम से भंगी समाज की स्थिति को हिंदी पाठकों के सामने लाने का प्रयास करता है। यह दलित-भंगी समाज की वास्तविकता को उद्घाटित करने वाले शुरुआती उपन्यासों में से एक है। भंगी समाज का इतना विस्तृत चित्रण संभवतः इससे पहले नहीं हुआ था।

उग्र के इस उपन्यास में बहुत-सी अवांतर कथाएँ चलती रहती हैं, जिनका उपन्यास के मूल विषय -दलित जीवन का संघर्ष- से कोई संबंध दिखाई नहीं पड़ता। यहाँ तक कि उपन्यास के शीर्षक 'बुधुआ की बेटी' की भी सार्थकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि बुधुआ की बेटी रधिया की कथा का भी दलित प्रश्न से कोई सीधा संबंध दिखाई नहीं पड़ता। संभव है इसी कारण दूसरे संस्करण में उग्र ने उपन्यास का शीर्षक 'मनुष्यानंद' कर दिया। मनुष्यानंद इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है जो दलितों की मुक्ति के लिए दलितों को जगाने का काम करता है।

जाति व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर स्थित, दलितों में भी दलित भंगी समाज को अपने उपन्यास का विषय बना कर उग्र जातिवादी समाज व्यवस्था के यथार्थ को सामने लाने के साथ-साथ उसकी कड़ी आलोचना भी करते हैं। अघोड़ीराज बाबा मनुष्यानंद के माध्यम से उग्र हिन्दू समाज की जातिवादी संरचना की आलोचना करते हैं और इसे पतन का लक्षण बताते हैं- "यदि महोदय, पतन नामक कोई चीज भी संसार में होती है, तो यह देश और इस देश के आर्य इस समय पतन की चरम सीमा पर पहुँच गए हैं। यहाँ, जहाँ पर किसी समय प्रत्येक प्राणी ईश्वर समझा जाता था- इस समय, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने से जाति में छोटा समझता है, कुल में छोटा समझता है, नीच समझता है, पतित समझता है, अस्पृश्य समझता है।"[61]

जातिवाद की आलोचना करते हुए बाबा मनुष्यानंद आगे कहते हैं- "हिन्दू मूर्ख हैं, उन्हें अभी संसार के चरणों की अनेक ठोकरें खानी हैं। इसीलिए उनके यहाँ इतनी जातियाँ, उपजातियाँ, ऊँच-नीच और अछूत हैं।"[62]

उग्र ने अपने इस उपन्यास में भंगी समाज की वास्तविक स्थिति और भंगियों के जीवन संघर्ष को उन्ही के माध्यम से अभिव्यक्त करवाकर अनुभूति की प्रामाणिकता को सुनिश्चित किया है। उपन्यास के नायक बुधुआ और बाबा मनुष्यानंद अछूतोद्धार का संकल्प लेकर भंगियों के बीच जाते हैं, उनकी समस्याएँ सुनते हैं और उनकी मुक्ति के लिए उन्हें उत्साहित करते हैं। इसी प्रक्रिया में भंगी समाज के वास्तविक चित्र उपन्यास में उभरते हैं। भंगियों द्वारा अपनी स्थिति के बयान के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं-

i) "नरक तो है ही भैया, सारी जिंदगी, केवल लोगों का मैला फेंककर गुजर करना पूरा नरक-दंड है। सुबह-शाम जब पैसे वाले, अपने को 'ऊँच' लगाने वाले लोग ईश्वर-चिंतन और हवा-खोरी की तैयारी करते हैं उस वक्त हम क्या करते हैं? या तो कूड़ा-गाड़ी की गंदी हवा से अपनी साँसों में जहर भरते

हैं या पाखानों में झाड़ू देकर, अपने माथे पर मैले का मुकुट धारण कर, पतितों के सरदार की तस्वीर बनते हैं।...यह नरक-भोग नहीं तो और क्या है?"[63]

ii) "चौधरी, हमारे पास कचारने लायक कपड़े ही कहाँ होते हैं। हम तो शहर और गाँव के लोगों के पुराने-धुराने उतारे हुए कपड़ों से अपना गुजर करते हैं। वे कपड़े ऐसे थोड़े ही होते हैं कि रोज-रोज कचारे जा सकें।...देहाती दलितों के पास एक लंगोटी को छोड़कर और होता ही क्या है कि वे उसे कचारें और साफ रखेंगे?"[64]

iii) "हजूर, हमें तो देहात वाले कुरता पहनने ही नहीं देते। कहते हैं, ससुर भंगी की जात और पहनोगे ऊँचो की तरह कुरते! अगर हम लँगोटी छोड़कर घुटने इतनी ऊँची धोती भी पहनें, तो हम पर बिना मार और गालियों की वर्षा किए देहाती 'ऊँच' न मानें। ऐसी हालत में अगर हम सफाई से रहना शुरू करेंगे, तो लात भी खाएँगे और अपनी लगी-लगाई रोजी से भी हाथ धो बैठेंगे।"[65]

iv) "हम भंगी बेकसूर भी जेलों में भेजे जाते हैं। जेल वाले बाहरी अफसरों को लिखकर हमें माँगते हैं, जेल के पाखाने साफ करने के लिए क्योंकि, दूसरी जात वाले मुश्किल से यह काम करते हैं। इसलिए, जब तक ये जेलें हैं तब तक, हम भंगियों का उनमें रहना जरूरी है। फिर चाहे हम कुसूर करें या न करें।"[66]

उपर्युक्त उद्धरणों से दलित-भंगी समाज की जो तस्वीर हमारे सामने उभरती है, वह अब हमें सामान्य-सी लग सकती है, क्योंकि दलित साहित्य के माध्यम से हम दलित समाज के और भी वीभत्स तथा क्रूर यथार्थ से परिचित हो चुके हैं। लेकिन यहाँ हमें यह ध्यान में रखना होगा की उग्र भंगी समाज की यह तस्वीर 1928 में हमारे सामने रख रहे थे, जब दलित साहित्य जैसी कोई चीज़ मौजूद नहीं थी। यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि प्रेमचंद ने भी तब तक दलित समाज का चित्रण लगभग नहीं किया था। इस तरह दलित समाज, खास तौर पर भंगियों के सामाजिक यथार्थ

को चित्रित करने वाला यह पहला उपन्यास माना जा सकता है। यह बात इस उपन्यास के ऐतिहासिक महत्व को सुनिश्चित करती है।

जाति व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर स्थित भंगी जाति के एक लड़के के जीवन को केंद्र में रखकर लिखा गया इन्द्र बसावड़ा का उपन्यास 'घर की राह' 1935 में प्रकाशित हुआ। भंगी जीवन का यथार्थ इससे पहले उग्र के उपन्यास 'बुधुआ की बेटी' में सामने आया था। इस तरह भंगियों के जीवन पर लिखा गया यह हिंदी का संभवतः दूसरा उपन्यास माना जा सकता है। यह उपन्यास भंगियों के यातनापूर्ण और अमानवीय जीवन के यथार्थ को पाठकों के सामने उपस्थित करता है। उपन्यास का केंद्रीय पात्र टूँडा उर्फ मुन्नू अज्ञात कुलशील बालक है। लेकिन सामाजिक जीवन में अज्ञात कुलशील होकर तो रहा नहीं जा सकता! इसलिए गाँव में उसे लेकर कई तरह की बातें होती हैं- "गाँव के बूढ़े कहते कि टूँडा भंगी का लड़का है और उसके माँ-बाप इस गाँव से 5 मील दूर ढोलमगाँव में उसे बच्चा छोड़कर मर गए थे।...पर गाँव के युवकों की एक ऐसी मंडली भी थी, जो कहती थी की टूँडा में भंगी के कोई लक्षण नहीं पाए जाते। वह तो कंजर का लड़का है... यह एक जटिल समस्या थी, जिसे अभी तक कोई न सुलझा सका था।"[67] फिर भी लोकमत ने टूँडा को भी यह मान लेने को मजबूर कर दिया था कि वह भंगी ही है, जो आजीवन अपमानित होने को अभिशप्त है। उपन्यास का आरंभ ही टूँडा के अपमान और उपहास के प्रसंग से होता है। यह वस्तुतः पूरे भंगी समाज की नियति रही है जो टूँडा के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

सामाजिक परिवर्तन केवल व्यक्तिगत मसला नहीं है। इसलिए किसी एक या कुछ एक व्यक्तियों के व्यक्तिगत परिवर्तन या सुधार से सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है। इस उपन्यास में भी यह बात दिखाई पड़ती है। उपन्यास में डॉक्टर बिसुनसहाय जी जाति के कायस्थ हैं और थोड़े प्रगतिशील विचारों के आदमी हैं। वे टूँडा को अपने घर में रख लेते हैं। लेकिन अकेले डॉक्टर साहब के प्रगतिशील होने से क्या होता है! गाँववाले इस बात को कैसे बर्दाश्त कर लेते? उपन्यासकार इस प्रसंग में गाँववालों की प्रतिक्रिया दर्ज करता है- "गाँव की जनता धार्मिक अधिक होती है। ब्राह्मण ब्राह्मण में भेद होता है। ब्राह्मण ब्राह्मण के हाथ का, महाजन महाजन के हाथ का नहीं खाता। कोई-

कोई तो अपनी जाति के हाथ के अलावा किसी का छुआ पानी भी नहीं पीते, फिर और क्या कहा जाए। ऐसे धार्मिक गाँव में ऐसा अधर्म हो जाए कि एक अछूत एक कायस्थ के घर में रहे, छुए और खाए पीए और वही कायस्थ डॉक्टर जनता को, उच्च गुर्जर गौड़ ब्राह्मण को दवाई दे और छुए! इस बात को गाँव की धार्मिक जनता कैसे सह सकती है?"[68]

जाहिर है जनता का यह लक्षण धार्मिकता का नहीं, बल्कि जातिवाद का है। लेकिन हिन्दू धर्म और जाति व्यवस्था के अटूट संबंध के कारण जातिवाद के लिए धार्मिकता का चोला पहन लेना बहुत ही आसान है। गाँववाले ऐसी ही जातिवादी धार्मिकता से ग्रस्त हैं, जिनसे अकेले एक व्यक्ति के लिए लड़ना आसान नहीं है। डॉक्टर बिसुनसहाय गाँव के लोगों की मानसिकता को समझते हैं। वह जानते हैं कि गाँव वाले भंगी टूँड़ा का उनके यहाँ रहना बर्दाश्त नहीं करेंगे। इसलिए डॉक्टर बिसुनसहाय एक युक्ति से काम लेते हैं और गाँव के लोगों के सामने गाँव के ही एक युवक बदरीनाथ से इस बात की गवाही दिलवा देते हैं कि टूँड़ा भंगी नहीं माली है। अब टूँड़ा भंगीपन से मुक्त हो जाता है और गाँव की जनता के लिए स्वीकार्य भी! हालाँकि गाँव के कुछ महाजनों और ब्राह्मणों को संदेह अब भी बना हुआ है, लेकिन गाँव की सामान्य जनता उसे माली मानकर स्वीकार कर लेती है। इस प्रकरण से जातिवादी समाज के व्यवहार को समझा जा सकता है। जातिवादी समाज में व्यक्ति की निजी पहचान जाति की पहचान के आगे शून्य है। टूँड़ा जब तक गाँव वालों की निगाह में भंगी था, वह त्याज्य था, लेकिन माली सिद्ध हो जाने पर वह गाँव वालों के लिए स्वीकार्य हो जाता है। यानि जाति ही समाज में सबसे बड़ी पहचान है। इस प्रकरण में दलितोद्धार की गाँधीवादी पद्धति की सीमाएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं। दलितों के उद्धार के लिए उनकी साफ-सफाई का जो तर्क दिया जाता है, उसकी भी असलियत इस प्रकरण में सामने आ जाती है। गाँववाले टूँड़ा से इसलिए नफरत नहीं करते कि वह गंदा रहता है, बल्कि इसलिए करते हैं कि वे उसे भंगी मानते हैं। यही कारण है कि टूँड़ा के भंगी से माली सिद्ध होते ही वह जातिवादी समाज के लिए स्वीकार्य हो जाता है, अपनी उसी गंदगी के बावजूद!

बहरहाल डॉक्टर बिसुनसहाय टूँड़ा को गाँववालों की नजर में तो भंगी से माली बना देते हैं, लेकिन अपने ही घर में अपनी पत्नी के जातिवादी आग्रहों के आगे बहुत मजबूती से टिक नहीं पाते। टूँड़ा उर्फ मुन्नू को अपने भंगी होने का एहसास वहाँ भी लगातार होता रहता है और अंततः वह वहाँ से भाग जाता है। भंगी होने के सामाजिक कलंक को ढोते हुए और बार-बार अपमानित-प्रताड़ित होते हुए वह 'क्राइस्टपुर' पहुँचता है और एक ईसाई मिशनरी के हाथ लग जाता है, जहाँ टूँड़ा के धर्मांतरण की तैयारी होती है।

धर्मांतरण भारतीय जातिवादी समाज में और खासकर स्वतंत्रता-पूर्व के भारतीय समाज में एक महत्वपूर्ण परिघटना है। उस दौर में बड़े पैमाने पर धर्मांतरण की घटनाएँ हुईं और उसे रोकने के लिए कांग्रेस और आर्य समाज ने जोरदार ढंग से प्रयास भी किए। दरअसल धर्मांतरण (विशेषकर ईसाई धर्म) समाज के दलित वर्ग को एक बेहतर जीवन का विकल्प उपलब्ध करा रहा था। ऐसे में हिन्दू धर्म के भीतर सदियों से अपमान और उपेक्षा का जीवन जी रहे दलितों के लिए धर्मांतरण की ओर आकृष्ट होना कोई अस्वाभाविक बात भी नहीं थी। लेकिन धर्मांतरण की इस प्रक्रिया में हिन्दू धर्म का एक बड़ा हिस्सा उससे कट रहा था। कांग्रेस और आर्य समाज की चिंता उस बड़े हिस्से को हिन्दू धर्म से अलग होने से रोकने की थी। यह चिंता आजादी से पहले के अधिकांश उपन्यासों में (जिसमें भी इस समस्या को उठाया गया है) दिखाई पड़ती है। इन्द्र बसावड़ा भी 'घर की राह' में धर्मांतरण की इस समस्या को उठाते हैं।

'क्राइस्टपुर' में मुन्नू को धर्मांतरित करने का प्रयास किया जाता है। लेकिन मुन्नू धर्मांतरित नहीं होना चाहता। वह अपने धर्म में बने रहना चाहता है। उपन्यास में भंगी मुन्नू का जिस तरह का जीवन चित्रित किया गया है, उसके आधार पर यह बात समझ से परे है कि मुन्नू के भीतर यह चेतना कहाँ से आती है। जिस हिन्दू धर्म ने उसे हमेशा बेघर बनाए रखा, जहाँ किसी भी तरह का सुख उसे न मिल सका, उस हिन्दू धर्म के प्रति ऐसी आस्था मुन्नू के भीतर कैसे पैदा होती है? लेखक इस सवाल का जवाब नहीं देता। जाहिर है लेखक स्वयं सनातन हिन्दू धर्म के दबाव में है। यह

अकारण नहीं है कि उसका आदर्श ऋग्वेदकालीन आर्य हैं। लेखक की दलितोद्धार की चिंता की बुनियाद में दरअसल हिन्दू धर्म की रक्षा है। उपन्यास के एक प्रसंग में एक कांग्रेसी युवक विमलचंद्र दलितोद्धार का गाँधीवादी संदेश सुनाते हुए कहता है- "यदि हम सच्चे आर्य हैं, आर्य संतान कहलाने का दावा रखते हैं, यदि आज भी हमारी नसों में पुरातन आर्यों का रक्त बहता है, तो उन ऋग्वेदकालीन आर्यों की भाँति अपना हृदय निर्मल और शुद्ध रखना होगा, इस अछूतपन को मिटाकर हरिजन भाइयों को गले लगाना होगा।...यदि ऐसा न होगा तो याद रखो, हिन्दू जाति का विध्वंस हो जाएगा। हिन्दू जाति का नामोनिशान इस संसार से मिट जाएगा।"[69]

इस उपन्यास में स्पष्ट रुप से दिखाई पड़ता है कि लेखक गाँधीवाद के जबर्दस्त गिरफ्त में है। वह दलितों के प्रति सहानुभूति तो रखता है, किंतु उनकी मुक्ति हिन्दू धर्म के ढांचे के भीतर ही देखता है।

खैर, जातिवादी समाज के व्यवहार के दोचित्तेपन को उपन्यासकार ने बिल्कुल ठीक-ठीक पकड़ा है। जाति की तथाकथित मर्यादा की रक्षा के नाम पर ऊँची जातिवालों ने समाज के एक बड़े हिस्से को अछूत बना दिया है। इनके साथ किसी भी किस्म के सामाजिक संबंध से ऊँची जातिवालों की तथाकथित जातिगत मर्यादा भंग हो जाती है। इनके साथ ऊँची जातियों का संबंध बस इतने तक सीमित है कि यह उनके घरों की गंदगी अपने माथे पर ठोकर उन्हें साफ करते रहें बस! इन अछूतों के स्पर्श मात्र से ऊँची जातिवालों की मर्यादा और उनकी पवित्रता नष्ट हो जाती है! लेकिन जाति की मर्यादा और पवित्रता का यह ढोंग दिन के उजाले में किया जाता है। रात के अंधेरे में अछूत स्त्री को अपने बाहुपाश में जकड़ कर भी इन तथाकथित 'पवित्र पुरुषों' की जातिगत मर्यादा अक्षुण्ण बनी रहती है। 'घर की राह' उपन्यास में तुलसी महाराज के माध्यम से उपन्यासकार ने जाति के इस आडंबर और उसके सामाजिक यथार्थ को स्पष्ट किया है। बसावड़ा लिखते हैं- "मोटा तुलसी महाराज अपनी तोंद पर हाथ फेरता, दूसरे हाथ से अभिनय करता एक वृक्ष के सहारे खड़ी भंगी की लड़की

चुनियाँ से बातें करने लगा।...चुनियाँ हँसती हुई पास आ गई। तुलसी महाराज ने उसका एक हाथ पकड़ अपनी ओर खींचा और दूसरे हाथ में रुपया दे उसे अपनी छाती से लगा लिया।"[70]

भंगी की लड़की चुनियाँ को रात के अंधेरे में छुपकर छाती से लगाकर अपनी यौन क्षुधा को तृप्त करने में तुलसी महाराज का धर्म भ्रष्ट नहीं होता। यहीं लेखक जातिवादी व्यवहार के दोहरेपन को स्पष्ट करने के लिए मुन्नू उर्फ टूँड़ा को उपस्थित करता है। मुन्नू डॉक्टर बिसुनसहाय के घर से भागकर भटकता हुआ भूखा-प्यासा वहीं पहुँचा था और रात के अंधेरे में छुपकर कुएँ के पास पड़ा था। उसे प्यास लगी थी और वह कुएँ से पानी पीने की अनुमति माँगने के लिए तुलसी महाराज के पैर छू लेता है। फिर क्या था- तुलसी महाराज का धर्म भ्रष्ट हो जाता है! तुलसी महाराज मुन्नू को दुत्कारता हुआ एक लात जमा देता है। चुनियाँ इस पूरे प्रकरण को देखती है। वह 'ब्राह्मण देवता' के दोहरे चरित्र को परख लेती है और तुलसी महाराज को फटकारती हुई कहती है- "क्यों मारा इसे तुमने! मुझे छूने में तो तुम्हारा धरम न बिगड़ा और इसे..."[71]

भंगी चुनियाँ की यह बात जातिवादी समाज के छद्म और उसके दोमुँहेपन को उघाड़कर रख देती है।

भारतीय समाज के जातिवादी रवैये को समझने के लिहाज से निराला का उपन्यास 'निरुपमा' (1936) अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह उपन्यास जातिवादी समाज के भीतर जाति के नियमों की अवहेलना करने पर होनेवाले 'जाति-बहिष्कार' को विषय बनाकर लिखा गया है। निराला ने इस उपन्यास में जहाँ जाति-बहिष्कार की कठोरता को उद्घाटित किया है, वहीं इस बात पर भी तगड़ा व्यंग्य किया है कि जातिवादी समाज अपने नफा-नुकसान को देखते हुए धर्म और जाति के नियमों की अवसरानुकूल व्याख्या कितनी चतुराई से कर लेता है! इस उपन्यास में द्वारिका नाई, मकुआ पासी, होटल के कहार रसोइयों और इक्का-दुक्का अन्य पात्रों (जिनकी जाति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है) को छोड़कर शेष सभी पात्र ब्राह्मण हैं। लेकिन केवल ब्राह्मण कहने से काम नहीं चलेगा। 'जाति-जाति में जाति' का अच्छा उदाहरण उस उपन्यास में देखने को मिलता है। निराला

स्वयं कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों की उपजातियों के वर्गीकरण की बारीक समझ निराला को थी। रामपुर गाँव की एक बैठक का चित्र खींचते हुए निराला अपनी इस बारीक समझ का संकेत करते हैं- ''नीम के नीचे बैठक है। गुरुदीन तीन बिस्वे वाले तिवारी है, सीतल पाँच बिस्वे वाले पाठक, मन्नी दो बिस्वे के सुकूल, ललई गोद लिए हुए मिसिर-पहले पाँच बिस्वे के पाँड़े, अब दो कट गए हैं, गाँववालों के हिसाब से, ललई पाँच ही जोड़ते हैं। सब हल जोतते हैं और श्रद्धापूर्वक धर्म की रक्षा करते हैं। बेरी बाजपेई कानपुर के मिठाईवाले हैं; पर धर्म की रक्षा करते हुए बीसों बिस्वे बचाए हुए हैं, नीम की जदए पर बैठे, बाकी सब इधर'-उधर। ....ये खेत जोतकर विश्राम करते हुए सामाजिक बातचती कर रहे हैं। पतन से समाज की रक्षा के विचार से। सभी समाज के कर्णधार हैं।''[72]

जिस 'पतन से समाज की रक्षा के विचार से' ये 'समाज के कर्णधार' 'सामाजिक बातचीत' कर रहे हैं, उसे समझने के लिए उपन्यास की मूल कथा को ध्यान में रखना होगा। इस उपन्यास का नायक है- कृष्णकुमार, जो रामपुर के मिश्रों के परिवार का है, जाति का कान्यकुब्ज ब्राह्मण है, लंदन से अंग्रेजी साहित्य में डी.लिट्. है, लेकिन 'चूंकि किसी चान्सलर, बाइस चान्सलर, प्रिन्सिपल, प्रोफेसर या कलक्टर से उसकी रिश्ते की गिरह नहीं लगी, इसलिए किसी को उसकी विद्वता का अस्तित्व भी नहीं मालू दिया'[73] और तब इन्होंने लखनऊ में चमार का काम-जूते पॉलिश करने का काम-शुरू कर दिया। अब देखिए एक तो लंदन से डी.लिट्. करके, विलायत जाकर इसने अपना धर्म पहले ही भ्रष्ट कर लिया था, जाति-बहिष्कृत होने के लिए तो यही काफी था, ऊपर से चमार का काम करना शुरू कर दिया! ब्राह्मणों के 'पवित्र' समाज में इसे पतन नहीं कहा जाएगा तो और क्या कहा जाएगा! इस पतिन से समाज की रक्षा का विचार तो 'समाज के कार्णधारों' को करना ही चाहिए! इस विचार-विमर्श का अंश द्रष्टव्य है-

''भाई, हमने तो देखा नहीं, लेकिन रामनाथ सुकुल की कही कहते हैं कि किसुन अब लखनऊ में चमार का काम कर रहे हैं- जूता पालिश करते हैं।''

मारे घृणा के सबलोग गड़ गए।

यथार्थ धार्मिक स्वर से बोले- ''पाप और कुछ नहीं, मति भ्रष्ट हो गई!''

X X X

गुरुदीन गर्म पड़कर बोले- ''धिक्कार है उसको, जो धर्म छोड़कर जिया। गाँव में रहना मोहाल न कर लिया तो छानबे नहीं''[74]

और फिर पूरे गाँव ने कुमार के परिवार, जिसमें केवल उसकी विधवा माँ और छोटा भाई रामचंद्र थे, का 'गाँव में रहना मोहाल' करने में एकजुटता दिखाई। कुमार के परिवार को गाँववालों ने जाति-बहिष्कृत कर दिया। जाति-बहिष्कृत कुमार के भाई रामंचद्र की मानसिक वेदना का चित्रण करते हुए निराला लिखते हैं- ''मनुष्य मनुष्य के प्रति इतना बड़ा बैर कर सकता है, यह कभी उसकी कल्पना में न आया था। उनके लिए गाँव भ्ज्ञर के द्वार बंद हैं। कोई उससे प्रीतिपूर्वक नहीं बोलता। गाँव के कुओं में उसका पानी भरना बन्द है नाई, धोबी, कहार, कोई अब उसकी प्रजा नहीं, उसका काम नहीं करते। उसके दाढ़ी-मूछें नहीं, बाल हैं; शहर जाकर बनवाता है। ... उसकी माँ, जिसने कभी पानी नहीं भरा, दूर खेत के कुएँ से पानी लाती है।''[75]

जिन लोगों के साथ रहते हुए व्यक्ति अपनी उम्र गुजार देता है, जिनके साथ अपना सुख-दुःख बाँटता रहा है, जिनका सम्मान करता रहा है और जिनसे सम्मान पाता रहा है, वे सबलोग अचानक पराए हो गए, सीधे मुँह बात तक नहीं करते। क्या जातिक नियम ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण हैं? क्या पारस्परिक स्नेह, सौहार्द्र और भाईचारे का कोई मोल नहीं? जाति के नियम कितनी बड़ी सच्चाई हैं कि उसके आगे बाकी सारी बातें झूठी हो जाती हैं! जाति के नियमों की अमानवीयता को

उपन्यास के एक दूसरे अंश में भी देखा जा सकता है। निरुपमा के गाँव आने की खुशी में सुरेश (निरुपमा का ममेरा भाई) गाँव के ब्राह्मणों को भोज देता है। भोज वाले दिन गाँव भर के ब्राह्मण जुटे हैं, स्त्रियों के बीच निरुपमा बैठी है, पूरियाँ तली जा रही हैं। इसके आगे का प्रसंग जाति के नियमों की पाशविकता को हमारी आँखों के सामने जीवंत कर देता है-

"इसी समय "हाँ-हाँ-हाँ" की आवाज आयी। दरवाजे के पास बैठी हुई स्त्रियाँ चिल्लायीं। स्वर में समझ भरी हुई।

"क्या है?-क्या है"? कड़ाही पर बैठे मर्दो ने आवाज दी, स्वर से विषय की अज्ञता सूचित होती हुई।

"मर गया आकर, देखे हुए था जैसे, चमार कहीं का।"- एक वृद्धा ने बेलना उठाकर कहा- "जाता है या दूँ एक तान कर कनपटी पर?"

प्रकाश काफी था। तब तक औरों ने भी देखा- "इसने तो पैर रोप दिया! हद है जाता है या दिया जाए परसाद?"- कड़ाही वाले उठकर बोले।

निरू ने भी देखा। तुरंत उठकर पास चली। "छूना मत उसे"- इधर की स्त्रियों ने आतुरता से कहा।"[76]

इस प्रसंग को यदि यहीं तक पढ़ा जाए तो थोड़ी देर के लिए ऐसा लगता है जैसे भोजन पकने के स्थान पर कोई गंदा जानवर आ गया है, जिसे भगाने का प्रयास सबलोग कर रहे हैं। लेकिन इससे आगे यह जानकर एक गहरा झटका लगता है कि यह दुत्कार किसी जानवर का नहीं, जाति-बहिष्कृत कुमार के भाई रामचंद्र का है। ऐसा है हमारा जातिवादी समाज और ऐसे हैं जाति के नियम! ऐसी घृणित पाशविकता जो मनुष्य के साथ पशुओं से भी बदतर व्यवहार करती है!

पूरे उपन्यास में इस तरह के कई प्रसंग मौजूद हैं। जहाँ कहीं गाँव की स्त्रियाँ या पुरुष इकट्ठे होते हैं, कुमार और उसके परिवार के 'सामाजिक पतन' की चर्चा ही सबसे महत्वपूर्ण होती है। प्रत्येक यह सिद्ध करने के प्रयास में रहता है कि वह कुमार के परिवार का बहिष्कार करने में सबसे आगे है, क्योंकि इससे जाति के नियमों के प्रति उसकी निष्ठा प्रमाणित होती है और उसकी

सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ती है। यानि जाति के नियमों की रक्षा करते हुए जो जितना ही अधिक अमानवीय होगा, जातिवादी समाज में वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित होगा! इसी अमानवीयता को जातिवादी समाज कुलीनता का नाम देकर गौरवान्वित करता है।

कुमार की माँ को गाँव के कुएँ से पानी भरने नहीं दिया जाता। वह दूर खेत की तरफ वाले कुएँ से पानी लाती है। यह भी गाँव के जातिवादी ब्राह्मणों से बर्दाश्त नहीं होता। एक रोज जब निरू और सुरेश उसी गाँव में अपनी जमींदारी का मुआयना कर रहे थे, कुमार की माँ खेत वाले कुएँ पर पानी भरने आयीं। गाँव के अन्य ब्राह्मण भी अपने जमींदार मालिक की चापलूसी में मौजूद थे। उनकी नीयत और दुष्टता को समझने के लिहाज से यह प्रसंग द्रष्टव्य है-

"मालिक"-सीतल बोले-"गाँव में पानी नहीं भरने दिया जाता-अब कौन बेधरम हो?-यहाँ आती है।"

X X X

अगर यह खेत सीर बनाया जाएगा तो कुआँ सरकारी होगा। हार में लोग आते हैं, दुपहर को लोग प्यासे भी होते हैं, अगर इनका पानी भरना जारी रहा तो लोग क्या बरगद दुह-दुहकर पियेंगे। और किसी कुएँ का पानी नहीं अच्छा।"- गुरुदीन ने कहा।

"न गाँववाले इनके काम के हैं, न ये गाँववालों के काम के; व्यर्थ दूसरे का सगुन बिगाड़ती हैं।" -मन्नी ने कहा।

X X X

इसी समय गुरुदीन बोले- "मालिक, कहो तो कह दें, सरकारी कुएँ में पानी भरने न आया करे ..."[77]

जाति बहिष्कृत व्यक्ति के साथ अधिकतम असहयोग करके और उन्हें अपमानित करके जातिवादी समाज न केवल उन्हें जाति के नियमों को तोड़ने का दंड देता है, बल्कि इसके माध्यम से पूरे समाज को जातिवाद का यह 'अमर संदेश' देता है कि 'यदि समाज में रहना है तो जाति के नियमों के अनुसार चलना होगा'। असल में जातिवाद को टिकाए रखने में सामाजिक बहिष्कार के इस भय की बहुत बड़ी भूमिका है।

कुमार का परिवार जहाँ गाँव में सामाजिक बहिष्कार का अपमान झेल रहा था, वहीं स्वयं कुमार लखनऊ जैसे शहर में भी इस अपमान से पूरी तरह मुक्त नहीं था। कुमार जिस होटल में किराए के कमरे में रहता था, जब वहाँ कुमार के जूते पॉलिश करने की बात खुली तो उस ''बैष्णव' होटल में रहने वाले 'सनातनी' लोगों ने नाक-भौं सिकोड़ने शुरू कर दिए। यहाँ तक कि होटल में काम करने वाले नौकर ने भी जवाब दे दिया- ''...कुमार बाबू के बासन अब हम नहीं छू सकते, हमें रोटी पड़ जायँगी।''[78] इससे आगे का प्रसंग भी द्रष्टव्य है-

''होटल में रहने वाले नारायण बाबू और जगदीश बाबू को बुलाकर मैनेजर ने पूछा- ''तो क्या कुमार बाबू को जाने के लिए कह दूँ?''

''यह हम कैसे कहें?''-नारायण बाबू ने कहा- ''पर यह जरूर है कि उनके रहने पर हम होटल छोड़ देंगे।''

जगदीश बाबू ने कहा- ''यह इंगलिस्तान नहीं। जैसा देस वैसा भेस। यहाँ तो इस तरह चमारों में ही रहा जा सकता है।''[79]

नतीजा वही हुआ। कुमार को होटल छोड़ना पड़ा। लेकिन तब भी इतना तो जरूर है कि शहर में गाँव की तुलना में सामाजिक बहिष्कार का अपमान कम झेलना पड़ता है। गाँव का समाज संकुचित होता है, वहाँ सामाजिकता की जरूरत भी ज्यादा होती है, इसलिए वहाँ जातिवाद का रूप कुछ अलग होता है। कुमार को लखनऊ शहर में कई ऐसे लोग भी मिले जो इनकी इज्जत करते थे। निरुपमा उनमें से एक थी। कमल और उसके ब्राह्मसमाजी पिता दिनश बाबू भी कुमार का सम्मान करते थे। कुमार इस बात को समझता है और इसलिए 'रामचंद्र, मलिकवा की माँ और अपनी माँ को लेकर कुमार लखनऊ चला गया।'[80]

जाति के नियम जितने कठोर हैं, उतने ही लचीले भी हैं। मौका, परिस्थिति और व्यक्ति की हैसियत के मुताबिक इनकी व्याख्या बदलती रही है। जाति के वही नियम जो विदेश यात्रा करने के

कारण कुमार के प्रति अत्यंत कठोर हैं, वही निरुपमा के मामले में एकदम लचीने बन जाते हैं, इस बात की जानकारी गाँववालों को होने के बावजूद कि निरू की शादी यामिनी बाबू से तय हो गयी है, जिन्होंने विदेश यात्रा की है और जो निरू के घर आया करते हैं, वहीं खाना खाते हैं, कभी-कभी उसके भाई साहब के साथ भी। ऐसा नहीं है कि इस बात की जानकारी होने पर गाँववालों ने नाक-भौं ना सिकोड़ी हो। प्रतिक्रिया तो इस मामले में भी हुई, पर वह बहुत मुखर और खुले तौर पर न हो पाई। इस बात को गाँव के जमींदार से कौन कहे! किसी की हिम्मत नहीं हुई। इस प्रसंग में निराला ने लिखा है- ''फिर सुरेश बाबू से ऐसा कहे कौन, यह विचार होता रहा। कहा गया कि मुखिया कहें। पर मुखिया सुरेश बाबू के सरस मुख और अपनी मधुर कथा की कल्पना कर मुकर गए, कहा- ''क्या हमारा ही जी भारू है?'' तब तक किसी ने कहा- ''मालिक हमारे गाँव के राज हैं, राज में भगवान् का अंश रहता है, राज का धन उनके घर पर भी ग्रहण करने पर ब्राह्मण को दोख न लगेगा।'' बात लोगों को पसन्द आई और मुखिया यह संवाद देने के लिए तैयार हो गए।''[81]

ब्रह्मभोज की तैयारी होनी लगी। वहीं बात-बात में निरू ने स्त्रियों को यामिनी बाबू के विदेश यात्रा, उनके अपने यहाँ आने और साथ भोजन करने की बात बताई। महावीर की पत्नी ने आनन-फानन में घर आकर यह बात अपने पति महावीर को बताई। यह सब सुनकर 'भौंहें कुटिल कर' 'धर्म-रक्षा के लिए संदेश-वाहक अग्रदूत की तरह महावीर बाहर निकला, और गाँव के मुखि के द्वार पर पहुँचकर जोर से लाठी का गूला दे मारा और 'मुखिया हो' कहकर ऊँची आवाज लगाई'।[82] मुखिया के परामर्श से गाँव के चार-पाँच अच्छे किसान ब्राह्मणों को महावीर बुला लाया। सभा शुरू हुई-

"महावीर को मर्म तक देखते हुए जैसे, आए हुए आदमियों के सामने समाचार कहने के लिए मुखिया ने आज्ञा की। महावीर धर्म के रक्षक श्री रामचन्द्रजी का स्मरण कर कह चला और लोगों को शंकित, चकित, त्रस्त, क्षुब्ध, उद्वेलित और धर्म की रक्षा के लिए बद्धपरिकर करते हुए कथा समाप्त की।"[83]

धर्म-रक्षा के लिए उद्वेलित तो सभी हुए, पर मामला गाँव के जमींदार का है, यह जानकर कोई आगे आना नहीं चाहता। बलई सुकुल, कालिका मिसिर, रामअधार पांड़े देवीदीन दुबे सभी एक-दूसरे को बलि का बकरा बनाकर धर्म-रक्षा का सबाब लूटना चाहते हैं। पर कोई किसी के चंगुल में नहीं फँसता। काफी विचार-विमर्श के बाद अन्ततः मुखिया जी ने संकेत दिया- "जगन्नाथ जी में सातों जात के लोग एक साथ खाते हैं। घर लौटकर अपना-अपना धर्म-कर्म करते हैं।"[84]

मुखिया जी ने सोचा था संकेत कर देने से बात लोगों की समझ में आ जाएगी। वे भी दरअसल खुलकर सामने नहीं आना चाहते थे। लेकिन जब संकत से बात नहीं बनी तो मुखिया जी ने स्पष्ट तौर पर अपनी बात लोगों को समझाई- "जब कहो कि रेल में मुसलमान, किरस्तान सब रहते हैं, पानी न पियेंगे; धर्म चला जाएगा, तो इस तरह धर्म नहीं जाता। कहा है- 'आपातकाले मर्जादा नास्ति।' हमारे गाँव के मालिक हैं। कहा है- 'राजा जोगी अगिन जल इनकी उलटी रीति' न जाने कब क्या कर बैठें। इनसे विग्रह ठीक नहीं! ... और हमारा सरबस इनके हाथ में है। काछी, तमोली, तेली, बरमभोज करते हैं, सब लोग जाते हो। खाते हो और दच्छिना ले आते हो। तब धर्म कहाँ वह जाता है। हमारा इनका जितना व्यवहार है, उतना न तोड़ना चाहिए, क्योंकि हमारा इनका सदा संबंध-व्यवहार रहेगा। ये जमींदार हैं, हम रियाया। फिर जब कड़ाही हमारी है तब क्या बात है, चाहे जिनके घर ब्याह करते हों ये।"[85]

मुखिया जी के उक्त प्रवचन से जातिवाद के नियमों की कठोरता की कलई खुल जाती है। धर्म-रक्षा के नाम पर दूसरों को अपमानित करने वाले जाति के नियमों की कठोरता तभी तक बनी

रहती है, जब तक कि जाति-बहिष्कृत होने वाले से बाकी लोगों का कोई नफा-नुकसान नहीं जुड़ा होता। कुमार और उसके परिवार को जाति-बहिष्कृत कर धर्म-रक्षा का दम्भ भरना बहुत आसान था, क्योंकि इससे किसी को किसी प्रकार की कोई हानि नहीं थी। निरुपमा और सुरेश के परिवार को जाति-बहिष्कृत करना आसान नहीं था, ये गाँव के जमींदार थे और गाँववालों का 'सरबस इनके हाथ में' था। लिहाजा धर्म और जाति के नियमों की व्याख्या तत्काल बदल जाती है और स्वीकार्य भी हो जाती है। जाहिर है जाति के ये तमाम नियम और ढकोसले कुछ विशेषाधिकार प्राप्त जातियों द्वारा बनाए रखे जाते हैं ताकि उन विशेषाधिकारों को जाति के नियमों के कवच के भीतर सुरक्षित बनाए रखा जा सके और कभी यह कवच विशेषाधिकारों को बाधित करे तो कवच को उतार फेंकने में ये संकोच नहीं करते। यानि असली मकसद किसी भी सूरत में विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखना है, धर्म-रक्षा तो बाहरी आवरण मात्र है। जातिवादी समाज के दोमुँहेपन और जाति के नियमों को बरतने की अवसरवादिता का चरम इस उपन्यास के बिल्कुल आखीर में दिखाई पड़ता है।

उपन्यास के घटना क्रम और कथा-प्रवाह में यह स्थिति बनती है कि निरू का विवाह यामिनी बाबू से न होकर कुमार से हो जाता है। प्रेम तो ये दोनों एक-दूसरे को करते ही थी। अब गाँववालों के लिए विकट समस्या खड़ी हो जाती है। जिस कुमार को जाति-बहिष्कृत कर इतना अपमानित किया था, अब निरुपमा से विवाह हो जाने पर वही गाँव का जमींदार और मालिक बन गया। गाँववालों ने मौके की नजाकत को समझा, जाति के नियमों के बंधन तोड़ दिए गए। निराला ने उपन्यास के बिल्कुल अंतिम अनुच्छेद में महज आठ छोटी-छोटी पंक्तियों में जातिवादी ढकोसले को तार-तार कर दिया है। ये पंक्तियाँ जाति के 'दैवी विधान' (!) पर गहरा व्यंग्य हैं। निराला लिखते हैं- "गाँव में खबर फैली। बड़ा सन्नाटा छाया। लोग बहुत डरे। आखिर मुखिया के दरवाजे बैठक हुई। सबने सलाह ली। मुखिया ने कहा- "पागल हो, राजा से कोई बैर करता है। अब वे दिन नहीं हैं। लखनऊ में कितने विलइतिहा हैं, उनके हाथ का पानी बन्द है?"[86]

मनुष्य निर्मित इस जातिवादी समाज के तथाकथित नियमों का सच यही है!

अज्ञेय के प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर: एक जीवनी' के पहले भाग (1940) में भी कुछ प्रसंग हैं, जिनमें अज्ञेय ने जाति के सवाल को उठाया है। यद्यपि यह प्रसंग बहुत विस्तृत नहीं है। दरअसल जाति की समस्या की तह में जाना यहाँ अज्ञेय का उद्देश्य भी नहीं है। उद्देश्य तो बस शेखर के व्यक्तित्व के एक और पहलू को सामने लाना है।

शेखर कॉलेज की पढ़ाई के लिए मद्रास जाता है, जहाँ वह ब्राह्मण लड़कों के लिए खास तौर पर बने छात्रावास में रहने लगता है। लेकिन शेखर अपने विद्रोही स्वभाव के अनुरूप ही ब्राह्मणत्व के प्रतीकों- चुटिया, जनेऊ, पूजा पाठ से कोसों दूर था। लिहाजा छात्रावास के अन्य ब्राह्मण लड़के उसका बहिष्कार कर देते हैं। जाति के कट्टर नियमों से यहाँ शेखर का सामना होता है। छात्रावास में ही मालाबार में दलितों के साथ छुआछूत के व्यवहार आदि के बारे में उसने कई कहानियाँ सुनीं और इन स्थितियों का जायजा लेने खुद मालाबार भी गया। वहाँ ब्राह्मणों के लिए निर्धारित और अछूतों के लिए वर्जित सड़क पर एक दलित स्त्री की हत्या के प्रकरण से हताश हो वह वापस मद्रास लौट आया। मद्रास लौटकर शेखर ब्राह्मण छात्रावास छोड़कर दलितों के छात्रावास में रहने चला जाता है, जहाँ उसे अपने दोस्त मिलते हैं और उनके साथ मिलकर ही शेखर 'एंटीगोनम' नाम की समिति बनाता है।

शेखर दलितों के छात्रावास में रहते हुए, छात्रावास के पास के ही एक दलित मोहल्ले में दलित बच्चों के लिए एक रात्रि पाठशाला चलाना शुरु करता है। शेखर के अन्य दलित दोस्त भी इस पाठशाला में पढ़ाते हैं। कुछ समय बाद शेखर और उसका मित्र सदाशिव अपनी परीक्षा की तैयारी के लिए मद्रास छोड़कर महाबलीपुर चले जाते हैं। रात्रि पाठशाला का क्या होता है, मालूम नहीं।

'शेखर: एक जीवनी' में जातिवाद और दलित समस्या के ये थोड़े-से प्रसंग ही मौजूद हैं। ये प्रसंग दक्षिण भारतीय समाज में जातिवाद की कट्टरता को समझने के लिहाज से महत्वपूर्ण हैं। लेकिन अज्ञेय जातिवाद के प्रसंग में ज्यादा रमते नहीं हैं। ये प्रसंग वहीं तक विस्तार पाते हैं, जहाँ

तक शेखर के व्यक्तित्व के उद्घाटन में उनकी भूमिका है। शेखर के हटते ही ये प्रसंग अज्ञेय के लिए महत्वपूर्ण नहीं रह जाते। आखिर उपन्यास का विषय भी तो शेखर ही है!

भारतीय समाज की वर्ण-जाति आधारित संरचना के यथार्थ को यशपाल के अत्यंत चर्चित उपन्यास 'दिव्या' (1945) में भी देखा जा सकता है। यशपाल अपने उपन्यास 'दिव्या' में बौद्धकालीन समाज में नारी की दशा का चित्रण करने के साथ-साथ भारतीय समाज में जड़ जमाए वर्ण और जाति की समस्या के कई पहलुओं को भी गंभीरता से उठाते हैं।

'दिव्या' उपन्यास का काल-परिवेश बौद्धकालीन है। उपन्यास के कथा-केंद्र मद्र गणराज्य में बौद्धों का प्रभाव है। इसका कारण है कि मद्र का पूर्ववर्त्ती ग्रीक शासक मिलिंद बौद्ध आचार्य नागार्जुन से दीक्षा लेकर बौद्ध हो गया था। बौद्ध मत से प्रभावित मद्र गणराज्य में वर्ण-व्यवस्था लागू नहीं थी, इसलिए वहाँ शूद्रों और दासों को भी धन-संपत्ति इकट्ठा करने का अधिकार प्राप्त था। किसी समय दास रहे प्रेस्थ का 'महाश्रेष्ठी प्रेस्थ' बन पाना इसी कारण संभव हो सका और दासपुत्र पृथुसेन भी इसी कारण शिक्षा प्राप्त कर मद्र का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी बन सका। लेकिन मद्र एक कुल-गणराज्य है और यहाँ कई अभिजात कुल (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के सामंत भी हैं। ये अभिजातकुलीन सामंत मद्र के समानतावादी शासन व्यवस्था से खिन्न हैं और वहाँ वर्णाश्रम धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। इनकी यह चाहत निश्चय ही राजनीतिक वर्चस्व की चाहत है जो समानतावादी शासन पद्धति में सुनिश्चित नहीं हो पाती। वर्णाश्रम धर्म इसी राजनीतिक वर्चस्व को सुरक्षित-सुनिश्चित करने का उनका हथियार है।

मद्र गणराज्य के महाश्रेष्ठी प्रेस्थ (जो किसी समय दास था) का पुत्र पृथुसेन शस्त्र परीक्षा में श्रेष्ठ खड्गधारी का सम्मान प्राप्त करता है। किन्तु जब वह धर्मस्थ महापंडित देव शर्मा की प्रपौत्री कुमारी दिव्या की शिविका को कंधा देना चाहता है तो उसे ब्राह्मण गण संवाहक आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आचार्य रुद्रधीर के द्वारा दासपुत्र होने के कारण रोक दिया जाता है। मद्र गणराज्य में शस्त्र-परीक्षा के आधार पर वीर युवाओं को गणराज्य की सेना में पद दिए जाने का नियम था। उस शस्त्र-

परीक्षा में सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित होने पर भी पृथुसेन को गण की सेना में कोई पद नहीं दिया जाता। पृथुसेन किसी भी तरह से तथाकथित अभिजातवंशीय कुमारों से कम योग्य नहीं था, बल्कि वह तो श्रेष्ठ खड्गधारी घोषित हुआ था। लेकिन जन्मना अकुलीन होने का दंड पाकर वह विचलित हो उठता है। पृथुसेन की चिंता जाति-वर्णवादी व्यवस्था की असलियत को सामने ले आती है- "जन्म का अपराध?... कोई भी उपाय जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकता! जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले?... या उनलोगों से ले जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए जन्म से असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है?... हीन कहे जाने वाले कुल में मेरा जन्म अपराध है अथवा वह द्विज कुल में जन्मे अपदार्थ लोगों का अहंकार मात्र है?"[87]

दिव्या के पितृव्य (चाचा) प्रबुद्ध शर्मा बौद्ध मत से प्रभावित हैं। वे जन्म के आधार पर व्यक्ति के बड़े-छोटे होने को उचित नहीं मानते।वर्णाश्रम व्यवस्था में उनकी आस्था नहीं है। इसके विपरीत उनके चाचा पंडित विष्णु शर्मा कट्टर वर्णाश्रम-समर्थक हैं।इन दोनों की बातचीत के माध्यम से यशपाल वर्ण-जाति के विभिन्न पहलुओं को सामने रखते हैं।दिव्या ने सागल के सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी दास पुत्र पृथुसेन का अर्घ्य से स्वागत किया तो यह बात उसके महापितृव्य पंडित विष्णु शर्मा को उचित नहीं जान पड़ी।उन्होंने दिव्या को संबोधन किया- "दास सारथी पुत्र का तुमने अर्घ्य से सत्कार किया? तुम अपने पितृव्य प्रबुद्ध शर्मा की भाँति समदर्शी तथागत की शिष्या होने योग्य हो।"[88]

पंडित विष्णु शर्मा के इस व्यंग्य का उत्तर देते हुए प्रबुद्ध शर्मा अपनी बात कहते हैं- "तात, पृथुसेन का पिता किसी समय दास था।आज वह अनेक दासों का स्वामी, सागल का प्रमुख श्रेष्ठी और गणपति का प्रमुख मंत्रणादाता है। सागल में उसकी अवज्ञा कौन करता है? तात, पृथुसेन दासों की भाँति हाथ में चंवर लेकर नहीं खड्ग लेकर आता है... वह सम्मान का अधिकारी है।"[89]

स्पष्ट है कि प्रबुद्ध शर्मा के लिए व्यक्ति की वर्णगत और जातिगत पहचान से ज्यादा महत्वपूर्ण है उसकी व्यक्तिगत पहचान, जो उसके अपने कर्मों से बनती है, उसे विरासत में नहीं मिलती।व्यक्ति को सम्मान का अधिकारी उसके कर्म बनाते हैं, उसकी कुलीनता का दंभ नहीं।

लेकिन पंडित विष्णु शर्मा प्रबुद्ध शर्मा की उपर्युक्त बात से कतई सहमत नहीं होते। उनके लिए जाति एक अपरिवर्त्तनीय पहचान है। वर्णाश्रम समर्थित सामाजिक मान्यता यही है। पंडित विष्णु शर्मा के लिए जाति और वंश की स्थिति में परिवर्तन की बात करना कुतर्क करना है। प्रबुद्ध शर्मा की बात सुनकर वे भड़क गए और उत्तेजित होकर उत्तर दिया-

"यह मुण्डियों का कुतर्क है।...ब्राह्मण के अधिकार का प्रमाण ब्राह्मण की शक्ति है।" प्रबुद्ध शर्मा के बाहुमूल पर बंधे रत्नजटित अंगद की ओर संकेत कर उन्होंने आवेश में पूछा, "क्या मूल्य है आज यह रत्न धारण करने का?" प्रबुद्ध के कंधों पर पड़े उत्तरीय की ओर उन्होंने उंगली उठाई, "क्या प्रयोजन है आज यह कौशेय धारण करने का? जब दास और शूद्र भी ऐसे ही, इससे भी उत्तम वस्त्राभूषण पहने फिरते हैं! क्या अब यह वर्ण, वंश और अधिकार का परिचायक है? यदि माणिक भित्ति चुन सकने योग्य संख्या में मिल सकें तो उन्हें माथे पर ढोने का क्या अर्थ? ... यदि शूद्र दास भी द्विज के समान अधिकार पा सकता है तो द्विजत्व क्या है? क्या ब्राह्मण के मंत्र और क्षत्रिय के शस्त्र की शक्ति शूद्र की सेवा के लिए है?"[90]

पंडित विष्णु शर्मा का पक्ष वर्णाश्रमवादियों का पक्ष है। मद्र के तमाम वर्णाश्रमवादी दासों और शूद्रों के अधिकार-सम्पन्न होने से चिढ़े हुए और चिंतित हैं। उनकी चिंता का मुख्य कारण है दासपुत्र पृथुसेन का बढ़ता हुआ प्रभाव। परंपरा से अपने लिए सुरक्षित विशेषाधिकारों के छीने जाने और अपने वर्चस्व के टूटने से वर्णाश्रमवादियों का वर्ग तिलमिला उठता है। यह वर्ग पृथुसेन की प्रतिभा और क्षमता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। इन वर्णाश्रमवादियों के बीच यह बहुत स्वाभाविक है कि 'अभिजात समाज में उसे (दासपुत्र पृथुसेन को) अपने प्रति सब ओर उपेक्षा का मौन और कायरतापूर्ण तिरस्कार दिखाई देता।'[91] इस 'उपेक्षा के मौन और कायरतापूर्ण

तिरस्कार' से हताश पृथुसेन चाहता है कि "वह किसी अज्ञात दिशा और देश में जाकर अपने लिए नया स्थान, नया समाज, नया संसार बसा ले; ऐसे देश में जहाँ वह अपने जन्म के लिए दंडित न हो, जहाँ वह अज्ञात कर्मों के फल से विवश न हो, जहाँ उसे कर्म करने का स्वतंत्र अवसर हो, जहाँ उसका पुरुषार्थ और प्रतिभा अकुलीन पिता की संतान होने के कारण व्यर्थ न हो जाए।"[92]

जाति की तुलना में वर्ण-व्यवस्था को आदर्श और श्रेष्ठ व्यवस्था मानने वालों और वर्ण को 'कर्मणा' मानने वालों की भी आँखें 'दिव्या' के माध्यम से खुलनी चाहिए। कर्म के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन बौद्ध मत से प्रभावित शासन व्यवस्था के भीतर इसलिए संभव है, क्योंकि वहाँ वर्णाश्रम का विरोध है। जहाँ कहीं भी वर्णाश्रम का अस्तित्व होगा, वहाँ समतामूलक समाज की स्थापना संभव ही नहीं है, क्योंकि वर्ण भी अंततः जन्मना ही निर्धारित होता है। मद्र गणराज्य में श्रेष्ठी प्रेस्थ अपनी व्यावहारिक कुशलता से तथा पृथुसेन अपनी वीरता और शस्त्र-कौशल से अभिजात वर्ग में स्थान बना पाने में तो सफल होता है, लेकिन वर्णाश्रमवादी इसे कभी स्वीकार नहीं कर पाते। तमाम अभिजातकुलीन सामंत आपस में मिल जाते हैं और पृथुसेन के खिलाफ षड्यंत्र रचते हैं- "रुद्रधीर ने सामंत कार्त्तवीर, सामंत सर्वार्थ और महापंडित विष्णु शर्मा के प्रासादों में अनेक दिन गुप्त मंत्रणा कर मद्र से म्लेच्छों और शूद्रों के प्रभुत्व का अंत करने की आयोजना पर विचार किया। उसका उपाय था- शत्रु का अचेत अवस्था में विध्वंस।"[93]

इसी योजना के अनुसार तमाम अभिजातकुलीन सामंत मिलकर श्रेष्ठी प्रेस्थ की हत्या कर देते हैं तथा मद्र गणराज्य के सेनापति दासपुत्र पृथुसेन को जान बचाकर भागने पर मजबूर कर देते हैं। वर्णाश्रम समर्थक सामंत तमाम पदों पर कब्जा जमा कर मद्र में वर्णाश्रम समर्थित शासन की घोषणा कर देते हैं-

"तद्गुणनिधान, क्षत्रियकुलभूषण, धर्मरक्षक महासामंत, परमभट्टारक श्री देव सर्वार्थ भूमि को पापमुक्त कर, मद्र के कुलवर्ग की अनुमति से मद्रगण की गणपरिषद् के गणपति का राजदंड ग्रहण

करते हैं। मद्रगण की गणपरिषद् के संवाहक और सचिव का आसान मद्रगण के कुलवर्ग की अनुमति से आचार्य श्रेष्ठ, शास्त्रज्ञ, सामंत, महापंडित रुद्रधीर ग्रहण करते हैं।... मद्रगण का राज्य कुलवर्ग के वर्णाश्रम धर्म का पालन कर, प्रजा का न्यायानुमोदित शासन करेगा। सम्पूर्ण द्विजकुल, यवन, शूद्र और दास निज धर्म में स्थित होकर राजाज्ञा का पालन करें!"[94]

इस तरह मद्र गणराज्य में वर्णाश्रम की स्थापना होती है और तमाम वर्णों के लोगों की सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक हैसियत तय कर दी जाती है, ताकि भविष्य में फिर कोई दूसरा पृथुसेन पैदा न हो सके, जो द्विजों के राजनीतिक वर्चस्व को चुनौती दे सके!

इस प्रकार इन कुछेक प्रतिनिधि उपन्यासों के विवेचन-विश्लेषण के आधार पर हम स्वतन्त्रता-पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में जाति के सामाजिक यथार्थ और उसके प्रति उपन्यासकारों की चिंता और चिंतन के विभिन्न आयामों को देख-समझ सकते हैं।

चरित्र-चित्रण: व्यक्तिगत पहचान बनाम जातिगत पहचान

उपन्यास की संरचना महावृत्तांतनुमा होती है। इसलिए इसमें घटनाओं के साथ-साथ चरित्रों के विकास और विस्तार के लिए भी पर्याप्त अवकाश होता है। रचनाकार एक-एक पात्र के चरित्र को इत्मीनान के साथ गढ़ सकता है। लिहाजा प्रत्येक पात्र अपने मुकम्मल व्यक्तित्व के साथ उपन्यास में उभर पाता है। उपन्यास या कहें किसी भी रचना के पात्र अपने विशेष देश-काल के भीतर विकसित होते हैं। हिंदी उपन्यास का परिवेश प्रायः उत्तर भारतीय समाज रहा है, आजादी के पहले के हिंदी उपन्यासों का तो निश्चित रुप से। यह समाज जाति और जातिवाद से ग्रस्त समाज है। जाति इस समाज की एकमात्र सच्चाई भले न हो लेकिन एक बहुत बड़ी सच्चाई तो है ही। ऐसे में कोई भी रचनाकार जो उत्तर भारतीय समाज को अपने उपन्यास का कथा केंद्र बना रहा हो, उसके लिए जाति की सच्चाई से आँखें चुराना लगभग असंभव है। जातिवादी समाज के भीतर लोगों का आपसी सामाजिक व्यवहार भी कुछ अलग ढंग का होता है। विभिन्न जातियों के लोगों के व्यवहार, उनकी सामाजिक पहचान और हैसियत भी अलग-अलग होती है। हिंदी के उपन्यासकार इस बात को लेकर बहुत ही सजग हैं। विभिन्न उपन्यासों के पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करने पर इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ रेखांकित किया जा सकता है कि जाति का एक गहरा संबंध उपन्यास के पात्रों के चरित्र से जुड़ता है। इस अध्याय में इस बात को ही रेखांकित करने का प्रयास होगा कि विभिन्न रचनाकारों ने अलग-अलग जातियों के पात्रों को उनकी व्यक्तिगत खूबियों-खामियों और जातिगत अभिलक्षणों के साथ अपनी रचनाओं में किस रूप में चित्रित किया है। निश्चित रूप से इसके माध्यम से विभिन्न जातियों की सामाजिक स्थिति और इनके बारे में रचनाकार की अपनी दृष्टि का भी परिचय मिल सकेगा।

'बलवंत भूमिहार' उपन्यास की रचना ही भुवनेश्वर मिश्र ने जाति विशेष की चारित्रिक पहचान के उद्देश्य से की। इस उपन्यास में उन्होंने व्यंग्यपूर्ण तरीके से भूमिहार जाति के स्वभाव की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इस जाति का एक 'स्टीरियोटाइप' निर्मित किया है।

उपन्यास के तीसरे अध्याय में जमींदार रनपाल सिंह (भूमिहार) के बारे में भुवनेश्वर मिश्र लिखते हैं- ‘‘रनपाल सिंह ने तब अपना ध्यान अपनी जमींदारी बढ़ाने की ओर फेरा और इसके लिए इन्होंने यत्न भी वही किया, जो इनकी जाति के लोग उस समय अकसर किया करते थे- अर्थात् दीन जमींदारों को अधिक सूद के करार पर रुपया कर्ज देकर दो-चार वर्ष के बाद उनकी जमींदारी नीलाम कराकर थोड़े दाम पर खरीद लेना; अथवा दबेल जमींदारों की जमींदारी जबरदस्ती छीन लेना और फिर मुकद्दमा होने से कड़ी पैरवी करके रुपया और बातूनी वकीलों की सहायता से बिजयी होना अथवा दो जमींदारों को चढ़ाकर आपस में लड़ा देना और पीछे दोनों की जमीन किसी प्रकार ले लेना। इन्हीं प्रकारों को अवलंबन कर रनपाल सिंह एक प्रचंड जमींदार कहलाने लगे...’’[95] इस उपन्यास में हुए भूमिहार जाति के चरित्र-चित्रण के संदर्भ में और बातें इसी अध्याय के पहले उप-अध्याय में की जा चुकी हैं। अतः उन्हें दुहराने का कोई औचित्य नहीं है।

शिवपूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' के बाबू रामटहल सिंह जमींदार हैं और संभवतः जाति के भूमिहार हैं। शिवपूजन सहाय ने बाबू साहब का चरित्र एक गुस्सैल, क्रूर और ऐय्याश जमींदार के रुप में प्रस्तुत किया है। बाबू रामटहल सिंह को ऊँची जाति के होने का अभिमान है और इसी अभिमान ने उन्हें छोटी जाति वालों के साथ क्रूरता का विशेषाधिकार भी दे दिया है। अपने जातिवादी अभिमान में छोटी जाति के आदमी को, जो स्वाभाविक रूप से सामाजिक तौर पर कमजोर है, मौके-बेमौके पीटना और उनकी बहू बेटियों की इज्जत उतारना इनके लिए सामान्य बात है। उपन्यास के एक प्रसंग में बाबू रामटहल सिंह की इस जातिवादी दबंगई को देखा जा सकता है- "एक दिन उन्होंने खेदू कहार को मारते-मारते बेहोश कर डाला।... इसी बीच उसकी स्त्री सोनिया गिड़गिड़ाती हुई आकर उनके पैरों पर गिर पड़ी।...सोनिया अपने जवान बेटों के सामने ही नंगी करके डंडों से पीटी गई। उसके लड़के डर के मारे काँपते और फूट-फूट कर रोते रह गए। उन्हें बाबू साहब के नौकरों ने गाए-गोरू की तरह पीटा। उनकी स्त्रियों की इज्जत तक उतार ली।"[96]

बाबू रामटहल सिंह दलित जाति की बुधिया को रखैल बनाकर रखे हुए है। ऊँची जाति के जमींदार में इतना साहस नहीं है और न ही ऐसी इच्छा है कि वह बुधिया को पत्नी का दर्जा देकर उसे अपने घर में रख सके। दरअसल इस संबंध में प्रेम है ही नहीं। बुधिया भले बाबू रामटहल सिंह से प्रेम करे लेकिन रामटहल सिंह तो केवल उसकी देह का इस्तेमाल करता है। बुधिया के प्रति रामटहल सिंह के आकर्षण को शिवपूजन सहाय ने बिल्कुल ठीक तरीके से व्यक्त किया है- "बाबू रामटहल सिंह चिकना देख फिसल पड़े।"[97] रामटहल सिंह अपने सुख के लिए बुधिया का इस्तेमाल तो करता है, लेकिन उसके लिए किसी तरह की जिम्मेदारी नहीं उठाता। उसने जब तक जी चाहा बुधिया का इस्तेमाल किया और बाद में अपनी जाति की लड़की से शादी करके बुधिया को अपने ससुर के हवाले कर दिया। रामटहल सिंह का ससुर मनबहाल सिंह पूरे इलाके में 'बेटीबेचवा' के नाम से मशहूर है, क्योंकि उसने अपनी नौ बेटियों को बेच-बेचकर ही अपनी जिंदगी चलाई है। बुधिया को रामटहल सिंह से तीन बेटियाँ पैदा हुई हैं। अब रामटहल सिंह के ससुर मनबहाल सिंह की निगाह बुधिया की इन तीन बेटियों पर है। उपन्यास में ऊँची जाति के इन पात्रों का चरित्र इसी रूप में चित्रित हुआ है, जहाँ मनुष्यता का लेशमात्र भी नहीं है।

उपन्यास में एक ब्राह्मण पात्र है- पसुपत पाँड़े। उपन्यासकार ने एक ठग, स्वार्थी, झूठा और पैसे का लालची व्यक्ति के रुप में पसुपत पाँड़े का चरित्र गढ़ा है। पसुपत पाँड़े का ध्यान हमेशा अपने स्वार्थ और पैसे पर रहता है। "ठाकुरबारी में पूजा-आरती करते, माला जपते और भोग लगाते समय भी उनका मन केवल धन कमाने की ही धुन में मस्त रहा करता था...।"[98] जब भी मौका लगे किसी से कुछ ठग लिया जाए- यही उनका चरित्र है। बाबू रामटहल सिंह के घर में पाँड़े जी की बड़ी पूछ थी। रामटहल सिंह की माता भी इनका बड़ा सम्मान करती थी।लेकिन पसुपत पाँड़े के लिए तो पैसे से बड़ा कुछ नहीं है। वह रामटहल सिंह के परिवार को ब्रह्मपिसाच के प्रकोप से मुक्ति दिलाने के नाम पर उनकी माता से हजार रुपए ठग लेता है। जिस पसुपत पाँड़े पर रामटहल सिंह की माता और उनके पूरे परिवार को जबर्दस्त भरोसा था, उन्हीं पाँड़े जी को जजमान के कल्याण से कुछ मतलब नहीं था। पसुपत पाँड़े की धूर्तता को उपन्यास की इन पंक्तियों से समझा जा सकता है-

"पसुपत पाँड़े बाबू राम टहल सिंह की बुढ़िया माता से एक हजार रुपए लेकर कमरु-कमच्छा चले गए। हजार रुपए तो घर में डाल दिए और खाकी साधु का वेश बनाकर चारों धाम की यात्रा के लिए निकल पड़े!...बाल पहले से ही बढ़ा रक्खे थे। दाढ़ी लंबी थी ही, बल्कि पेट में भी बड़ी लंबी दाढ़ी थी! भभूत रमाकर मूँज की करधनी पहने, कमंडल और मृगछाला के साथ घर से बाहर हो गए।... फिर तो दगे साँढ़ बन गए। सारी दुनिया उनकी अपनी ही जागीर बन गई।... बिना टिकट के ही रेल का सफर शुरू हो गया। गाड़ी में जब कोई टिकट की जाँच करने आता, तब पूरे मौनी बाबा बनकर माला दूहने लगते। टिकट माँगने पर लँगोटी, माला, मृगछाला और कमंडल दिखला देते!"[99]

अपनी इस पूरी यात्रा में पसुपत पाँड़े केवल और केवल ठगी और चोरी का काम करता है। धर्म का आवरण इस ठगी में उसे सहूलियत देने भर के लिए है। पसुपत पाँड़े की नीचता का आलम यह है कि यात्रा में मिले एक अंधे भिखारी सूरदास के पैसे चुराने से भी वह बाज नहीं आता- "रात को जब चारों ओर सन्नाटा छा गया, तब बाबा अपने चेले के साथ सूरदास की थाती-पूँजी लेकर चंपत हो गए!"[100] शिवपूजन सहाय ने पसुपत पाँड़े के लिए बिल्कुल ठीक लिखा है- "ऊपर पक्के परमहंस, भीतर कालनेमी के काका!"[101]

पसुपत पाँड़े किसी के लिए अपने स्वार्थ से समझौता नहीं करता। अपने ही गाँव के खेदू कहार के बेटे सजीवन को तंत्र-मंत्र सिखाने और रुपए-पैसे का प्रलोभन देकर अपने साथ अपना चेला बना कर ले जाता है। इसके माध्यम से लोगों को ठग-ठगकर खासा रुपया कमाता है, लेकिन आखिर में इसे भी दगा देता है। शिवपूजन सहाय लिखते हैं- "इस यात्रा में दो-तीन हजार से कम पाँड़े जी के हाथ न लगा। पर बेचारे सजीवन को दो-ढाई सौ ही देकर फुसला दिया।"[102]

अपनी 'ठगी की तीर्थयात्रा' पूरी करके लौटने पर पाँड़े जी को रामटहल सिंह की माँ को जवाब देना है। उन्हें भी पसुपत पाँड़े गढ़-गढ़कर किस्सा सुना देता है- झूठ, केवल झूठ। इस प्रकरण

के लिए शिवपूजन सहाय ने उपन्यास में एक अलग अध्याय रखा है, जिसके शीर्षक से भी पाँड़े जी के चरित्र का पता चल जाता है। शीर्षक है 'पाँड़ेजी का प्रपंच'। ब्राह्मण पसुपत पाँड़े के चरित्र की रही-सही विशेषता इसी अध्याय की बिल्कुल शुरुआती पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है। उपन्यासकार लिखता है-

"झूठे लेना झूठे देना,
झूठे भोजन झूठे चबेना।"[103]

हिंदी कथा-साहित्य के बड़े हिस्से के ब्राह्मण पात्रों के चरित्र पर शिवपूजन सहाय की उपर्युक्त पंक्तियाँ लागू होती हैं! क्या यह महज संयोग है?

प्रेमचंद चरित्र-चित्रण को उपन्यास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं। अपने 'उपन्यास' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा है- "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"[104]

विभिन्न जातियों के पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में प्रेमचंद बेजोड़ हैं। प्रेमचंद के साहित्य के अध्ययन के आधार पर विभिन्न जातियों के पात्रों के चरित्र की विशिष्टताओं को बड़ी स्पष्टता के साथ रेखांकित किया जा सकता है। प्रेमचंद के उपन्यासों में प्रायः हर जाति के पात्रों की मौजूदगी है। मोटे तौर पर इनकी पहचान ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया, पिछड़ी जाति और दलित जाति के पात्रों के रूप में की जा सकती है। प्रेमचंद की तमाम महत्वपूर्ण रचनाओं में इन विभिन्न जातियों के पात्रों के चरित्र एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। यह अकारण नहीं है कि प्रेमचंद के तमाम महत्वपूर्ण उपन्यास आवयविक रुप से एक-दूसरे से जुड़े हुए मालूम पड़ते हैं।

इस बात की चर्चा पहले भी की जा चुकी है कि प्रेमचंद के तमाम किसान पात्र (कुछेक अपवादों को छोड़कर) पिछड़ी जातियों के हैं- प्रायः कुर्मी, कोइरी या अहीर। अपवादस्वरूप जो कुछ दूसरी जातियों के किसान दिखाई पड़ते हैं, वे भी वास्तविक रूप से खेती करते हुए कहीं दिखाई नहीं पड़ते। प्रेमचंद के यहाँ खेती करने वाले और खेती को 'मरजाद' मानने वाले वास्तविक किसान तो पिछड़ी जातियों के किसान ही हैं। इसलिए प्रेमचंद जब किसानो के संदर्भ में कोई बात करते हैं तो उसे महज एक आर्थिक वर्ग के संदर्भ में समझने से बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं होती। प्रेमचंद के किसानों की एक स्पष्ट सामाजिक-जातिगत पहचान है। इस पहचान के साथ ही प्रेमचंद के किसानों की तस्वीर साफ उभरती है। अन्य जातियों के तथाकथित किसानों से पिछड़ी जाति के किसान के चारित्रिक अंतर को भी कुछेक जगहों पर प्रेमचंद ने स्पष्ट किया है।

प्रेमचंद के किसान (पिछड़ी जातियों के) मनुष्य हैं- सच्चे अर्थों में मनुष्य। मनुष्यता की कसौटी पर खरे सरल-सहज श्रमजीवी! 'गोदान' का होरी भारतीय किसान का प्रतिनिधि चरित्र है। होरी के चरित्र की कुछ विशेषताओं को 'गोदान' की निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर समझा जा सकता है-

- "होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था।"[105]
- "होरी ने झुँझलाकर कहा- ... हमीं को खेती से क्या मिलता है? एक आने नफरी की मजूरी भी तो नहीं पड़ती।... लेकिन खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता।..."[106]
- होरी की कृषक प्रकृति झगड़े से भागती थी। चार बातें सुन कर गम खा जाना इससे कहीं अच्छा है कि आपस में तनाजा हो। कहीं मार-पीट हो जाए तो थाना पुलिस हो, बँधे-बँधे फिरो, सबकी चिरौरी करो, अदालत की धूल फाँको, खेती-बारी जहन्नुम में मिल जाए।"[107]

दूसरों की मजबूरी का फायदा उठा कर अपना लाभ गाँठना अनैतिक है- इस तरह का नैतिक बोध पिछड़ी जाति के किसान के भीतर ही है। होरी में भी छोटी-छोटी चालाकियाँ करने की आदत

है। वह भोला से गाय पा जाने के लिए अपनी तरफ से चालाकी करता ही है, लेकिन इन सबके बावजूद उसके भीतर की मनुष्यता और उसका गहरा नैतिक बोध कभी लुप्त नहीं होता। जैसे ही उसे एहसास होता है कि अपनी चालाकी में वह सामने वाले की मजबूरी का लाभ उठा रहा है, वह तुरंत पीछे हट जाता है। यही दरअसल मनुष्यता है। यह मनुष्यता प्रेमचंद ने ऊँची जाति के पात्रों को यदाकदा ही बख्शी है।

ऊँची जाति के पात्रों में प्रायः एक प्रकार का जातिवादी अभिमान मौजूद है। इस जातिवादी अभिमान के कारण उनमें एक प्रकार की अभद्रता, ढीठपना और क्रूरता भी मौजूद है। दूसरों को ठगकर, उनकी मजबूरी का लाभ उठाकर इन्हें एक प्रकार का आत्मतोश मिलता है। यहाँ किसी प्रकार का कोई नैतिक बोध नहीं है। छोटे-मोटे साधारण किसानों-बेगारों को ठगना तो छोड़ दें, ये जमींदारों को भी चकमा देने में कामयाब हो जाते हैं। ज़ाहिर है अपनी सामाजिक जातिगत हैसियत के बल पर यह ऊपर के अमले-अधिकारियों से अपनी साँठ-गाँठ बिठाए रखते हैं। 'प्रेमाश्रम' के एक प्रसंग में प्रेमचंद ने लिखा है- "गाँव में दस-बारह घर ठाकुरों के थे। उनसे लगान बड़ी कठिनाई से वसूल होता था..."[108]

एक और उदाहरण देखा जा सकता है। 'प्रेमाश्रम' में ही ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या की बड़ी बहन गायत्री के पास भी थोड़ी जमींदारी है। उसके असामियों में कुछ ठाकुर भी हैं। ठाकुर गायत्री देवी की जमीन हड़प लेते हैं। कानूनगो गायत्री देवी को सूचना देता है- "आपको सुनकर रंज होगा। सारन में हुजूर की कई बीघे सीर असामियों ने जोत ली है, जगराँव के ठाकुरों ने हुजूर के नए बाग को जोतकर खेत बना लिया है, मेड़ें खोद डाली हैं। जब तक फिर से पैमाइश न हो कुछ पता नहीं चल सकता कि आपकी कितनी जमीन उन्होंने खाई है।"[109]

प्रेमचंद के पूरे कथा साहित्य में शायद ही कोई ऐसा प्रसंग ढूंढ कर निकाला जा सके, जहाँ किसी पिछड़ी जाति के किसान ने किसी जमींदार की जमीन हड़पने का विचार भी किया हो। इस

मामले का संबंध भारतीय समाज की जातिवादी संरचना तथा विभिन्न जातियों की 'सोशल ट्रेनिंग' से है। पिछड़ी जातियों की 'सोशल ट्रेनिंग' ऊँची जातियों की 'सोशल ट्रेनिंग' से भिन्न है। इसी भिन्न 'सोशल ट्रेनिंग' का नतीजा है कि होरी जैसा पिछड़ी जाति का किसान किसी तरह के झगड़े-झंझट में नहीं पड़ना चाहता, अपना सर्वस्व लुटा कर भी किसी का एक पैसा नहीं मारता और दूसरी तरफ 'प्रेमाश्रम' के ठाकुर असामी जमींदार तक की जमीन हड़प लेने का हौसला रखते हैं। प्रेमचंद इस 'सोशल ट्रेनिंग' को कहीं भी नजरअंदाज नहीं करते। उनके पात्रों का ध्यान से अध्ययन करने पर यह बात बहुत साफ तौर पर दिखाई पड़ती है।

पिछड़ी जाति के किसान तमाम अभावों के बावजूद मनुष्यता का दामन नहीं छोड़ते। ऐसा नहीं है कि ये किसी ऊँचे आदर्श का पालन करने के लिए सायास ऐसा करते हैं, बल्कि यह तो इनका स्वभाव है। किसान के खेत में काम करने वाला दलित मजदूर भी मनुष्य है, उसे भी भूख-प्यास लगती है, थकान होती है- इस बात की चिंता और समझ पिछड़ी जाति के किसान को तो है लेकिन किसी ऊँची जाति वाले व्यक्ति के मन में नहीं है, चाहे वह जमींदार हो या तथाकथित किसान। 'प्रेमाश्रम' में मनोहर के खेत में काम करने वाले रंगी दलित के लिए बलराज (मनोहर का बेटा) की चिंता में मनुष्यता का वह सहज रूप दिखाई पड़ता है। मनोहर, बलराज और रंगी एक साथ बैठकर खाना खा रहे हैं। बलराज की माँ बिलासी केवल बलराज के लिए दूध लाती है तो वह अपनी माँ से नाराज होकर कहता है- "...जो हम से अधिक काम करता है उसे हमसे अधिक खाना चाहिए। हमने तुम से बार-बार कह दिया है कि रसोई में जो कुछ थोड़ा-बहुत हो, वह सबके सामने आना चाहिए। अच्छा खाएँ, बुरा खाएँ तो सब खाएँ... रंगी कोई बेगार का आदमी नहीं है, घर का आदमी है। वह मुँह से चाहे न कहे, पर मन में अवश्य कहता होगा कि छाती फाड़कर काम मैं करूँ और मूछों पर ताव देकर खाएँ यह लोग। ऐसे दूध-घी खाने पर लानत है।"[110]

जैसे आग में तपकर सोना और भी चमक उठता है, उसी तरह अभावों में तपकर यह मनुष्यता और भी गरिमामयी हो उठती है। लेकिन ऐसी मनुष्यता प्रेमचंद के उपन्यासों में ऊँची जाति के पात्रों को कहाँ नसीब! 'गोदान' के रायसाहब ऊपर-ऊपर किसानों-मजदूरों के हमदर्द बनते हैं, बड़े-बड़े आदर्श बघारते हैं, लेकिन जब उनका चपरासी आकर सूचना देता है कि "बेगारों ने काम करने से इंकार कर दिया है। कहते हैं जब तक हमें खाने को न मिलेगा हम काम न करेंगे। हमने धमकाया तो सब काम छोड़ कर अलग हो गए"[111], तब यह सुनकर "रायसाहब के माथे पर बल पड़ गए। आँखें निकाल कर बोले- चलो मैं इन दुष्टों को ठीक करता हूँ। जब कभी खाने को नहीं दिया, तो आज यह नई बात क्यों? एक आने रोज के हिसाब से मजूरी मिलेगी, जो हमेशा मिलती रही है; और इस मजूरी पर काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े।"[112] प्रेमचंद कितनी सूक्ष्मता और कुशलता से यह भी बता देते हैं कि रायसाहब के यहाँ बेगारों का भूखे-प्यासे खटना कोई आज की बात नहीं है- 'जब कभी खाने को नहीं दिया...' -यह तो हमेशा की बात है! यह है ऊँची जाति के (ठाकुर) जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह की मनुष्यता!

इसी तरह 'गोदान' में उस प्रसंग को भी देखा जा सकता है जब होरी दातादीन के खेत में मजदूरी करने पर मजबूर हो जाता है और दातादीन उससे भूखे-प्यासे इतना काम लेता है कि वह बेहोश हो जाता है।[113] पिछड़ी जाति के पात्रों की मनुष्यता और ऊँची जाति के पात्रों की मनुष्यता(!) के अंतर के उदाहरण प्रेमचंद के उपन्यासों में भरे पड़े हैं।

प्रेमचंद ने अपने निबंध 'उपन्यास' में लिखा है- "वह (साहित्यकार) हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है... इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें, बल्कि उनका दमन करें; जो किसी विजयी

सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें, ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।"[114]

'हमारे मनुष्यत्व को जगाने वाले', 'हममें सद्भावों का संचार करने वाले' और हमें प्रभावित करने वाले ऐसे कितने चरित्र प्रेमचंद के उपन्यासों में मिलते हैं, जो ऊँची जाति के हों? संभवतः एक भी नहीं। क्या यह महज एक संयोग है कि प्रेमचंद के तमाम आदर्श पात्र- नायक- पिछड़ी या दलित जाति के हैं? या फिर यह भारतीय समाज की जातिवादी संरचना की गहरी समाजशास्त्रीय समझ है? दरअसल यह वह प्रस्थान बिंदु है जहाँ से प्रेमचंद के साहित्य का समाजशास्त्र विश्लेषित और व्याख्यायित होता है। 'रंगभूमि' के दलित (चमार) सूरदास का चरित्र प्रेमचंद के उपर्युक्त आदर्श चरित्र की शर्तों को अक्षरशः पूरा करता हुआ मालूम पड़ता है, मानो दलित सूरदास के चरित्र को ध्यान में रखकर ही प्रेमचंद ने वे शर्तें तय की हैं। सूरदास का चरित्र-चित्रण करते हुए 'रंगभूमि' के लगभग आखीर में प्रेमचंद लिखते हैं-

"सब-के-सब इस खिलाड़ी को एक आँख देखना चाहते थे, जिसकी हार में भी जीत का गौरव था... वह यथार्थ में खिलाड़ी था- वह खिलाड़ी, जिसके माथे पर कभी मैल नहीं आया, जिसने कभी हिम्मत नहीं हारी, जिसने कभी कदम पीछे नहीं हटाए, जीता तो प्रसन्नचित्त रहा, हारा तो प्रसन्नचित्त रहा, हारा तो जीतने वाले से कीना नहीं रक्खा, जीता तो हारने वाले पर तालियाँ नहीं बजाईं, जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धाँधली नहीं की, कभी द्वंद्वी पर छिपकर चोट नहीं की। भिखारी था, अपंग था, अंधा था, दीन था, कभी भरपेट दाना नहीं नसीब हुआ, कभी तन पर वस्त्र पहनने को नहीं मिला; पर हृदय धैर्य और क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भंडार था। देह पर मांस न था, पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूति भरी हुई थी।

हाँ, वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था; एक क्षुद्र, शक्तिहीन प्राणी था, चिंताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे, और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था। किंतु ये सभी दुर्गुण उस एक गुण के संपर्क से, नमक की खान में जाकर नमक हो जाने वाली वस्तुओं की भाँति, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे- क्रोध सत्क्रोध हो जाता था, लोभ सदनुराग, मोह सदुत्साह के रूप में प्रकट होता था और अहंकार आत्माभिमान के वेश में। और वह गुण क्या था? न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, दर्द, या उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।"[115]

ऐसा चरित्र प्रेमचंद के उपन्यासों में या उनके पूरे कथा साहित्य में किसी भी ऊँची जाति के पात्र को नसीब हुआ है क्या?

प्रेमचंद के उपन्यासों में आने वाले दलित पात्र प्रायः अभावग्रस्त किंतु सीधे, सरल, परिश्रमी और सहृदय हैं। प्रेमचंद के दलित पात्र 'भारत की कमाऊ संतान'[116] हैं। अहंकार का लेशमात्र भी इनमें नहीं। अहंकार हो भी तो किस बात का, न इनके पास पैसे का जोर है और न जाति का। जाति से भी हीन, धन से भी हीन, लेकिन मनुष्यता के धनी, जाति वालों और धन वालों के विपरीत। प्रेमचंद 'कर्मभूमि' उपन्यास में नौजवान-सभा के सामने खुले मैदान में प्रोफेसर शांतिकुमार की कथा वाले प्रसंग में दलितों की इस सहृदयता और ऊँची जाति वालों की संकीर्णता का 'कॉन्ट्रास्ट' दिखाते हुए लिखते हैं- "उधर नौजवान-सभा के सामने खुले मैदान में शांति कुमार की कथा हो रही थी।...थोड़ी देर में दरियाँ छोटी पड़ गईं और थोड़ी देर और गुजरने पर मैदान भी छोटा पड़ गया। अधिकांश लोग नंगे बदन थे, कुछ लोग चीथड़े पहने हुए। उनकी देह से तंबाकू और मैलेपन की दुर्गंध आ रही थी। स्त्रियाँ आभूषणहीन, मैली-कुचैली धोतियाँ या लहँगे पहने हुए थीं। रेशम और

सुगंध और चमकीले आभूषणों का कहीं नाम न था, पर हृदयों में दया थी, धर्म था, सेवाभाव था, त्याग था। नए आने वालों को देखते ही लोग जगह घेरने को पाँव न फैला लेते थे, यों ना ताकते थे, जैसे कोई शत्रु आ गया हो; बल्कि और सिमट जाते थे और खुशी से जगह दे देते थे।"[117]

दलितों की सहृदयता तथा ऊँची जाति वालों की संकीर्णता और उनके जातिवादी अभिमान का 'कॉन्ट्रास्ट' ठाकुरद्वारे में हो रही कथा के दौरान ऊँची जाति वालों द्वारा दलितों के साथ किए गए सलूक से और अधिक स्पष्टता के साथ उभरता है। प्रेमचंद लिखते हैं- "ब्रह्मचारी ने माथा पीट लिया। ये दुष्ट रोज यहाँ आते थे। रोज सबको छूते थे। इनका छुआ हुआ प्रसाद लोग रोज खाते थे! इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है? धर्म पर इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है? धर्मात्माओं के क्रोध का वारापार न रहा। कई आदमी जूते ले-लेकर उन गरीबों पर पिल पड़े। भगवान के मंदिर में, भगवान के भक्तों के हाथों, भगवान के भक्तों पर पादुका-प्रहार होने लगा!"[118]

दलितों की सहृदयता का एक और उदाहरण प्रेमचंद 'कर्मभूमि' में ही मुन्नी के प्रसंग में प्रस्तुत करते हैं। मुन्नी के साथ कुछ अंग्रेज सिपाहियों ने बलात्कार किया। मुन्नी ऊँची जाति की स्त्री थी- राजपूतनी। बलात्कार के बाद वह लौटकर अपने घर नहीं जाती, जाति-बिरादरी का भय था कि पता नहीं बिरादरी और खुद उसका पति उसे स्वीकार करे या न करे। मुन्नी इधर-उधर भटकती हुई एक धर्मशाले में पहुँच गई। प्रेमचंद लिखते हैं- ''एक सप्ताह से एक धर्मशाले के द्वार पर जीर्ण दशा में पड़ी थी। बड़े-बड़े आदमी धर्मशाले में आते थे, सैकड़ों-हजारों दान करते थे; पर इस दुखिया पर किसी को दया न आती थी। वह चमार युवक जूते बेचने आता था। इस पर उसे दया आ गई। गाड़ी पर लादकर घर लाया।''[119]

प्रेमचंद के पूरे कथा साहित्य के आधार पर इस बात को रेखांकित किया जा सकता है कि वहाँ पिछड़ी और नीची जाति का पात्र ऊँची जाति के पात्रों की तुलना में ज्यादा सहृदय हैं और मनुष्यता की मात्रा भी अधिक है। मुन्नी स्वयं इस बात को स्वीकार करती है कि 'अछूतों की इस

झोपड़ी में मुझे जो सुख और शांति मिली उसका बयान क्या करूँ।''[120] प्रेमचंद अछूतों की बस्ती में रहती हुई मुन्नी के विषय में लिखते हैं- ''यहाँ उसका आदर है, मान है। वह अपनी जात-पाँत भूल गई, आचार-विचार भूल गई आर ऊँच जाति ठकुराइन अछूतों के साथ, अछूत बनकर आनन्दपूर्वक रहने लगी। वह घर की मालकिन थी। बाहर का सारा काम वह करती, भीतर की रसोई-पानी, कूटता-पीसना दोनों देवरानियाँ करती थीं। वह बाहरी न थी। चौधरी की बड़ी बहू हो गई थी।''[121]

मुन्नी के प्रसंग में प्रेमचंद एक 'कॉन्ट्रास्ट' पैदा करते हैं। मुन्नी बलात्कार के बाद अपने घर जाने की हिम्मत नहीं कर पाती इस डर से उसकी बिरादरी और स्वयं उसका पति उसे स्वीकार नहीं करेगा। यह है ऊँची जाति की कुलीनता का दंभ! छूसरी तरफ अछूत समाज मुन्नी का इतना मान-आदर और अपनापन देता है, बिना इस बात की परवाह किए कि यह कौन है, किस कुल-बिरादरी-जाति की है। यह है अछूत समाज की सहृदयता! ज़ाहिर है प्रेमचंद के लिए ऐसी कुलीनता दो कौड़ी की चीज है, त्याज्य है और ऐसी सहृदयता अनमोल है, वरेण्य है। बहरहाल!

यही सहृदयता, यही सदाशयता पिछड़ी जाति के किसानों में भी है। 'गोदान' में दो ऐसे प्रसंग आते हैं, जहाँ कुलीनता और बिरादरी की परवाह किए बिना होरी और धनिया सहज मनुष्यता की रक्षा करते हैं। पहला प्रसंग है जब गर्भवती झुनिया होरी के घर आ जाती है। होरी और धनिया के लिए बहुत आसान था कि झुनिया को लात मारकर भगा दें और बिरादरी में अपनी नाक बचाए रखें। इसके विपरीत झुनिया को अपने घर में आश्रय देना बेवजह संकट और आफत को न्योता देना था। पहला मार्ग अत्यंत सरल था, दूसरा उतना ही संकटपूर्ण। लेकिन मनुष्यता का मार्ग तो दूसरा ही था। होरी और धनिया कभी भी अपनी मनुष्यता नहीं छोड़ सके। भले बिरादरी-बाहर हो गए, डाँड़ भरना पड़ा- भरा, लेकिन मनुष्य बने रहे। पिछड़ी जाति का किसान मनुष्यता और सहृदयता को कुलीनता से ज्यादा बड़ा मूल्य समझता है। इसकी रक्षा में कुलीनता चली जाए, कोई परवाह नहीं। धनिया दातादीन से आत्मविश्वास और गर्व के साथ कहती है- "हमको कुल-परतिसठा

इतनी प्यारी नहीं महराज, कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते।...बड़े आदमियों को अपनी नाक दूसरों की जान से प्यारी होगी, हमें तो अपनी नाक इतनी प्यारी नहीं।"[122]

दूसरा प्रसंग है सिलिया का पंडित मातादीन द्वारा ठुकराया जाना और फिर होरी-धनिया द्वारा उसे अपने घर में आश्रय देना। पंडित मातादीन सिलिया को धोखे में रखकर उसका यौन-शोषण करता है। सिलिया मातादीन से प्रेम करती है, लेकिन मातादीन के लिए सिलिया उसकी यौन तृप्ति के साधन और बेगार मजदूर के अलावा कुछ नहीं है। प्रेमचंद लिखते हैं- "सिलिया का तन और मन दोनों लेकर भी बदले में कुछ न देना चाहता था। सिलिया अब उसकी निगाह में केवल काम करने की मशीन थी, और कुछ नहीं।"[123] मातादीन जैसे ब्राह्मण की नैतिकता(?) यह है कि सिलिया चमारिन के साथ संभोग तो कर सकता है, मगर वह उसके घर के भीतर नहीं जा सकती, उसके हाथ का छुआ मातादीन कुछ खा नहीं सकता। मातादीन सिलिया से केवल लेता है, बदले में उसे कुछ नहीं देता और उसे छोड़ भी देता है- लाचार, बेसहारा।

पुनः इस अवसर पर सिलिया को आश्रय मिलता है पिछड़ी जाति के किसान होरी के घर में। होरी को सिलिया से कुछ नहीं मिलता है। हाँ, बिरादरी में बदनामी जरूर होती है। लेकिन तब भी उसकी सहृदयता और मनुष्यता का तकाजा यह है कि बेसहारा सिलिया को कैसे घर से निकाल दे। प्रेमचंद बार-बार दलित-पिछड़ी जातियों के पात्रों को ऊँची जातियों के पात्रों के विपरीत मनुष्यता के ऊँचे आसन पर बिठाते हैं। क्या यहाँ से प्रेमचंद के साहित्य के समाजशास्त्र का कोई वातायन नहीं खुलता?

भारतीय समाज की जातिवादी संरचना में ब्राह्मणों ने अपने लिए सर्वोच्च स्थान सुरक्षित कर रखा है। हिंदू धर्म और धर्मशास्त्रों की मनमौजी व्याख्या करके अन्य जातियों के लोगों को ठगने और उन्हें नीचा बनाए रखने का काम इस जाति के लोगों ने किया है। प्रेमचंद के उपन्यासों में आए ब्राह्मण पात्रों में से अधिकांश धूर्त्त, लोभी, मौकापरस्त, धर्म के नाम पर पाखंड करने वाले और

भोली-भाली निरीह जनता को ठगने वाले पात्र हैं। 'प्रेमाश्रम' के पंडित लेखराज से लेकर 'कर्मभूमि' के ब्रह्मचारी जी और 'गोदान' के पंडित दातादीन और पंडित मातादीन तक तमाम ऐसे ब्राह्मण पंडे-पुरोहित पात्र भरे पड़े हैं, जिनका चरित्र किसी भी तरह के नैतिक-बोध से सर्वथा शून्य है। इनके लिए कोई मूल्य (!) है तो केवल स्वार्थ। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों-कहानियों में ऐसे पंडे-पुरोहितों को खूब बेनकाब किया है। संभवतः इसी बात से चिढ़कर किन्हीं ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' ने प्रेमचंद पर ब्राह्मणों को काले रंग में चित्रित करने का आरोप लगाया था। प्रेमचंद ने 8 जनवरी, 1934 के अपने एक लेख- 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?' में निर्मल जी के आरोप का उत्तर देते हुए लिखा कि "हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती, तो हम अपना सारा जीवन हिंदू-जाति को पुरोहितों, पूजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी किटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिंदू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है, जो एक विशाल जोंक की भाँति उसका खून चूस रहा है, और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है।... यह दल दस-पाँच लाख व्यक्तियों का नहीं है, असंख्य है। उसका उद्यम यही है कि वह हिंदू जाति को अज्ञान की बेड़ियों में जकड़े रखे, जिससे वह जरा भी चूँ न कर सके। मानो आसुरी शक्तियों ने अंधकार और अज्ञान का प्रचार करने के लिए स्वयंसेवकों की यह अनगिनत सेना नियत कर रखी है।"[124]

पंडे-पुरोहितों के इस टकेपंथी दल को पोषण मिलता है वर्ण-जाति व्यवस्था से। इस व्यवस्था के भीतर ब्राह्मणों ने अपने लिए बैठे-बिठाए खाने का इंतजाम कर रखा है। 'प्रेमाश्रम' में पंडित नोखेराम को संबोधित करते हुए गायत्री इसी बात का संकेत करती है- "क्या करूँ, मेरे पुरखों ने भी बिना खेती की खेती, बिना जमीन की जमींदारी, बिना धन की महाजनी प्रथा निकाली होती, तो मैं आपकी ही तरह चैन करती।"[125] 'गोदान' में धनिया भी पंडित दातादीन को 'भिखमंगे की जात'[126] कहती है।

प्रेमचंद के ब्राह्मण पात्र केवल धर्म के नाम पर लोगों को ठगने का ही काम नहीं करते, और भी तमाम तरह के झूठ-सच, छल-प्रपंच में लगे रहते हैं। 'गोदान' में दातादीन की चारित्रिक विशेषता बताते हुए प्रेमचंद लिखते हैं- "वह इस गाँव के नारद थे। यहाँ की वहाँ, वहाँ की यहाँ, यही उनका व्यवसाय था। वह चोरी तो न करते थे, उसमें जान-जोखिम था;पर चोरी के माल में हिस्सा बँटाने के समय अवश्य पहुँच जाते थे।... जमींदार को आज तक लगान की एक पाई न दी थी, कुर्की आती, तो कुएँ में गिरने चलते, ...मगर असामियों को सूद पर रुपए उधार देते थे।... चोर के भी मित्र हैं और साह के भी। गाँव में किसी को उन पर विश्वास नहीं है...।"[127]

इसके अलावा 'कर्मभूमि' के ब्रह्मचारी जी का चरित्र भी बहुत कुछ ऐसा ही है। अमरकांत की बहन नैना के माध्यम से प्रेमचंद ब्रह्मचारी जी का चरित्र उद्घाटित करते हैं- "तुम बड़े धर्मात्मा बने हो! आधी रात तक इसी मंदिर में जुआ खेलते हो, पैसे-पैसे पर ईमान बेचते हो, झूठी गवाहियाँ देते हो, द्वार-द्वार भीख माँगते हो, फिर भी तुम धर्म के ठेकेदार हो। तुम्हारे तो स्पर्श से ही देवताओं को कलंक लगता है।"[128]

'गोदान' के पंडित नोखेराम कारकून का चरित्र भी द्रष्टव्य है- "पंडित नोखेराम कारकून बड़े कुलीन ब्राह्मण थे।... प्रातः काल पूजा पर बैठ जाते थे और दस बजे तक बैठे राम-नाम लिखा करते थे; मगर भगवान के सामने से उठते ही उनकी मानवता इस अवरोध से विकृत होकर उनके मन, वचन और कर्म सभी को विषाक्त कर देती थी।"[129]

ऐसे पाखंडी ब्राह्मण पात्रों के ढेरों उदाहरण प्रेमचंद के उपन्यासों में देखे जा सकते हैं। प्रेमचंद ने इनके पाखंडी चरित्र को खूब उद्घाटित किया है। लेकिन स्वयं प्रेमचंद की स्वीकारोक्ति गौरतलब है- "हमने अपने गल्पों में इस पाखंडी समुदाय का यथार्थ रूप नहीं दिखाया है, वह उससे कहीं पतित है, ... मगर यह हमारी कमजोरी है कि हम बहुत सी बातें जानते हुए भी उनके लिखने का

साहस नहीं रखते और अपने प्राणों का भय भी है, क्योंकि यह समुदाय कुछ भी कर सकता है।"[130] बहरहाल!

प्रेमचंद के उपन्यासों में ऊँची जाति के पात्रों का पुलिस-प्रशासन के साथ एक गठजोड़ साफ तौर पर देखा जा सकता है। 'गोदान' में होरी की गाय के मरने पर गाँव में दारोगा आता है तो उसके सेवा-सत्कार के लिए "दातादीन, झिंगुरी सिंह, नोखेराम, उनके चारों प्यादे, मंगरू साह और लाला पटेश्वरी, सभी पहुँचे और दरोगा जी के सामने हाथ बाँधकर खड़े हो गए।"[131] ध्यान देने की बात है कि यह सभी ऊँची जातियों के पात्र हैं। इसके विपरीत पिछड़ी जाति के किसान होरी की हालत दूसरी है- "जीवन में यह पहला अवसर था कि वह दारोगा के सामने आया। ऐसा डर रहा था, जैसे फाँसी हो जाएगी।... दारोगा के सामने कछुए की भाँति सिमटा जाता था।"[132] दारोगा के सामने ऊँची जाति के पात्रों और पिछड़ी जाति के किसान पात्र की स्थिति की भिन्नता का कोई समाजशास्त्र नहीं है क्या? असल में गाँव के गरीब-पिछड़े किसानों को डरा-धमका कर दारोगा जो रिश्वत लेता है, या कहें ऊँची जाति के पटवारी, कारकून, महाजन आदि दारोगा को जो रिश्वत दिलवाते हैं, उसमें इन पटवारियों-महाजनों का भी हिस्सा होता है। ये पटवारी-महाजन किसान को पुलिस-थाने का डर दिखाकर उन्हें रिश्वत देने के लिए तैयार करते हैं, फिर उन्हें मनमाने सूद पर रुपए उधार देते हैं, उन पर एहसान भी जताते हैं और फिर दारोगा को मिले रिश्वत में से अपना हिस्सा भी पाते हैं। 'गोदान' में इस पूरे प्रकरण को देखा जा सकता है।[133] इन दोहरे चेहरे और चरित्र वाले तमाम पटवारी-महाजन पात्रों में कोई भी दलित या नीची जाति का पात्र नहीं है। ये सब ऊँची जाति के पात्र हैं- ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया और कायस्थ।

मुख्तसर यह कि ऊँची जाति के पात्रों के दिखावे और ढकोसलों के प्रति प्रेमचंद प्रायः आलोचनात्मक और व्यंग्यात्मक रुख रखते हैं। जबकि दलित और पिछड़ी जाति के पात्रों के प्रति प्रेमचंद का रुख सहानुभूतिपूर्ण है। कमजोरियाँ दलित-पिछड़े पात्रों के व्यक्तित्व में भी हैं, छोटी-मोटी

क्षुद्रताएँ वहाँ भी हैं, मगर प्रेमचंद वहाँ व्यंग्य नहीं करते, सहानुभूति प्रकट करते हैं। यह वस्तुतः भारतीय समाज की जातिवादी संरचना की बारीकियों की गहरी समझ से ही संभव हो सका है।

यशपाल के उपन्यास 'दिव्या' में भी उच्च वर्ण के सामंतों और दासपुत्र पृथुसेन के चरित्र के अंतर को देखा जा सकता है। उच्च वर्ण के तमाम सामंत (आचार्य प्रबुद्ध शर्मा को छोड़कर) वर्णाश्रम के समर्थक दिखाए गए हैं। ये सभी इस वर्ण-व्यवस्था का समर्थन इसलिए करते हैं कि इसमें उनका राजनीतिक-आर्थिक वर्चस्व सुरक्षित रहता है। ये सभी उच्च वर्णीय सामंत षड्यंत्रकारी हैं। आपसी गठजोड़ से यह दासपुत्र पृथुसेन को महासेनापति का पद छोड़कर जान बचाकर भागने पर मजबूर कर देते हैं और मद्र गणराज्य के शासन पर कब्जा जमा कर वर्णाश्रम आधारित शासन-व्यवस्था लागू कर देते हैं। स्पष्ट है कि यशपाल ने भी उच्च वर्ण का चरित्र स्याह ही दिखाया है।

यहाँ इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि जब भी जातिवाद या वर्ण-व्यवस्था की आलोचना को रचना का विषय बनाया जाएगा तो वहाँ ऊँची जाति या ऊँचे वर्ण के पात्रों के चरित्र प्रायः स्याह ही दिखाए जाएँगे और इसके विपरीत दलित-पिछड़ी जातियों के प्रति रचनाकार का रुख प्रायः सहानुभूतिपूर्ण होगा। साहित्य का स्वभाव है कि वह वंचितों के पक्ष में खड़ा होता है। हमारे समाज की सच्चाई है कि यहाँ वंचित प्रायः दलित और पिछड़े हैं। इसलिए स्वाभाविक तौर पर साहित्य की पक्षधरता भी इन्हीं दलित-पिछड़ी जातियों के प्रति है। स्वतंत्रता-पूर्व के हिंदी उपन्यासों के चरित्रों और उनकी जातियों के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर तो यही निष्कर्ष सामने आता है।

जाति की समस्या: जिसके आगे राह नहीं

किसी भी समस्या के समाधान की पहली शर्त्त है समस्या की ठीक-ठीक पहचान। जाति को एक समस्या के रूप में पहचानने के लिए एक व्यापक सामाजिक अंतर्दृष्टि जरूरी है। हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों में इस व्यापक सामाजिक अंतर्दृष्टि का प्रायः अभाव है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि जाति वहाँ समस्या के रूप में आती ही नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वहाँ जातियों का जिक्र ही नहीं है। वहाँ भी प्रायः पात्र अपनी जातिगत पहचान के साथ ही मौजूद हैं। लेकिन 'जाति भारतीय समाज की कोढ़ है'- ऐसी समझ इन प्रारंभिक उपन्यासों में दिखाई नहीं पड़ती। बल्कि यदि इन प्रारंभिक उपन्यासों को ध्यान से पढ़ा जाए तो ये प्रायः जाति-वर्ण आधारित सामाजिक व्यवस्था को ही पुष्ट और पोषित करते हैं।

जाति व्यवस्था को एक सामाजिक समस्या के रूप में सबसे पहले और सर्वाधिक गंभीरता के साथ अपने उपन्यासों में पहचाना प्रेमचंद ने। प्रेमचंद ने जातिवाद को महज एक सामाजिक यथार्थ के रूप में ही नहीं पहचाना बल्कि सामाजिक शोषण और उत्पीड़न की एक व्यवस्था के रूप में भी इसकी पहचान की तथा अपने उपन्यासों को इस व्यवस्था के प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा किया। जातिवाद की समस्या मूलक पहचान के कारण ही प्रेमचंद इसके समाधान की तलाश में भी लगे। प्रेमचंद के उपन्यासों में जातिवाद की समस्या के समाधान की तलाश को देखा जा सकता है।

औपनिवेशिक सत्ता से मुक्ति के लिए छटपटा रहे भारत के सामने जो कुछ एक अत्यंत महत्वपूर्ण आंतरिक चुनौतियाँ थीं, उनमें से एक थी-जाति प्रथा। इस जाति प्रथा ने भारत की एक बहुत बड़ी आबादी को राजनीतिक-सामाजिक रुप से निष्क्रिय बनाकर छोड़ रखा था। इस आबादी की सक्रियता और सहभागिता के बगैर स्वराज्य का स्वप्न अधूरा ही रहना था। इसलिए भारत की स्वतंत्रता की एक तात्कालिक चुनौती थी- दलितों को भारतीय राजनीति की मुख्यधारा में शामिल करना। गाँधीजी का अछूतोद्धार कार्यक्रम इसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन था। दूसरी तरफ अंबेडकर जैसे दलित नेता थे जिनके लिए सामाजिक समानता महज स्वराज्य प्राप्ति का साधन नहीं, बल्कि स्वराज्य के समानांतर एक मुकम्मल लक्ष्य था। प्रेमचंद पर स्पष्ट तौर पर गाँधीजी का प्रभाव था। वे

भी राष्ट्रीयता के लिए वर्ण-जाति व्यवस्था को मिटाना आवश्यक मानते हैं। 8 जनवरी, 1934 के एक लेख में प्रेमचंद साफ-साफ लिखते हैं- "राष्ट्रीयता की पहली शर्त्त वर्णव्यवस्था, ऊँच-नीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है।"[134] लेकिन इसके साथ-साथ प्रेमचंद अंबेडकर की तरह सामाजिक समानता की लड़ाई को भी एक बड़ा लक्ष्य मानते हैं, जिसके बिना स्वराज्य का कोई अर्थ नहीं है। अपने उसी लेख में प्रेमचंद यह भी लिखते हैं- "हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि इस सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है...।"[135]

प्रेमचंद 'कर्मभूमि' में दलित मुक्ति का गाँधीवादी समाधान प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास का नायक अमरकान्त गाँधीवादी है। उपन्यास के शुरूआती अंशों में ही प्रेमचंद अमरकान्त पर गाँधीवाद के इस प्रभाव को स्पष्ट कर देते हैं। अमरकान्त अछूतों के गाँव में आकर उनके उद्धार के लिए जो प्रयास करता है, उसपर गाँधी के अछूतोद्धार आंदोलन के प्रभाव को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। गाँव में पाठशाला खोलना इसी की एक कड़ी है। गाँधी अछूतों को सफाई से रहने और गोमांस न खाने की बात बराबर कहते थे। कर्मभूमि में इन दोनों बातों को अमरकान्त के माध्यम से प्रेमचंद कहलवाते हैं। अछूतों के गाँव में पहली रात ही पन्द्रह-बीस लड़कों का एक दल अमरकान्त से मिलने पहुँचता है। उसी समय अमरकान्त उन्हें सफाई से रहने, रोज हाथ-मुँह धोने और नहाने की सलाह देता है। यह प्रसंग द्रष्टव्य है-

"अमर ने डाँटा- अच्छा, आपस में लड़ो मत। मैं एक बात पूछता हूँ, उसका जवाब दो। रोज मुँह-हाथ धोना अच्छी बात है या नहीं?"

सभी ने कहा- अच्छी बात है।

'और नहाना?'

सभी ने कहा- अच्छी बात है।

'मुँह से कहते हो या दिल से?

'दिल से'

'बस जाओ। मैं दस-पाँच दिन में फिर आऊँगा और देखूँगा कि किन लड़कों ने झूठा वादा किया था, किनने सच्चा।''[136]

एक दूसरा प्रसंग है जिसमें बगल के गाँव 'सिरोमनपुर' के ठाकुर की गाय मर गई है। अछूतों के गाँव से कई लोग वहीं गए हैं, मरी हुयी गाय को लाने। गाँव भर में उत्साह है कि आज घर-घर सिकार बनेगा। लेकिन अमरकान्त इस बात को बर्दाश्त नहीं कर पाता। वह गंगातट की तरफ निकल जाता है। अमरकान्त ने गाँव में कुछेक लोगों को काफी प्रभावित कर रखा है। वे अमरकान्त की हर बात मानते हैं और उसे अपना उद्धारक समझते हैं। इन लोगों ने अन्य गाँववालों को समझाया। मुन्नी समझाती है- ''जो चीज और किसी ऊँची जात वाले नहीं खाते, उसे हम क्यों खायें, इसी से तो लोग हमें नीच समझते हैं।''[137] एक अन्य युवक भी गाँववालों को समझाता है- ''मरी गाय के माँस में ऐसा कौन-सा मजा रखा है, जिसके लिए सब जने मरे जा रहे हो। ...वह भी जब अमर भैया की सलाह हो। हमको तो उन्हीं की सलाह पर चलना है। उनकी राह पर चलकर हमारा उद्धार हो जाएगा। सारी दुनिया हमें इसीलिए तो अछूत समझती है कि हम दारू-शराब पीते हैं, मुरदा-माँस खाते हैं और चमड़े का काम करते हैं। और हममें क्या बुराई है? दारू-शराब हमने छोड़ ही दी- हमने क्या छोड़ दी, समय ने छुड़वा दी- फिर मुरदा-माँस में क्या रखा है? रहा चमड़े का काम, उसे कोई बुरा नहीं कह सकता और अगर कहे भी तो हमें उसकी परवाह नहीं।''[138]

इन सब का परिणाम यह हुआ कि ''गाँव में फिर मुरदा-माँस न आया। आश्चर्य की बात तो यह थी कि दूसरे गाँव के चमारों ने भी मुरदा-माँस खाना छोड़ दिया।''[139]

उपर्युक्त दोनों प्रसंगों में गाँधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम का साफ-साफ प्रभाव देखा जा सकता है। अमरकान्त, मुन्नी और वह युवक गाँववालों से ठीक वही बातें कहते हैं जो गाँधी जी अछूतों से अपील करते हुए कहते थे। प्रेमचंद ने 1932-33 के आसपास 'जागरण' में ढेरों लेख लिखे जिनमे गाँधीजी के अछूतोद्धार और दलितों के मंदिर प्रवेश के आंदोलन का समर्थन किया गया है और देश

की जनता से अपील भी की गई है कि वे गाँधीजी के आंदोलन का समर्थन करें। यह अकारण नहीं है कि 1932 में प्रकाशित कर्मभूमि में अछूतोद्धार और अछूतों के मंदिर प्रवेश का मुद्दा महत्वपूर्ण ढंग से उठाया गया है।

लेकिन इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि प्रेमचंद जाति-मुक्ति या दलित-मुक्ति के इन गाँधीवादी प्रयासों से पूरी तरह सहमत हैं। प्रेमचंद के मन में द्वंद्व बना हुआ है। एक तरफ जहाँ प्रेमचंद अमरकान्त के माध्यम से दलितों को साफ-सफाई से रहने और मांस-मदिरा के सेवन से बचने का गांधीवादी संदेश देते हैं, वहीं दूसरी तरफ प्रो. शांतिकुमार के माध्यम से अपने मन के द्वंद्व को भी स्पष्ट कर देते हैं। मंदिर-प्रवेश के मसले पर प्रो. शांतिकुमार ब्रह्मचारी जी से कहते हैं- "मांस-मदिरा तो बहुत से ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य भी खाते हैं। आप उन्हें क्यों नहीं रोकते? भंग तो प्रायः सभी पीते हैं। फिर वे क्यों यहाँ आचार्य और पुजारी बने हुए हैं?"[140] ज़ाहिर है प्रेमचंद इस बात को बिल्कुल ठीक-ठीक समझ रहे हैं कि महज ऊपरी सुधारों से दलितों की सामाजिक स्थिति में कोई बुनियादी अंतर नहीं आएगा। असल बात है समाज की जातिवादी चेतना में परिवर्तन। इस बात को 'कर्मभूमि' के ही एक दूसरे प्रसंग से और बेहतर ढंग से समझा जा सकता है। काफी जद्दोजहद के बाद मंदिर का द्वार दलितों के लिए खुल जाता है। यह दलित समुदाय के लिए एक बड़ी उपलब्धि है। लेकिन इससे समाज की जातिवादी चेतना और संरचना में कोई बुनियादी अंतर आएगा- इसको लेकर प्रेमचंद के मन में संदेह बना हुआ है। इस पूरे प्रसंग के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं- "दूसरे दिन मंदिर में कितना समारोह हुआ, शहर में कितनी हलचल मची, कितने उत्सव मनाए गए, इसकी चरचा करने की ज़रूरत नहीं। सारे दिन मंदिर में भक्तों का ताँता लगा रहा।... किन्तु ऊँची जाति वाले सज्जन अब भी मंदिर में देह बचाकर आते और नाक सिकोड़े हुए कतराकर निकल जाते थे।"[141]

ज़ाहिर है दलितों में साफ-सफाई और शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा उनके मंदिर-प्रवेश को प्रेमचंद अंतिम रूप से जातिमुक्ति का कारगर उपाय नहीं मानते। सितंबर, 1932 में प्रकाशित 'कर्मभूमि' में दलितों की मुक्ति और मंदिर-प्रवेश को लेकर जो द्वंद्व प्रेमचंद के मन में है, वह दिसंबर, 1932 तक आते-आते थोड़ा स्पष्ट होता है। 26 दिसंबर, 1932 के अपने एक लेख में प्रेमचंद साफ-

साफ लिखते हैं- "हरिजनों की समस्या केवल मंदिर प्रवेश से हल होने वाली नहीं है। ... असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें। विद्यालयों में उनके लिए वजीफ़े करने चाहिए, नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए।"[142] आज़ादी के बाद अंबेडकर के प्रयासों से भारत जिस 'अफर्मेटिव एक्शन' के रास्ते पर चला, उसके संकेत प्रेमचंद के उपर्युक्त उद्धरण में साफ देखे जा सकते हैं।

जातिवादी समाज में ऊँची जातियों के द्वारा दलितों के जबर्दस्त शोषण की पद्धति और प्रक्रिया को प्रेमचंद बहुत बारीकी से समझ रहे थे। शुरुआती दौर में तो प्रेमचंद का आदर्शवादी कथाकार इस शोषण का समाधान ऊँची जाति के पात्रों के हृदय-परिवर्तन में तलाशता है, लेकिन जैसे-जैसे प्रेमचंद का लेखन और अनुभव परिपक्व होता है, हृदय-परिवर्तन की तकनीक से प्रेमचंद का मोह भंग होता जाता है (हालाँकि पूरी तरह नहीं होता)। प्रेमचंद अब यथार्थवाद की ओर ज्यादा विश्वास के साथ बढ़ते हैं। इसी यथार्थवादी रुझान का प्रमाण है 'गोदान' में मातादीन के मुँह में चमारों द्वारा हड्डी ठूँसने का प्रसंग। ऊँची जातियों के हृदय-परिवर्तन की आस लगाए दलित कब तक सामाजिक अपमान और दंश झेलते रहें? दलितों के सब्र का बाँध टूटता है और वह प्रतिरोध या कहें प्रतिशोध के लिए तैयार हो जाते हैं। 'गोदान' के इस प्रसंग में भविष्य के दलित प्रतिरोध और प्रतिशोध का बहुत साफ संकेत है। अंतहीन शोषण और उत्पीड़न की प्रतिक्रिया प्रतिरोध और प्रतिशोध ही होगी- प्रेमचंद इस बात का अनुमान बिल्कुल ठीक ठीक करते हैं।

इस बात को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए की जाति मुक्ति का कोई ठोस और अंतिम समाधान हमारे साहित्यकारों के पास न आजादी के पहले था और न अभी है। बल्कि, केवल साहित्यकारों को ही क्यों कहा जाए, समाजशास्त्रियों के पास भी इसका कोई कारगर समाधान नहीं है। साहित्यकार के लिए तो समाधान प्रस्तुत करने की बाध्यता भी नहीं है। एंगेल्स ने भी 26 नवम्बर, 1885 को मिन्ना काउत्स्की को लिखे एक पत्र में साफ लिखा है- "लेखक अपने द्वारा

वर्णित सामाजिक टकरावों का भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के सामने तैयारशुदा रूप में प्रस्तुत करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध नहीं है।"[143]

साहित्य और साहित्यकार की सबसे बड़ी जिम्मेदारी है जनता की संवेदनशीलता का परिष्कार करना और उनके भीतर सामाजिक परिवर्तन की चेतना को उभारना। अपने पूर्वोक्त पत्र में ही एंगेल्स ने यह भी लिखा है कि "समाजवादी प्रयोजनमूलक उपन्यास, मेरी दृष्टि में, उस समय अपने ध्येय की पूर्णतया पूर्ति करता है, जब वह वास्तविक संबंधों का सच्चा चित्रण कर इन संबंधों के स्वरूप के बारे में हावी रहने वाले प्रचलित भ्रमों को मिटा देता है... तथा अस्तित्त्वमान के आधार की शाश्वतता के बारे में शंका का समावेश करता है- भले ही लेखक ने इसके बारे में कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत न किया हो, भले ही उसने कभी-कभी कोई पक्ष तक न लिया हो।"[144] ज़ाहिर है किसी सामाजिक-राजनीतिक प्रश्न या मनुष्यता के किसी भी मुद्दे पर जनता के दृष्टिकोण को परिष्कृत करना, उसकी संवेदनशीलता और सामाजिक परिवर्तन की चेतना को उभारना और उसे मनुष्यता के उच्चतम आदर्शों की ओर उन्मुख करना ही साहित्य और साहित्यकार की प्राथमिक जिम्मेदारी है। अपनी इस जिम्मेदारी को हिंदी के साहित्यकारों ने पहचाना है और निभाया है। जाति की समस्या को लेकर तमाम उपन्यासकारों ने (कुछेक शुरुआती उपन्यासकारों को छोड़कर) पाठकों की संवेदनशीलता को उभारने का प्रयास किया है। जाति व्यवस्था की सामाजिक विद्रूपताओं, जातिवादी शोषण और जातिवादी ढकोसलों का चित्रण करके जाति के सामाजिक कोढ़ को पाठकों के सामने उभारने का काम हिंदी के उपन्यासकारों ने बखूबी किया है। हिन्दी उपन्यास ने निश्चित तौर पर जातिवादी शोषण के शिकार बहुजन के मन में जाति-व्यवस्था के अस्तित्त्व की शाश्वतता के प्रति शंका को गहरा किया है, जातिमुक्त समाज के निर्माण के प्रति जनता के आत्मविश्वास को मजबूती प्रदान की है।

निराला ने अपने उपन्यास 'निरुपमा' में बहुत ही बारीकी से जातिवादी ढकोसलों को बेपर्दा किया है। उपन्यास का नायक कुमार जब तक आर्थिक रूप से कमजोर है, तब तक ब्राह्मण समाज

विदेश जाने के कारण उसका जाति-बहिष्कार करके उसे और उसके परिवार को प्रताड़ित करता रहता है। लेकिन जब गाँव की जमींदार निरूपमा से ही कुमार की शादी हो जाती है और कुमार गाँव वालों की निगाह में शक्तिसंपन्न हो जाता है, तब गाँव वालों की जाति के नियमों की व्याख्या बदल जाती है। अब मुखिया गाँव वालों को जातिवाद का व्यावहारिक ज्ञान देता है- "पागल हो, राजा से कोई बैर करता है। अब वे दिन नहीं हैं। लखनऊ में कितने विलइतिहा हैं, उनके हाथ का पानी बंद है?"[145]

अपने इस उपन्यास में निराला हिंदू धर्म और जातिवाद के इसी पाखंड को बेनकाब करते हैं। धर्म और वर्णाश्रम के स्वनामधन्य ठेकेदार धर्म और जाति व्यवस्था की मनमानी व्याख्या करते हैं- अपनी सहूलियत और स्वार्थ के अनुसार। यह कोई ईश्वरीय व्यवस्था नहीं है, बल्कि स्वार्थी लोगों द्वारा अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए बनाई गई व्यवस्था है। इस मनुष्य निर्मित शोषक व्यवस्था के छल-छद्म और कपट को आम जनता के सामने प्रकट करके निराला उनकी चेतना को जातिमुक्त समाज के निर्माण की ओर उन्मुख करने का प्रयास करते हैं।

निराला अपनी कविता और कथा-साहित्य के अलावा विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में टिप्पणी और निबंधों के जरिए भी जातिवाद से मुक्ति का आह्वान करते रहे। 16 अगस्त, 1933 की 'सुधा' के सम्पादकीय में निराला लिखते हैं कि भारतीय 'समाज का आमूल परिवर्तन जरूरी हैं।'[146] जातिवाद को निराला हमारे देश का 'सहस्त्रों वर्ष का सामाजिक कोढ़'[147] और 'अनिष्टकारी सनातनी नीति'[148] मानते हैं।

निराला जाति प्रथा की किसी भी प्रकार की उपयोगिता नहीं मानते, बल्कि इसे समाज को तोड़ने और बाँटने वाली व्यवस्था मानते हैं और भारत की पराधीनता और राजनीतिक दुर्बलता का कारण भी। साथ ही निराला की यह समझ भी स्पष्ट है कि इस जातिवाद को पकड़े रहने में ब्राह्मण-क्षत्रिय जैसी तथाकथित ऊँची जातियों की भूमिका ही महत्वपूर्ण है। 'राजनीति के लिए सामाजिक

योग्यता' शीर्षक 'सुधा' के सम्पादकीय में वे लिखते हैं- ''जो ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी वर्णोच्चता का ढोंग भी नहीं छोड़ सकते, अपने ही घर के अन्त्यजों को अधिकार नहीं दे सकते, भारतीयता के अंधेरे में प्रकाश देखने के आदि हैं, वे बिना दिए हुए कुछ पाने का विचार कैसे रखते हैं? उनकी सामाजिक नीचता 'समाज'-शब्द को, उन्नतिशीलता के अर्थ को कैसे पुष्ट कर सकती है? हमारी राजनीतिक दुर्बलता यहीं पर है।''[149]

निराला भारत की राजनीतिक मुक्ति के लिए सामाजिक मुक्ति की अनिवार्यता को समझ रहे थे। जिस जाति प्रथा को वे भारत के दीन-हीन वर्तमान का कारण मानते हैं, उसी जाति प्रथा के भावी संकटों से भी जनता को सचेत करते हैं- ''यदि हम अब भी अपने भाइयों को घृणा की दृष्टि से देखेंगे, यदि हम अब भी उनका तिरस्कार करेंगे, यदि हम अब भी अपने ही ऐसे हाड़-चामवाले मनुष्यों को अछूत समझेंगे, उन्हें दुर-दुराएंगे, तो वह समय दूर नहीं, जब संसार की सारी शक्तियाँ हमसे रूठ जाएंगी तथा हमारा ऐसा पतन होगा कि हम उठाए न उठेंगे।''[150]

जिन लोगों ने जातिवाद को बनाए-बचाए रखा है, जातिवाद को खत्म करने का नैतिक दायित्व भी उन्हीं का है। इसलिए निराला उन्हें ही संबोधित करते हैं- ''...तोड़कर फेंक दीजिए जनेऊ, जिसकी आज कोई उपयोगिता नहीं, जो बड़प्पन का भ्रम पैदा करता है, और समस्वर से कहिए कि आप उतनी ही मर्यादा रखते हैं, जितनी आपका नीच-से-नीच पड़ोसी, चमार या भंगी रखता है। तभी आप महामनुष्य है। उसी क्षण आप ज्ञान-कांड के अधिकारी हैं।''[151]

निराला के लेखन में जातिवाद का विरोध तो बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ता है, लेकिन वर्णाश्रम को लेकर निराला का मोह समाप्त नहीं हुआ है। बल्कि वर्णाश्रम को तो निराला एक आदर्श समाज-व्यवस्था मानते हैं। 1 दिसम्बर, 1933 के 'सुधा' के संपादकीय- 'अधिकार-समस्या' में वे लिखते हैं- ''वर्णाश्रम-धर्म एक ऐसी सामाजिक स्थिति है, जो चिरंतन है। स्वाधीन समाज की इससे अच्छी

वर्णना हो नहीं सकती।''[152] लेकिन वर्णाश्रम के वर्तमान संकुचित और 'जातिवादी' स्वरूप के प्रति उनकी चिंता भी बनी हुई है, इसलिए अपनी उपर्युक्त टिप्पणी के तुरंत बाद निराला लिखते हैं- ''पर यह निश्चय है कि यह अधिकार सार्वभौमिक है, ऐकदेशिक, जातिगत या व्यक्तिगत नहीं।''[153]

साहित्य के अपने स्वभाव के अनुरूप हिंदी के उपन्यासकारों ने अपील की पद्धति भी अपनाई। विभिन्न जातियों, खासकर ऊँची जातियों से उनके उच्चता-बोध को त्यागने की अपील हिंदी के प्रायः सभी उपन्यासकारों ने की है। प्रेमचंद से लेकर निराला, यशपाल आदि अनेक उपन्यासकारों की रचनाओं में यह अपील बहुत साफ तौर पर दिखाई पड़ती है। इसके अलावा व्यंग्य के जरिए ऊँची जातियों के उच्चता-बोध के खोखलेपन को उद्घाटित कर उन्हें जातिवादी अभिमान त्यागने के लिए प्रेरित करने का काम भी इन उपन्यासकारों ने किया है। प्रेमचंद के उपन्यासों में ऊँची जाति के अनेक पात्रों के हृदय परिवर्तन को इस परिप्रेक्ष में देखा जा सकता है। ध्यान देने की जरूरत है कि प्रेमचंद की रचनाओं में हृदय परिवर्तन के अधिकांश प्रसंग ऊँची जाति के पात्रों के संदर्भ में ही घटित हुए हैं। जातिवादी समाज में हृदय परिवर्तन की आवश्यकता भी ऊँची जाति के लोगों को ही है!

इस तरह दलित-पिछड़ी जातियों के भीतर आत्मसम्मान की चेतना जगाकर तथा ऊँची जातियों को जातिवादी अभिमान त्यागकर समानता और बराबरी की भावना विकसित करने के लिए प्रेरित करके हिंदी के उपन्यासकारों ने जातिमुक्त समाज के निर्माण की दिशा में जनता की प्रवृत्ति को उन्मुख करने का प्रयास निःसंदेह किया है।

इतिहास गवाह है कि जाति और जातिवाद से मुक्ति का कोई भी फार्मूला अब तक कारगर साबित नहीं हो सका है। तमाम सामाजिक-राजनीतिक प्रयास जातिवादी दानव के सामने बौने साबित होते रहे हैं। परिस्थितियाँ बदली हैं, कुछ मामलों में जातिवादी श्रृंखला की कड़ियाँ ढीली भी हुई हैं, लेकिन इन सबके बावजूद जातिमुक्ति का स्वप्न तो आज भी स्वप्न ही है। ऐसे में साहित्य की यह भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है कि वह समाज को जातिवादी शोषण और असमानता के प्रति संवेदनशील बनाने का काम करता रहे। हिंदी साहित्य ने यह काम बखूबी किया है और

लगातार करता रहा है। भविष्य में जब भी कभी जातिमुक्ति का हमारा सपना साकार होगा, जातिवाद के विरुद्ध और समता मूलक समाज के हक में खड़ा हिंदी साहित्य निश्चय ही अपनी भूमिका के लिए गौरवान्वित हो सकेगा।

संदर्भ

---

[1] hindisamay.com से उद्धृत

[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2058, पृष्ठ-244

[3] गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ-84

[4] वही, पृष्ठ-105

[5] वही, पृष्ठ-116

[6] भुवनेश्वर मिश्र, बलवंत भूमिहार और घराऊ घटना, प्रस्तुति-रामनिरंजन परिमलेंदु, विद्या विहार, नई दिल्ली, 2005, पृ.-15

[7] प्रसन्न कुमार चौधरी, श्रीकान्त, बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृ.-48

[8] बलवंत भूमिहार और घराऊ घटना, पृ.-15

[9] वही, पृ.-31

[10] वही, पृ.-8

[11] वही, पृ.-21

[12] वही, पृ.-34-35

[13] हरिऔध ग्रंथावली-5, सं.- तरूण कुमार, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2010, पृ.- 5

[14] वही, पृ.-22

[15] वही, पृ.- 49

[16] वही, पृ.- 28

[17] वही, पृ.- 43

[18] वही, पृ.-41

[19] शिवपूजन सहाय, देहाती दुनिया, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ.-08

[20] वही, पृ.-30

[21] वही, पृ.-30

[22] वही, पृ.-30

[23] वही, पृ.-30

[24] वही, पृ.-31

[25] वही, पृ.-32

[26] वही, पृ.-105

[27] वही, पृ.-119

[28] प्रेमचंद, प्रेमाश्रम, मारुति प्रकाशन, मेरठ, पृ.-5

[29] वही, पृ.-281

[30] वही, पृ.-281

[31] वही, पृ.-139

[32] वही, पृ.-139

[33] वही, पृ.-139

[34] वही, पृ.-142

[35] वही, पृ.-188

[36] वही, पृ.-36

[37] वही, पृ.-74

[38] वही, पृ.-162

[39] प्रेमचंद, कर्मभूमि, सुमित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृ.-101

[40] वही, पृ.-101

[41] वही, पृ.-101

[42] वही, पृ.-104

[43] वही, पृ.-108

[44] वही, पृ.-141

[45] वही, पृ.-142

[46] वही, पृ.-150

[47] वही, पृ.-143

[48] प्रेमचंद, गोदान, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, 1996, पृ.-198

[49] वही, पृ.-199

[50] वही, पृ.-12

[51] डॉ. कमलेश वर्मा, 'प्रेमचंद के किसान, पिछड़ी जातियाँ और भारतीय संस्कृति' (आलेख), आरोह (पत्रिका), अंक-1, वर्ष- 1, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, 2013, पृ.-102

[52] रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1998, पृ.-220

[53] वही, पृ.-220

[54] गोदान, पृ.-3

[55] वही, पृ.-27

[56] वही, पृ.-173

[57] वही, पृ.-198

[58] वही, पृ.-200

[59] वही, पृ.-200

[60] वही, पृ.-200-201

[61] पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', मनुष्यानन्द (बुधुआ की बेटी), रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, दिल्ली, 1958, पृष्ठ- 74

[62] वही, पृष्ठ- 76

[63] वही, पृष्ठ-129

[64] वही, पृष्ठ- 141

[65] वही, पृष्ठ- 142

[66] वही, पृष्ठ- 146

[67] इन्द्र बसावड़ा, घर की राह, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ- 23-24

[68] वही, पृष्ठ- 32

[69] वही, पृष्ठ- 154

[70] वही, पृष्ठ- 72 73

[71] वही, पृष्ठ- 73

[72] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', निरूपमा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2005 पृ.-45

[73] वही, पृ.-9

[74] वही, पृ.-47

[75] वही, पृ.-53

[76] वही, पृ.-76

[77] वही, पृ.-60

[78] वही, पृ.-27

[79] वही, पृ.-28

[80] वही, पृ.-87

[81] वही, पृ.-74

[82] वही, पृ.-78

[83] वही, पृ.-79

[84] वही, पृ.-80

[85] वही, पृ.-81

[86] वही, पृ.-128

[87] यशपाल, दिव्या, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011, पृष्ठ-22

[88] वही, पृष्ठ-26

[89] वही, पृष्ठ-26

[90] वही, पृष्ठ-28

[91] वही, पृष्ठ-46

[92] वही, पृष्ठ-47

[93] वही, पृष्ठ-166

[94] वही, पृष्ठ-180

[95] बलवंत भूमिहार और घराऊ घटना, पृ.-31

[96] देहाती दुनिया, पृष्ठ-30

[97] वही, पृष्ठ-27

[98] वही, पृष्ठ-146

[99] वही, पृष्ठ 103-104

[100] वही, पृष्ठ-119

[101] वही, पृष्ठ-104

[102] वही, पृष्ठ-119

[103] वही, पृष्ठ- 129

[104] प्रेमचंद, प्रेमचंद के विचार (भाग-2),प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ-27

[105] गोदान, पृष्ठ-5

[106] वही, पृ.-12

[107] वही, पृ.-32

[108] प्रेमाश्रम, पृष्ठ-36

[109] वही, पृष्ठ-103

[110] वही, पृष्ठ-45

[111] गोदान, पृष्ठ-9

[112] वही, पृष्ठ-9

[113] वही, पृष्ठ 163-164

[114] प्रेमचंद के विचार (भाग-2), पृष्ठ-29-30

[115] प्रेमचंद, रंगभूमि, भारतीय ज्ञानपीठ, 2011, पृष्ठ-464

[116] कर्मभूमि, पृष्ठ-151

[117] वही, पृष्ठ-143

[118] वही, पृष्ठ-142

[119] वही, पृ.-103

[120] वही, पृ.-130

[121] वही, पृ.-103

[122] गोदान, पृष्ठ-98

[123] वही, पृष्ठ-99

[124] प्रेमचंद, विविध प्रसंग-2, संकलन-अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृष्ठ-470

[125] प्रेमाश्रम, पृष्ठ-104

[126] गोदान, पृष्ठ-164

[127] वही, पृष्ठ-98

[128] कर्मभूमि, पृष्ठ-145

[129] गोदान, पृष्ठ-100

[130] विविध प्रसंग-2, पृष्ठ-474

[131] गोदान, पृष्ठ-87

[132] वही, पृष्ठ-87

[133] देखें, वही, पृष्ठ-87-91

[134] विविध प्रसंग-2, पृष्ठ-476

[135] वही, पृष्ठ-475

[136] कर्मभूमि, पृष्ठ-106

[137] वही, पृष्ठ-119

[138] वही, पृष्ठ-121

[139] वही, पृष्ठ-122

[140] वही, पृ.- 146

[141] वही, पृ.- 150

[142] विविध प्रसंग-2, पृ.-455

[143] मार्क्स-एंगेल्स: साहित्य तथा कला, मार्क्स-एंगेल्स, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981, पृष्ठ-104

[144] वही, पृष्ठ-104 -105

[145] निरुपमा, पृष्ठ-128

[146] सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली-6, नंदकिशोर नवल (संपा.), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-417

[147] वही, पृष्ठ-419

[148] वही, पृष्ठ-419

[149] वही, पृष्ठ-417-18

[150] वही, पृष्ठ-419

[151] वही, पृष्ठ-418

[152] वही, पृष्ठ-437

[153] वही, पृष्ठ-437

तृतीय अध्याय

स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी कहानी और जाति का प्रश्न

(क) जातिवादी शोषण का सामाजिक यथार्थ

(ख) चरित्र-चित्रण: जाति के आईने में व्यक्ति का अक्स

(ग) जाति और जातिवाद: मुक्ति की राहें

जातिवादी शोषण का सामाजिक यथार्थ

हिन्दी कहानी की शुरुआत कायदे से बीसवीं शताब्दी की शुरुआत के साथ होती है। बीसवीं शताब्दी का पहला दशक वह दौर है, जिसमें हिन्दी कहानी की शक्ल गढ़ी जा रही थी। हिन्दी कहानी अभी अपने विधागत स्वरूप को लेकर ही संघर्ष कर रही थी। हालाँकि नवजागरण के प्रभाव में हिन्दी कहानी समाज-सुधार, स्त्री-शिक्षा आदि मे मुद्दों को उठा रही थी, लेकिन पहले दशक की हिन्दी कहानियों में जाति के प्रश्न पर कोई विचार लगभग नहीं किया गया है। छिटपुट कहानियों में पात्रों की जाति का उल्लेख (वह भी गैर इरादतन) और प्रेम-विवाह के बहाने अन्तर्जातीय विवाह का प्रसंग भले मिलता हो, किन्तु ये बातें कथा की मूल ध्वनि या महत्वपूर्ण ध्वनि के रूप में सामने नहीं आती हैं। दरअसल हिन्दी की शुरूआती कहानियों में उस यथार्थवादी चेतना का अभाव है, जो मूलतः कहानी को कहानी बनाती है। इसका कारण है कि हिन्दी कहानी ने संस्कृत की कथा-आख्यायिका की परंपरा और अरबी, फारसी, उर्दू दास्तानों की परंपरा से होते हुए अंग्रेजी की शॉर्ट स्टोरी की तर्ज पर अपना स्वरूप गढ़ा है। संस्कृत कथा और उर्दू दास्तानों में प्रायः काल्पनिकता पर जोर हुआ करता था। आख्यायिका में काल्पनिकता की जगह ऐतिहासिकता ने ली और तब उसमें यथार्थ के चित्रण की प्रवृत्ति विकसित होनी शुरू हुई। लेकिन यहाँ भी संयोग के आधार पर घटना के विकास को चित्रित करने की प्रवृत्ति बनी रही। ठोस यथार्थवादी चेतना का विकास होना अभी बाकी था। माधवप्रसाद मिश्र (विश्वास का फल-1901; पुरोहित का आत्मत्याग-1900), मास्टर भगवानदास (प्लेग की चुड़ेल-1902), बंग महिला (कुंभ में छोटी बहू-1906; दुलाईवाली-1907) आदि कहानीकारों की कहानियों में यथार्थवादी चेतना के दर्शन तो होते हैं, किन्तु यहाँ भी जाति के प्रश्न पर सचेत रूप से किसी प्रकार का लेखन दिखाई नहीं पड़ता। शायद जाति का सवाल तत्कालीन कथा साहित्य में महत्वपूर्ण नहीं बन पाया था। नवजागरणकालीन सुधारवादी माहौल में जो कुछ विचार-प्रधान यथार्थवादी चेतना से युक्त कहानियाँ लिखी गई, उनमें नारी की दशा, स्त्री शिक्षा,

आदि के सवाल तो आए, परन्तु जाति का सवाल अभी हिन्दी कहानी में अपनी जगह नहीं बना पाया था।

प्रेमचन्द से पहले की हिन्दी कहानियों में जाति कोई मुद्दा नहीं बन पाई। लेकिन यह दिलचस्प है कि प्रेमचंद की कहानियों में जाति एक अहम मुद्दा बन कर आई। जहाँ जाति का सवाल कहानी का केन्द्रीय बिन्दु नहीं है, वहाँ भी पात्रों की सामजिक पहचान के रूप में जाति की उपस्थिति है । इस मामले में प्रेमचंद अपने पहले के ही नहीं, अपने बाद के कथाकारों से भी बहुत अलग और आगे हैं। प्रेमचंद की कहानियों में जो पात्र आए हैं, प्रेमचंद ने प्रायः किसी न किसी रूप में उनकी जातिगत सामाजिक पहचान बताई है। कई जगहों पर सीधे-सीधे प्रेमचंद पात्र की जाति बताते हैं और जहाँ सीधे-सीधे जाति नहीं बताते वहाँ भी पात्र की सामाजिक स्थिति, उसके जीवन-व्यापार और परिवेश से उसकी जाति का काफी कुछ संकेत छोड़ देते हैं। प्रेमचंद का कोई भी गंभीर पाठक प्रेमचंद के उस पात्र की जातिगत सामाजिक स्थिति का अंदाज़ा लगा सकता है। प्रेमचंद अपने पात्रों की जाति को लेकर इतने सतर्क हैं कि कई कहानियों की तो बिल्कुल पहली पंक्ति में ही पात्र की जाति का उल्लेख कर देते हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं-

i) "**भोला महतो** ने पहली स्त्री के मर जाने के बाद दूसरी सगाई की तो उसके लड़के रग्घू के लिए बुरे दिन आ गए।"[1]

ii) "और लोगों के यहाँ चाहे जो होता हो, **तुलसी महतो** अपनी लड़की सुभागी को लड़के रामू से जौ-भर भी कम प्यार न करते थे।"[2]

iii) "किसी गाँव में शंकर नाम का एक **कुरमी किसान** रहता था।"[3]

iv) "**दुखी चमार** द्वार पर झाड़ू लगा रहा था।"[4]

v) "**पंडित लीलाधर चौबे** की जबान में जादू था।"[5]

vi) "बेनीमाधव सिंह गौरीपुर के जमींदार और नंबरदार थे। ...**ठाकुर साहब** के दो बेटे थे।"[6]

vii) "कजाकी **जाति का पासी** था...।"[7]

viii) "**बेचू धोबी** को अपने गाँव और घर से उतना की प्रेम था, जितना प्रत्येक मनुष्य को होता है।"[8]

ix) "**रामधन अहीर** के द्वार पर एक साधु आकर बोला-बच्चा तेरा कल्याण हो, कुछ साधु पर श्रद्धा कर।"[9]

ऐसे और भी ढेरों उदाहरण प्रेमचंद की कहानियों से छाँटकर निकाले जा सकते हैं।

प्रेमचंद ने सामाजिक यथार्थ के रूप में तो जातिवाद का चित्रण अपनी कहानियों में किया ही है, साथ ही जातिवादी शोषण-उत्पीड़न को भी अपनी कई कहानियों का विषय बनाया। जातिवादी सामाजिक संरचना में सर्वाधिक शोषण दलितों का होता है। दलितों के इस शोषण और उनकी अमानवीय सामाजिक स्थिति को केंद्र में रखकर प्रेमचंद ने एक दर्जन से अधिक कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में दलित जीवन की ट्रेजडी, उसकी दयनीयता की अभिव्यक्ति के साथ-साथ जातिवादी सामाजिक व्यवस्था से दलितों का तर्कपूर्ण जिरह भी है और जातिवादी शोषण का प्रतिरोध भी।

दलित-प्रश्नों से जुड़ी प्रेमचंद की कहानियाँ प्रायः 1925 के बाद की हैं। यह वह समय है जब गाँधीजी का अछूतोद्धार कार्यक्रम भी ज़ोर पकड़ रहा था। गाँधीजी के अछूतोद्धार कार्यक्रम का गहरा असर प्रेमचंद पर दिखाई पड़ता है। उस दौर में गाँधीजी के अछूतोद्धार कार्यक्रम और दलितों के मंदिर-प्रवेश के संदर्भ में बीसियों छोटे-बड़े लेख प्रेमचंद ने 'जागरण' में लिखे। दलितों का उद्धार, उनके सामाजिक सम्मान की चिंता, मंदिर-प्रवेश तथा धर्मांतरण से उन्हें रोकने आदि की चिंता प्रेमचंद की कहानियों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। 1924 की कहानी 'सौभाग्य के कोड़े' में कहानी के दलित पात्र नथुवा को ईसाई बनने से रोकने के प्रसंग को देखा जा सकता है। हालाँकि यहाँ इस बात को भी ध्यान में रखने की ज़रूरत है कि प्रेमचंद दलितों के ईसाई बनने के प्रति असंतोष ज़ाहिर करने के साथ-साथ हिन्दू धर्म में उनकी दयनीय अवस्था को भी नज़रअंदाज़ नहीं करते। प्रेमचंद दलितों को हिन्दू धर्म में बनाए रखने की स्थिति पर भी व्यंग्य करते हैं- "रायसाहब ने

उसे एक ईसाई के पंजे से छुड़ाया था। इन्हें इसकी परवा न हुई कि मिशन में उसकी शिक्षा होगी, आराम से रहेगा; उन्हें यह मंजूर था कि वह हिन्दू रहे। अपने घर के जूठे भोजन को वह मिशन के भोजन से कहीं पवित्र समझते थे। उनके कमरों की सफाई मिशन की पाठशाला की पढ़ाई से कहीं बढ़कर थी। हिन्दू रहे, चाहे जिस दशा में रहे।"[10] प्रेमचंद धर्मांतरण के मूल कारण के साथ इस बात को बिल्कुल ठीक-ठीक समझ रहे थे कि हिन्दू धर्म की सामाजिक संरचना में बुनियादी सुधार के बिना दलितों की स्थिति में सुधार संभव नहीं है।

धर्मांतरण की प्रक्रिया और इसे रोकने के लिए हिन्दू महासभा के प्रयासों पर एक और व्यंग्य 1926 की एक कहानी 'मंत्र-1' में देखा जा सकता है। मद्रास के एक इलाके में 'तबलीग' वाले दलितों में इस्लाम का प्रचार कर रहे हैं। ऐसे में पंडित लीलाधर चौबे को हिन्दू महासभा की ओर से दलितों को मुसलमान होने से रोकने की ज़िम्मेदारी दी जाती है। पंडित लीलाधर वर्ण-जाति व्यवस्था को बनाए रखते हुए हिन्दू धर्म के भीतर दलितों के लिए सम्मान का भाववादी प्रचार कर रहे थे कि एक बूढ़े दलित के बुनियादी सवालों ने उनकी हवाई बातों की पोल खोल दी। बूढ़े दलित और पंडित लीलाधर चौबे की बातचीत का एक हिस्सा देखा जा सकता है-

"बूढ़ा- अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे?

लीलाधर- मुझे कोई आपत्ति नहीं।

बूढ़ा- मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा?

लीलाधर- जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जाएँ, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाए, हम तुमसे विवाह का संबंध नहीं कर सकते, मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिंदुओं में मिल सकते हो।"[11]

पंडित लीलाधर का दलित के साथ भोजन करना स्वीकार करना साफ तौर पर एक किस्म का 'डिप्लोमैटिक' जवाब है। विवाह वाले प्रसंग में पंडित लीलाधर का तर्क स्पष्ट रूप से एक गाँधीवादी तर्क है। प्रेमचंद गाँधीजी से प्रभावित थे, लेकिन कई मुद्दों पर प्रेमचंद के विचार गाँधीजी

से बिल्कुल भिन्न हैं। अछूतोद्धार के इस गाँधीवादी तर्क के खोखलेपन को प्रेमचंद उसी दलित बूढ़े के तर्कों के माध्यम से पाठकों के सामने रखते हैं। पंडित लीलाधर को जवाब देते हुए बूढ़ा कहता है- "हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते; और कितने ही ऐसे हैं जो एक अक्षर भी नहीं पढे हैं; पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह-संबंध करने में आपको कदाचित् इनकार न होगा।...हिन्दू समाज में रहकर हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान्, कितने ही आचारवान् हो जाएँ, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे।"[12]

जातिवादग्रस्त हिन्दू समाज की संरचना में दलितों को सम्मान मिल पाना असंभव है। प्रेमचंद की कहानियों में इस बात की समझ बिल्कुल साफ है। दलित-मुक्ति दरअसल जाति-मुक्ति से ही संभव है, उसके बिना नहीं। प्रेमचंद की कई कहानियों में दलितों के साथ जातिवादी समाज के अमानवीय शोषण के यथार्थ का जो चित्रण मिलता है, उसका कारण यही है। प्रेमचंद के भीतर का यथार्थवादी लेखक अपने समाज के जातिवादी चरित्र को उसकी तमाम तहों के भीतर जाकर पकड़ता है। यही कारण है कि जातिवाद के तमाम छल-छद्म प्रेमचंद की कहानियों में बेपर्दा हो जाते हैं।

'सद्गति' (1931) प्रेमचंद की अत्यंत प्रसिद्ध कहानी है। यह कहानी तत्कालीन भारतीय समाज में एक दलित की स्थिति का यथार्थवादी चित्रण करती है। इस कहानी के जरिए जातिवादी समाज में दलितों और तथाकथित ऊँची जाति वालों के परस्पर व्यवहार को बारीकी से समझा जा सकता है। कहानी के पहले हिस्से में दुखी चमार और उसकी पत्नी झुरिया इसी बात की चिंता में लगे हैं कि पंडित घासीराम से बेटी की सगाई का शगुन निकलवाने के लिए उन्हें घर पर बुलाएँगे तो उन्हें बैठाएँगे कहाँ और खिलाएँगे क्या? जातिवादी समाज और पंडे-पुरोहितों के नियमों-शास्त्रों से भयभीत दुखी और उसकी पत्नी झुरिया अपनी ओर से हर संभव प्रयास करते हैं कि 'पंडित बाबा' को किसी तरह की कोई शिकायत न होने पाए। दुखी अपनी पत्नी को हिदायत देता है- "पत्तल में सीधा भी देना, हाँ। मुदा तू छूना मत। झूरी गोंड़ की लड़की को लेकर साह की दूकान से सब चीजें ले

आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आता, आध सेर चावल, पाव भर दाल, आध पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना। गोंड़ की लड़की न मिले तो भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं गजब हो जाएगा।"[13]

जिस पंडित के स्वागत-सत्कार को लेकर दुखी इतना चिंतित है, उसी पंडित के घर पर दुखी के साथ जानवरों से भी बदतर व्यवहार होता है। चिलम जलाने के लिए आग लेने दुखी पंडित के घर के भीतर चला जाता है। पंडिताइन की प्रतिक्रिया दुखी चमार की सामाजिक हैसियत और दलितों के साथ ऊँची जाति वालों के व्यवहार को समझने के लिए पर्याप्त है- "पंडिताइन ने भँवें चढ़ाकर कहा- चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाए घर में चला आए। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाए, नहीं तो इस लुआठे से मुँह झुलस दूँगी।"[14]

जातिवादी समाज की अमानवीयता का चरम यह है कि दुखी पंडित घासीदास का बेगार करते-करते मर जाता है और पंडित-पंडिताइन की चिंता यह है कि चमार की लाश कौन हटाएगा! इस कहानी का मुख्य पात्र दुखी तो धर्मभीरू है, शास्त्रों और ब्राह्मणों के बनाए सामाजिक नियमों से डरनेवाला और उनका पालन करने वाला है। उसके चरित्र में विद्रोह कहीं नहीं है। लेकिन इस कहानी में पूरा दलित समाज धर्मभीरू और डरपोक नहीं है। वहाँ विद्रोह की चेतना मौजूद है। दुखी की मौत या कहें जातिवादी व्यवस्था द्वारा उसकी हत्या के बाद चमरौने का कोई आदमी उसकी लाश हटाने नहीं जाता और अंततः पंडित घासीदास को स्वयं दुखी की लाश हटानी पड़ती है। लाश हटाने में भी पंडित घासीदास अमानवीयता की सारी सीमाओं को लाँघ जाता है। प्रेमचंद जाति-व्यवस्था के शोषण को उसके सबसे घृणिततम रूप में इस कहानी में प्रकट करते हैं।

'सद्गति' एक तरफ जहाँ जातिवादी समाज-व्यवस्था में दुखी जैसे दलित की दयनीय स्थिति और पंडित घासीदास जैसे ऊँची जाति के व्यक्ति की घोर अमानवीयता की कहानी है, वहीं जातिवादी शोषण के खिलाफ दलितों में विद्रोह और प्रतिरोध की चेतना के उभार का संकेत करने वाली कहानी भी है।

किसी भी व्यवस्था से विद्रोह करने के लिए उस व्यवस्था के छल-छद्म की स्पष्ट पहचान जरूरी है। बल्कि कहें कि विद्रोह का मूल इस पहचान में ही निहित है। प्रेमचंद के दलित पात्रों पर प्रायः दलित विमर्शकारों ने यह आरोप लगाया है कि उनमें प्रतिरोध की चेतना नहीं है। लेकिन यह बात सही नहीं है। पहली बात तो यह कि प्रेमचंद के कुछ एक पात्र ऐसे हैं जो सीधे-सीधे प्रतिरोध करते हैं और कई ऐसे पात्र हैं जिनमें प्रतिरोध की चेतना पूरी तरह परिपक्व है। दूसरी बात इस संदर्भ में ध्यान में रखनी चाहिए कि 1925- '35 के दौर के प्रेमचंद के दलित पात्रों से 1990 के बाद के दलित प्रतिरोध की अपेक्षा करना भी न्यायसंगत नहीं है। चेतना का गहरा संबंध ऐतिहासिक परिस्थितियों से होता है। इस बुनियादी बात को नज़रअंदाज़ करके ही हम प्रेमचंद के पात्रों से समकालीन दलित विमर्श जैसी प्रतिरोधी चेतना की उम्मीद कर सकते हैं।

'घासवाली' (1929) कहानी की मुलिया ठाकुर चैनसिंह से सीधा मोर्चा लेती है। वहाँ न कोई समर्पण है और न ही किसी प्रकार के रहम की गुजारिश। मुलिया का व्यक्तित्व चेतना संपन्न और प्रदीप्त है। एक दलित स्त्री का इतना ओजस्वी व्यक्तित्व तो समकालीन दलित लेखन में भी शायद ही मिले।

दलित जीवन की एक और त्रासदी को प्रेमचंद अपनी कहानी 'ठाकुर का कुआँ' में अभिव्यक्त करते हैं। दलितों के साथ जातिवादी समाज की यह कैसी क्रूर अमानवीयता है कि उन्हें जीवन की सर्वाधिक मूलभूत जरूरतों से भी वंचित कर दिया जाता है। जातिवाद के कारण भारतीय आबादी का एक बड़ा हिस्सा पीने लायक पानी से भी वंचित रहता आया है।जातिवाद असल में तमाम प्राकृतिक और भौतिक संसाधनों पर ऊँची जातियों के कब्जे को ही तो सुनिश्चित करता है। 'ठाकुर का कुआँ' इसी जातिवादी समाज में पीने के पानी के लिए संघर्षरत दलित पात्रों जोखू और गंगी की कहानी है। जोखू का कड़वा सामाजिक अनुभव उसके भीतर विद्रोह की संभावनाओं को परास्त कर चुका है। वह बीमार है। दलितों के कुएँ में जानवर गिर कर मर गया है, उसका पानी पीने लायक नहीं है। गंगी ठाकुर या साहू के कुएँ से पानी लाना चाहती है, लेकिन जोखू उसे समझाता है- "हाथ-पाँव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से।"[15] जोखू का यह कथन दरअसल जातिवादी

समाज का यथार्थ है। कहानी का अंत जोखू की ही बात को प्रमाणित करता है। लेकिन गंगी जातिवाद के इस घृणित रवैये के खिलाफ फूट पड़ती है- "गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबंदियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा- हम क्यों नीच हैं और यह लोग क्यों ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं? यहाँ तो जितने हैं, एक-से-एक छँटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकद्दमे ये करें।...किस बात में हैं हम से ऊंचे।"[16] गंगी जाति-व्यवस्था के संरक्षकों के छल-छद्म को उघाड़ देती है, उनके दिखावे की पोल खोल देती है।

प्रेमचंद की कहानियों की ऐसी ही एक और विद्रोही दलित स्त्री है- 'मंदिर' (1927) कहानी की सुखिया। दलितों के मंदिर-प्रवेश के मुद्दे पर लिखी गई यह कहानी अत्यंत ही मार्मिक और प्रभावशाली है। कहानी के आखिर में जातिवादी ग्रामीणों से सुखिया का संवाद दरअसल जातिवाद से एक तार्किक जिरह है। सुखिया के सवाल बहुत ही मासूम लेकिन लाजवाब कर देने वाले हैं- "मेरे छू लेने से ठाकुर जी को छूत लग गई? पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो सकता। मेरे छू लेने से ठाकुर जी अपवित्र हो जाएंगे! मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी?"[17]

'मंदिर' कहानी की सुखिया के माध्यम से जो बात प्रेमचंद 1927 में कह रहे थे, ठीक वही बात वे 1932 के अपने एक लेख में भी कहते हैं- “अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं, ... लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जाएंगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता वह है, जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाए। ... पतितों का उद्धार करने वाले ठाकुर ही हमारे ठाकुर हैं, जो पतितों के दर्शन-मात्र से पतित हो जाएँ, ऐसे ठाकुर को हमारा दूर ही से नमस्कार है।”[18]

इस तरह प्रेमचंद अपनी कहानियों के जरिए दलित प्रश्नों को लगातार उठाते रहे और दलितों के हक में खड़े रहे। उपर्युक्त कहानियों के अलावा 'दूध का दाम', 'गुल्ली-डंडा', 'कफ़न' आदि जैसी

अत्यंत सशक्त कहानियाँ हैं, जिनमें प्रेमचंद ने भारतीय समाज की जातिवादी संरचना में दलितों की स्थिति और उनके शोषण को मुद्दा बनाया है।

प्रेमचंद के लिए जाति और जातिवाद का सवाल केवल ऊँची जातियों द्वारा दलित जातियों के शोषण तक ही सीमित नहीं था। तथाकथित ऊँची जातियों और दलित जातियों के बीच बहुत बड़ी आबादी पिछड़ी जातियों की है। प्रेमचंद जिस भारतीय समाज को अपना कथा-केन्द्र बनाते हैं, उसमें सबसे बड़ी आबादी इन्हीं पिछड़ी जातियों की है। प्रेमचंद के पूरे कथा-साहित्य को उठाकर देखने पर यह बात साफ तौर पर समझ में आती है कि वहाँ भी पिछड़ी जाति के पात्रों की ही सर्वाधिक उपस्थित है।

प्रेमचंद की कहानियों के समग्र प्रभाव के आधार पर शायद यह बात कही जा सकती है कि प्रेमचंद मूल रूप से किसान जीवन के कहानीकार हैं। किसानों के जीवन के राग-विराग, हर्ष-शोक, उनकी पारिवारिक संरचना, सामाजिक संरचना, समस्याएं, आर्थिक, कठिनाइयाँ आदि प्रायः हर प्रसंग प्रेमचंद की कहानियों में खूब मिलते हैं। कह सकते हैं कि पूरी कृषक पूरी कृषक संस्कृति प्रेमचंद की कहानियों में दिखाई पड़ती है और इसी किसानी संस्कृति के प्रति प्रेमचंद का सम्मान भी है, उनकी आस्था भी है। ध्यान देने के बात है कि यह जो कृषक संस्कृति प्रेमचंद की कहानियों में छायी हुयी है, उस संस्कृति के मूल घटक वे लोग हैं जो खेती-किसानी से जुड़े हुए लोग हैं, जिनके पास कुछ थोड़े-बहुत खेत हैं, जो उन खेतों में काम करते हैं और खेती जिनके लिए 'मरजाद' की बात है। यह 'मरजाद' उस संस्कृति के निर्माण और उसके संरक्षण का आधार है। प्रेमचंद इस बात को खूब अच्छी तरह समझते हैं और हमें भी समझाते हैं। प्रेमचंद की कहानियों को ध्यान से पढ़ने पर इस 'मरजाद' पर जान देने वाले किसानों की सामाजिक स्थिति आसानी से समझी जा सकती है। ये किसान पिछड़ी-जातियों के किसान हैं- कोयरी, कुर्मी या अहीर। ये किसान बड़े किसान नहीं हैं, बल्कि दस से बीस बीघे जमीन में खेती करने वाले किसान हैं, जिन पर ऊँची जाति के जमींदारों का दबदबा है। ये छोटे किसान जमींदार को लगान चुकाने के बाद मुश्किल से इतना अनाज बचा पाते हैं कि दो जून

की रोटी नसीब हो जाए और कभी-कभी तो उतना भी नहीं बचता। ये छोटे किसन सोच-विचार करते हैं, जोड़-घटाव करते हैं कि इस खेती में बचा ही क्या है? इससे तो मजदूरी अच्छी है। लेकिन जो बात इन किसानों को मजदूर बनने से रोकती है वह 'मरजाद' ही है। 'मरजाद' की चिन्ता न होती तो कब का ये किसानी छोड़कर मजदूर बन गए होते। मगर मजदूर बन जाना अपनी सामाजिक हैसियत से च्युत हो जाना है। कारण यह कि मजदूरी तो नीची जाति के लोगों का काम हैं। इसके अलावा जब तक खेती कर रहे हैं तब तक सारी आर्थिक तंगी के बावजूद किसी के नौकर तो नहीं हैं। मजदूरी से आर्थिक तंगी भले थोड़ी कम हो जाए मगर वह आजादी और 'मरजाद' तो न बचेगी। 'सभ्यता का रहस्य' कहानी में दमड़ी की चिंता इसी 'मरजाद' को बचाए रखने की है- "लेकिन मौरूसी किसान मजदूर कहलाने का अपमान न सह सकता था। इस बदनामी से बचने के लिए दो बैल बाँध रखे थे! उसके वेतन का बड़ा भाग बैलों के दाने-चारे में ही उड़ जाता था। ये सारी तकलीफें मंजूर थीं, पर खेती छोड़कर मजदूर बन जाना मंजूर न था। किसान की जो प्रतिष्ठा है, वह कहीं मजदूर की हो सकती है, चाहे वह रुपया रोज ही क्यों न कमाए?"[19]

दरअसल, 'मरजाद' प्रेमचंद के किसानों का नैतिक बल है। वह सबकुछ खोकर भी इस 'मरजाद' को बचाकर रखना चाहता है तो सिर्फ इसलिए की गाँव-बिरादरी में मुँह दिखाने लायक बचा रहे। यहाँ रामविलास जी की इस बात से असहमत होने का आधार बनता है कि किसानों की मूल समस्या आर्थिक (ऋण की समस्या) है। बल्कि ऋण का बोझ तो इन किसानों की मूल समस्या से निबटने की कोशिश का परिणाम है। इन किसानों की मूल समस्या है 'मरजाद' की रक्षा। डॉ. कमलेश वर्मा ने अपने लेख 'प्रेमचंद के किसान, पिछड़ी जातियाँ और भारतीय संस्कृति' में किसानों की मरजाद-रक्षा के इस पक्ष को उठाया है। डॉ. वर्मा लिखते हैं- " 'गोदान' ही नहीं प्रेमचंद के पूरे कथा-साहित्य में किसान की मूल समस्या मरजाद को बचाए रखने की समस्या है। यदि वह मरजाद की चिंता नहीं करता तो ऋण की समस्या उसके सामने नहीं आती।"[20] प्रेमचंद के लिए किसानों की

यही मरजाद की चिन्ता उनकी मनुष्यता की सबसे बड़ी कसौटी है। 'मरजाद' प्रेमचंद के लिए दरअसल एक प्रकर की नैतिकता है जिस पर वे मनुष्यता को परखते हैं।

प्रेमचंद की कहानियों के आधार पर यह बात कही जा सकती है कि मरजाद की चिन्ता प्रायः पिछड़ी जाति के छोटे किसानों को है। ऊँची जाति के लोगों, जमींदारों को कुलीनता की चिन्ता तो है पर मरजाद की चिन्ता नहीं है। कुलीनता और मरजाद में बुनियादी फर्क है। कुलीनता की चिन्ता व्यक्ति को कट्टर, अनुदार और अमानवीय बनाती है, जबकि मरजाद की चिन्ता उसे सहिष्णु, उदार और मानवीय बना देती है। कुलीनता का भाव घमंड को जन्म देता है, मरजाद की चिन्ता स्वाभिमान की रक्षा की चिन्ता है। कुलीनता वर्णाश्रम के सिद्वांतों को मनुष्यता से ऊपर रखती है, मरजाद के लिए पहली और आखिरी कसौटी मनुष्यता है, भाईचारा है।

प्रेमचंद के साहित्य में जाति का यथार्थ बहुत ही स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ जातियाँ भी हैं और जातियों की आपसी टकराहट भी। ग्रामीण भारत की सामाजिक संरचना भी यही है। लेकिन रामविलास जी के विचार इस संबंध में कुछ अलग हैं। रामविलास जी लिखते हैं- ''ऊँच-नीच के भेदभाव के प्रति प्रेमचंद से अधिक सचेत और कोई हिन्दी लेखक नहीं था। पर उनके कथा साहित्य में वर्ग-संघर्ष है, जमींदारों, महाजनों, अंग्रेजी राज के हाकिमों के विरूद्ध संघर्ष है, अगड़ी-पिछड़ी जातियों के बीच संघर्ष नहीं है।''[21] 'ठाकुर का कुआँ' की गंगी, 'मंदिर' की सुखिया, 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर, 'घासवाली' कहानी की मुलिया और ऐसे कई पात्र जो प्रेमचंद के साहित्य में आए हैं, उनका संघर्ष पिछड़ी या दलित जाति के व्यक्ति का ऊँची जाति वालों से संघर्ष है या वर्ग-संघर्ष? 'सद्गति' कहानी में चमारों द्वारा दुखी चमार की लाश को हटाने से इनकार कर देना दलित जाति का ऊँची जाति वालों से संघर्ष है या वर्ग-संघर्ष? रामविलास जी अपनी उपर्युक्त बात को सिद्ध करने के लिए मज़ेदार तर्क देते हैं कि प्रेमचंद के कथा-साहित्य में ''कहीं भी यह संकेत नहीं है कि बिरादरी के आधार पर सब लोग एक हो जाएँ तो उनका उद्धार हो जाएगा। ऊँच-नीच का

भेदभाव डूबता हुअ यथार्थ है; वर्गों का निर्माण, जमींदारों-महाजनों के खिलाफ गरीब किसानों का संघर्ष उगता हुआ यथार्थ है।''[22] यहाँ ध्यान में रखने की बात है कि अगड़ी-पिछड़ी जातियों का संघर्ष का एक बात है और बिरादरी के आधार पर संगठित होकर लड़ना दूसरी बात है। रामविलास जी इन दोनों बातों को आपस में मिला देते हैं। बिरादरी के आधार पर संगठित होकर लड़ने का संकेत यदि प्रेमचंद के कथा साहित्य में नहीं मिलता तो उससे अनिवार्य रूप से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वहाँ ऊँची-नीची जातियों का संघर्ष भी नहीं है, जैसा रामविलास जी करते हैं।

रामविलास जी का मार्क्सवादी उत्साह अपनी जगह ठीक है लेकिन इस उत्साह में वे इस तथ्य को नज़रअंदाज, कर देते हैं या जानबूझ कर छुपा देते हैं कि प्रेमचंद जब जमींदार, महाजन और किसान की बात करते हैं तब भी लगभग अनिवार्य रूप से उनकी जाति का उल्लेख करते हैं। निश्चय ही प्रेमचंद ने किसानों की आर्थिक विपन्नता और महाजनी सभ्यता को अपने साहित्य का एक महत्वपूर्ण विषय बनाया, लेकिन यह करते हुए प्रेमचंद कहीं भी किसानों-मजदूरों और जमींदारो-महाजनों की सामाजिक जातिगत स्थिति को नज़रअंदाज़ नहीं करते। प्रेमचंद के कथा साहित्य को पढ़ने से यह बात बिलकुल साफ तौर पर समझ में आती है। कि प्रेमचंद के किसानों-मजदूरों की आर्थिक विपन्ता का गहरा और अनिवार्य संबंध उनकी सामाजिक स्थिति से है। रामविलास जी के लिए ऊँच-नीच का भेदभाव या जातिगत भेदभाव भले डूबता हुआ यथार्थ हो, प्रेमचंद के लिए यह उनके समय और समाज का ज्वलंत यथार्थ है। अब रहा सवाल कि यदि प्रेमचंद के कथा-साहित्य में 'कहीं यह संकेत नहीं है कि बिरादरी के आधार पर सब लोग एक हो जाएँ तो उनका उद्वार हो जाएगा' तो क्या इसके उलट यह संकेत है कि वर्ग के आधार पर सब लोगों के एक हो जाने पर उनका उद्धार हो जाएगा? प्रेमचंद के कथा साहित्य के आधार पर यह बात उतनी स्पष्टता से तो नहीं ही कही जा सकती है जितनी स्पष्टता और आत्मविश्वास से रामविलास जी कहते हैं- ''प्रेमचंद साहित्य में यह वर्ग विभाजन साफ दिखाई देता है...।''[23] आश्चर्य की बात है कि प्रेमचंद अपनी कहानियों-उपन्यासों में जाति की चर्चा अनिवार्य रूप से करते हैं, ग्रामीण समाज की

जातिवादी संरचना और समीकरणों को बारीकी से पकड़ते हैं, मगर यह बात रामविलास जी नहीं देख पाते, लेकिन वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष उन्हें 'साफ' दिखाई पड़ता है। निश्चित रूप से रामविलास जी की पुस्तक 'प्रेमचंद' में प्रेमचंद कम 'रामविलास जी के प्रेमचंद' ज्यादा दिखाई पड़ते हैं।

दरअसल जातिवाद और उसके विघटन को लेकर रामविलास जी के विचार स्पष्ट नहीं हैं। 'प्रेमचंद' शीर्षक पुस्तक में ही रामविलास जी के इन विचारों को देखा जा सकता है- ''जातिवाद सामंती व्यवस्था की देन है। ऊपर से देखने में लगता है नीची जातियाँ ऊँची जातियों से लड़ें तो यह व्यवस्था टूटेगी। वास्तव में ऐसी लड़ाई उस व्यवस्था की सीमाओं के भीतर होती है, सीमाएँ अपनी जगह बनी रहती हैं, उनके टूटने का सवाल नहीं है। मान लीजिए शूद्र लड़-भिड़ कर द्विज बन गया और द्विज पतित होकर शूद्र हो गया। द्विज और शूद्र का भेद भी बना रहा। यह भेद सामंती व्यवस्था की विशेषता है।... आक्रमण के लिए अथवा आत्मरक्षा के लिए पिछड़ी जातियाँ संगठित होंगी तो उसी तरह अगड़ी जातियाँ संगठित होंगी। वित्त के चलन से, विनिमय के विकास से, सामंती व्यवस्था विघटित होती है, वर्ण-व्यवस्था टूटती है। भिन्न वर्णों और जातियों के लोग नए स्तर पर पुनर्गठित होते हैं।''[24] ऐतिहासिक प्रक्रिया पर इस प्रकार की आस्था कि आप चुपचाप हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहें, सब कुछ स्वतः परिवर्तित हो जाएगा! 'आत्मरक्षा के लिए पिछड़ी जातियाँ संगठित होंगी तो उसी तरह अगड़ी जातियाँ संगठित होंगी' का तो मतलब है कि पिछड़ी या दलित जातियों को अपनी दशा सुधारने के लिए किसी प्रकार का प्रयास करने की जरूरत नहीं है, बल्कि उन्हें शांतिपूर्वक पूँजीवाद के द्वारा सामंतवाद के खात्मे का इंतजार करते रहना चाहिए और उसके बाद यह सामाजिक ऊँच-नीच अपने आप समाप्त हो जाएगा!

प्रसंगवश यहाँ जातिवाद और उसके विखंडन के संबंध में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्व सचिव ए.बी. वर्धन के विचारों का उल्लेख किया जा रहा है। दिसंबर, 1987 में एक सेमिनार में

'भारत में जाति-वर्ण स्थिति' विषय पर अपने विचार रखते हुए श्री बर्धन ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात कही- ''यह सोचना कि औद्योगिक क्रांति खुद ही जाति-प्रथा पर निर्णाय आघात करेगी और श्रमिकों द्वारा पूँजीपतियों और सामन्ती तत्वों के खिलाफ छेड़ा गया आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्ष अन्तिम रूप् से जातिप्रथा के भाग्य का निर्माण कर देना और उसे मिटा देगा, मार्क्सवाद की भद्द उड़ाना है।''[25] इसी संदर्भ में बाटा कंपनी में काम करने वाले मजदूरों का उदाहरण देते हुए वे अपनी बात को स्पष्ट करते हैं- ''इस कारखाने में ब्राह्मण, कायस्थ और अन्य ऊँची जातियों के मजदूर जूता बनाने का काम करते हैं। ...कारखाने में सबकी एक पहचान बनकर रह जाती है- वह है वेतन पर काम करने वाले मजदूर। वे एक साथ घूमते हैं, कैंटीन में एक साथ चाय पीते हैं और खाना खाते हैं, एक ट्रेड यूनियन में शामिल होते हैं और अपनी हालत बेहतर बनाने के लिए इकट्ठे होकर कोई कदम उठाते हैं। ...फिर भी वे कारखाने के बाहर और समूहगत सामाजिक जीवन में ब्राह्मण, कायस्थ, चमार आदि हो जाते हैं। जातीय बाधाएँ नहीं मिटी हैं या गायब नहीं हुई हैं। यह सोचना एक ख्वाहमखयाली होगा कि ये अपने आप और समय के साथ बिना लगातार संघर्ष के मिट जाएँगी।''[26]

रामविलास जी के पास जातिवाद का रामबाण इलाज है। पूरे दावे के साथ वे घोषणा करते हैं- ''हर तरह के जातिवाद, हर तरह के सम्प्रदायवाद का एक ही इलाज है- वर्ग-संघर्ष।''[27] रामविलास जी की तुलना में श्री बर्धन के विचार ज्यादा व्यावहारिक और सुलझे हुए लगते हैं- "भारतीय परिस्थिति में कोई भी वर्गहीन समाज के लिए तब तक लड़ नहीं सकता जब तक वह उसी समय जातियों तथा जातीय असमानता के खिलाफ नहीं लड़ता। शोषण करने वाले वर्ग के खिलाफ और साथ ही जातीय असमानता के खिलाफ संघर्ष एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और दोनों के खिलाफ एक साथ लड़ना होगा।''[28]

प्रेमचंद भारतीय समाज में शोषण के इस दोहरे चरित्र को बखूबी समझ रहे थे, इसलिए उनके साहित्य में औपनिवेशिक तंत्र और महाजनी सभ्यता के आर्थिक शोषण की पहचान भी है और

जातिवादी सामाजिक शोषण की गहरी शिनाख्त भी। यह भारतीय समाज की प्रेमचंद की गहन और बारीक समझ का प्रमाण है।

वर्ग विभाजन का आधार है- उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व। भारतीय समाज के संदर्भ में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की स्थिति को जातिप्रथा से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता। यहाँ बहुत हद तक जाति ही उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व को तय करती है। प्रेमचंद इस सच्चाई को खूब अच्छे-से समझ रहे थे। यह अकारण नहीं है कि प्रेमचंद के कथा साहित्य में चित्रित किसान, जिनके प्रति प्रेमचंद के मन में पर्याप्त सम्मान और सहानुभूति है, वे सब प्रायः पिछड़ी जाति के छोटे किसान हैं। प्रेमचंद के कथा साहित्य में जो जमींदार, महाजन या बड़े किसान आए हैं, वे सब प्रायः ऊँची जाति से हैं। इसके अलावा जिन दलित पात्रों का चित्रण प्रेमचंद करते हैं, वे प्रायः मजदूरी करते हैं, उनके पास अपनी ज़मीन प्रायः नहीं होती और वे खेतों में काम तो जरूर करते हैं, पर किसान नहीं होते। जातिप्रथा जिस प्रकार से उत्पादन के साधनों पर विभिन्न जातियों के स्वामित्व को सुनिश्चित करती है, उसे प्रेमचंद बहुत बरीकी से पकड़ते है और अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं।

प्रेमचंद की कहानियों में ग्रामीण जीवन अपने समस्त राग-विराग के साथ उपस्थित हुआ है। गाँव में विभिन्न जातियों की आबादी है, जातियों की 'हायरार्की' और उसके अनुरूप आपसी टकराहट भी मौजूद है। प्रेमचंद की विशिष्टता इस बात में है कि उनकी कहानियों में गाँव की ऊँची जातियों के द्वारा पिछड़ों-दलितों के शोषण के दृश्य तो हैं, साथ ही इस शोषण के बीच सह-अस्तित्व और रागात्मकता के अवसर भी आते हैं। यह ग्रामीण समाज की संरचना और उसकी जीवन पद्धति के प्रति प्रेमचंद की यथार्थवादी दृष्टि का बेजोड़ उदाहरण है।

रामवृक्ष बेनीपुरी की एक कहानी है- 'कहीं धूप, कहीं छाया'। यह कहानी ऊँची जाति के जमींदार और उसके गुर्गो की दबंगई, क्रूरता और अमानवीयता को बेपर्दा करती है। कहानी की शुरूआत इस तरह होती है- ''बाबू साहब की बेटी की शादी है। उनके घर की सरगर्मी का क्या

कहना? किसी उससे भी ज्यादा सरगर्मी समूचे गाँव में है। गाँव ही क्यों, उनकी जमींदारी-भर के गाँवों में एक हलचल-सी दीख पड़ती है।''[29]

समूचे गाँव में जो सरगर्मी है उसका कारण है कि बाबू साहब की जमींदारी के सभी गाँवों के तमाम पिछड़ी जातियों के लोगों और दलितों को बेगार के लिए काम दे दिया गया है। कहानी के प्रारंभ में ही बेनीपुरी लिखते हैं- ''बढ़ई बुलाये गए और उन्हें आज्ञा हुई कि इतने पलँग, इतनी कुर्सियाँ, इतनी बेंचें आदि तैयार करो; पुराने फर्नीचरों की मरम्मत अलग। कुम्हारों को हुक्म हुआ कि इतनी हाँडियाँ, इतन घड़े, इतनी तश्तरियाँ और इतने आबखोरे बनाकर ड्योढ़ी पर हाज़िर करो। छोटी जातियों के सछूत लोगों के दरवाज़े पर धान के बोरे '-चिउड़ा' कूटने के लिए रखवा दिए गए; अछूत भी न बचे' दाल और आटे के लिए अरहर और गेहूँ के बोरे उनके आँगनों में फिंकवा दिए गए। तंबोली से पान की और तेली से तेल की फरमाइश हुई। लोहार से तंबू शमियाने के लिए खूँटे और मोखियाँ तैयार करने तथा जलाने के लिए प्रचुर परिमाण में चैला चीरने की ताकीद कर दी गई। राज को बुलाकर ड्योढ़ी की दीवारों की मरम्मत और उनपर सफेदी करने का आदेश हुआ। ग्वालों तथा गाय-भैंस पालने वाले दूसरे लोगों पर दही और घी के लिए फ़रमान निकले।''[30]

इस उद्धरण में ध्यान देने की बात है कि बेगार के लिए किसी भी ऊँची जाति के व्यक्ति को नहीं पड़ा गया है। ऐसा नहीं है कि जमींदार के आसामियों में कोई ऊँची जाति का व्यक्ति नहीं होता। इसलिए यहाँ यह बात मालिक (जमींदार) के द्वारा मातहत आसामियों से बेगार करवाने की सामान्य समझ के आधार पर नहीं समझी जा सकती। इस मामले को केवल आर्थिक आधार पर समझना भी सही नहीं होगा। इस पूरे प्रकरण को जाति की जटिल सामाजिक संरचना के भीतर से ही समझना होगा। बेगार के लिए कामों का बँटवारा करते हुए जाति का विशेष तौर पर ध्यान रखा गया है। छूत-अछूत का ध्यान रखा जाना तो ज़रूरी ही है! किसी ऊँची जाति के व्यक्ति से बेगार न करवाने का संबंध उसी आर्थिक स्थिति से नहीं, बल्कि उसकी सामाजिक स्थिति से है। ऊँची जाति

वालों से बेगार करवाया भी नहीं जा सकता। हिन्दी के साहित्यकार भारतीय समाज की जातिवादी संरचना को ठीक-ठीक पकड़ पाने में समर्थ हैं।

गाँव के जमींदार के घर पर शादी का उत्सव और गाँव भर के पिछड़ी जाति के लोग और दलितों का दौड़ भाग कर सारे काम निबटाने का प्रसंग प्रेमचंद की कहानियों में भी दिखाई पड़ता है। वैसा ही प्रसंग इस कहानी में भी आता है- ''एक पहर रात से ही मूसलों की धम्म-धम्म और चक्कियों की घर्र-घर्र से-जिनमें कभी-कभी काँच की चूड़ियों की खन्-खन् और काँसे के कड़ों की टन्-टन् भी मिली होती थी-सारा गाँव मुखरित हो उठता। कुम्हार का चाक अविरल गति से नृत्य करता... बढ़ई के बसूले की खट्-खट् और लोहार की कुल्हाड़ी की ठाँय-ठाँय की कर्ण कटुता तो तेली के कोल्हू का चर्र-चों और ग्वाले के मटके का घर्र-घों बहुत अंशों में स्निग्ध और मधुर बनाने की चेष्टा करता।''[31]

लेकिन इन सब के बीच दौड़ भाग कर काम करने वाले पिछड़ी जाति के लोगों और दलितों के मन में कितना उत्साह है और कितनी बेगार करने की मजबूरी-इसको सामने रखती है बेनीपुरी जी की यह कहानी। बेगार में जोत दिए गए 'बेचारे' काम तो कर रहे हैं, ऊपर-ऊपर प्रसन्न दिखने की चेष्टा भी कर रहे हैं, पर भीतर से भी उनमें जमींदार की बेटी के ब्याह का उत्साह है क्या? इस विवाह की तैयारी में गाँव भर में जो सरगर्मी दिखाई पड़ रही है, उसके बारे में बेनीपुरी बहुत मार्के की बात लिखते हैं- ''यो बाबू साहब के घर की सरगर्मी कुछ कम नहीं है; किन्तु उसके घर की सरगर्मी और इन गाँवों की सरगर्मी में कितना अंतर है। ऊपर की सूरत-शकल मिलने पर भी अन्दर में-हृदय में-कितना भेद है। एक तरफ उल्लस है, आनंद है, मनुहार है- दूसरी ओर लाचारी है, बेबसी है, बेगारी है!''[32]

अपनी लाचारी, बेबसी और पीड़ा को छुपाकर प्रसन्न दिखने की कोशिश करते हुए या निर्विकार भाव से काम करते रहने का हुनर अनुभव से पैदा हुआ है। अनुभवी बुजुर्ग जानते हैं कि

जमींदार से झगड़ा मोल लेना आसान नहीं है और उनसे पार पाना तो जैसे असंभव सी बात! इसलिए उनलोगों ने लचार होकर 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' के रास्ते को अपना लिया है। गाँव का एक 'अनुभवहीन', उत्साही नवयुवक मखना अपनी माँ की बीमारी के कारण बेगार करने से मना करता है जिसकी कीमत उसे अपनी जान देकर चुकारी पड़ती है। बेगार करने से मना करने के अपराध में मखना जब जमींदार और उसके सिपाहियों से 'लाठी-छड़ी, लात-जूते' खाकर मरणासन्न हालत में घर लाया जाता है तो 'गाँव के दो-चार नवयुवकों ने थाने में खबर देने की चर्चा की, किन्तु बूढ़ों ने डाँट दिया। बाबू साहब से मुकदमे में कौन जीतेगा; फिर मुकदमे के लिए रुपए भी तो चाहिए।''[33] बूढ़ों के अनुभव ने युवकों के जोश को ठंढ़ा कर दिया! मखना इस छोटी-सी बात को नहीं समझ पाया कि जमींदार की बेटी की शादी उसकी माँ की जान से ज्यादा महत्व की चीज, है। मखना की माँ का मरना उसका व्यक्तिगत नुकसान था, जमींदार की बेटी के ब्याह में थोड़ी सी कसर रह जाए तो गाँव की बदनामी होगी! 'वैयक्तिकता' और 'सामूहिकता' की इस मनमानी व्याख्या का कोई सामाजिक जातिगत आधार नहीं है क्या?

प्रसाद की कहानी 'विराम-चिन्ह' दलितों के मंदिर प्रवेश को लेकर लिखी गई छोटी-सी कहानी है। कहानी का एक पात्र राधे अछूत है। सामाजिक भेदभाव की व्यवस्था के प्रति गहरे असंतोष और इस व्यवस्था के टूटने की कोई सूरत न दिखने की हालत में वह नकारा हो गया है, कुछ कफ़न कहानी के घीसू-माधव की तरह। लेकिन कुछ जातियों के विशेषाधिकरों को सुरक्षित रखने वाली जाति व्यवस्था के प्रति आक्रोश उसमें भरपूर है। इसी राधे की माँ भी इस जातिवादी व्यवस्था में पीड़ित है, मंदिर के बाहर दो-चार फल आदि मैले कपड़े पर रखकर अपनी दूकान लगाती है, भूखों मरती रहती है, लेकिन मंदिर के भगवान् को बाहर-ही-बाहर भोग लगाकर तभी कुछ खाती है। मंदिर के भीतर घुसने का उसे न तो अधिकार है औन न साहस। वह अपने आप को इस व्यवस्था के अनुरूप ढाल चुकी है। राधे और उसकी माँ के रूप में दरअसल प्रसाद पुरानी और कई पीढ़ी के द्वंद्व

को भी रेखांकित करते हैं। राधे की माँ दलितों की पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि है जो जातिवादी व्यवस्था में अपनी दुर्दशा को अपनी नीयति मान चुकी है और यथास्थितिवाद की स्थिति में पहुँच चुकी है। जबकि राधे दलितों की नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है, जो जातिवाद के पूरे प्रपंच को समझती है और उस व्यवस्था को नष्ट कर देना चाहती है, जो उनके शोषण की व्यवस्था है। 1930 के दशक की इस कहानी पर निश्चित रूप से गाँधी का प्रभाव भी है।

'विराम-चिन्ह' कहानी का अन्त बड़ा ही व्यंजक है। राधे अपने साथियों के साथ मंदिर में घुसने की कोशिश करता है, लेकिन 'आस्तिक भक्तों का झुंड' जो 'अपवित्रता से भगवान् की रक्षा करने के लिए दृढ़ होकर खड़ा था'[34] राधे को मंदिर में घुसने नहीं देता और राधे की हत्या कर दी जाती है। बेटे की हत्या से क्षुब्ध माँ आक्रोश से भर उठती है और कहती है- ''राधे की लोथ मंदिर में जाएगी।''[35] एक क्षण को लगता है कि सदियों से चली आ रही सामाजिक शोषण की व्यवस्था टूट जाएगी, लेकिन बुढ़िया 'सिंहद्वार की देहली पर जाकर सहसा रूक गयी। उसकी आँखों की पुतली में जो मूर्ति-भंजक छायाचित्र था, वही गलकर बहने लगा।''[36] बुढ़िया का देहरी पर जाकर रूक जाना कहानी के प्रभाव को द्विगुणित कर देता है। प्रसाद का यथार्थवादी आग्रह यहाँ साफ दिखाई पड़ता है। जातिवाद की समस्या का कोई सरलीकृत समाधान प्रसाद पेश नहीं करते। यदि प्रसाद ऐसा करते तो कहानी का प्रभाव ही समाप्त हो जाता। कहानी का अंतिम वाक्य- ''मंदिर में घुसने वाले अछूतों के आगे बुढ़िया विराम-चिन्ह-सी पड़ी थी''[37]- जातिवादी समाज की असहिष्णुता और उसकी अनमनीयता का प्रमाण बन जाता है।

1934 में निराला ने 'चतुरी चमार' लिखा। आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई इस कहानी में एक तरफ कहानी का सूत्रधार अपने ब्राह्मणत्व के सामाजिक बंधनों और विशेषाधिकारों से अपने को मुक्त करता है और दूसरी तरफ उसी का पुत्र (जो अभी बच्चा है) सामाजिक संस्कारों के प्रभाव में उस ब्राह्मणत्व के विशेषाधिकार का आनंद उठाता है, साथ में जातिवादी बंधनों का पालन भी करना सीख जाता है। कहानी का सूत्रधार चतुरी नाम के चमार युवक की व्यक्तिगत प्रतिभा से

प्रभावित है, इसलिए उसकी प्रशंसा करने और उसके साथ उठने-बैठने में जाति कभी बाधा नहीं बनती। सूत्रधार तो यहाँ तक कहता है- ''चतुरी, तुम पढ़े-लिखे होते, तो पाँच सौ की जगह पाते।''[38] सूत्रधार चतुरी चमार के बेटे अर्जुन को पढ़ाना भी स्वीकार कर लेता है। वह कहता है- ''मैं अर्जुन को पढ़ाता था तो स्नेह देकर, उसे अपनी ही तरह का एक आदमी समझकर...।''[39] सूत्रधार यह बात दरअसल उस मानवीय भूमि पर खड़ा होकर कह रहा है, जहाँ जात-पात कोई मतलब नहीं रखता। लेकिन यह एक व्यक्ति के विचार हैं। जातिवाद की धूरि पर टिके भारतीय समाज के लिए तो यह अपराध और अधर्म है। समाज के लोगों ने कहानी के सूत्रधार के बारे में भी इशारों में और खुले तौर पर भी बातें करनी शुरू कर दी थी। सूत्रधार बताता है- ''गुरुमुख ब्राह्मण आदि मेरे घड़े का पानी छोड़ चुके थे।''[40]

इसी जातिवादी समाज ने सूत्रधार के बेटे पर अपने संस्कारों की छाप लगा दी थी। सूत्रधार का बेटा यद्यपि उम्र में काफी छोटा है, लेकिन ब्राह्मण और चमार की सामाजिक हैसियत के अंतर को बखूबी समझता है और अपने ब्राह्मणत्व का लाभ भी उठाता है। सूत्रधार जहाँ चतुरी के बेटी अर्जुन को 'अपनी ही तरह का एक आदमी समझकर' पढ़ाता था, वहीं उसका बेटा अर्जुन को पढ़ाने के बहाने उसका मजा लेता है और अपनी सामाजिक हैसियत का आनंद उठाता है। अर्जुन उम्र में सूत्रधार के बेटे से बड़ा है, फिर भी सूत्रधार का बेटा अपने सामाजिक ओहदे की अकड़ में उसे झापड़ तक लगाने की धमकी दे देता है। यहीं पर एक और महत्वपूर्ण वाक्य पर ध्यान देने की ज़रूरत है। सूत्रधार का बेटा अर्जुन से कहता है- ''बोलता है, या लगाऊँ झापड़। नहा लूँगा, गरमी तो है।''[41] अपने इस वाक्य में सूत्रधार के बालक ने ब्राह्मणत्व के विशेषाधिकार और 'मर्यादा' (!) दोनों की, अपनी और साथ ही पूरे समाज की समझ को सामने रख दिया है। ब्राह्मण होने मात्र से उसे यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वह उम्र में अपने से बड़े चमार के लड़के को पीट सकता है, और पीटने के लिए चमार से छू जाने के कारण नहाकर ब्राह्मणत्व की मर्यादा की रक्षा करनी होगी- इन दोनों बातों का जातिवादी समाज ने इस बालक को ज्ञान करा दिया है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने भी अपनी कहानियों में जाति-व्यवस्था की तीव्र आलोचना की है। उग्र स्वयं ब्राह्मण थे। ब्राह्मण समाज की विद्रूपताओं से उनका सीधा परिचय था। 'उग्र' ने अपनी आत्मकथा 'अपनी खबर' में भी उन विद्रूपताओं और उनके प्रति अपने विद्रोही स्वभाव का उल्लेख किया है।

अपनी कहानी 'ब्राह्मण-द्रोही' में उग्र ने जातिवाद के प्रति दो पीढ़ियों की वैचारिक स्थिति के अंतर को अभिव्यक्त किया है। पं. कमलनाथ चौबे की उम्र पचहत्तर-अस्सी के करीब थी। "पंडित जी कानपुर में इसलिए विख्यात थे कि उनसे बढ़कर कोई 'ब्राह्मण' का समर्थक नहीं था। वह ब्राह्मण को 'जन्मना' मानते थे, 'कर्मणा' नहीं।... पंडित जी का मित्र वही था जो ब्राह्मण भक्त था...।"[42] तात्पर्य यह कि पंडित कमलनाथ चौबे के लिए मनुष्य की पहचान की एक ही कसौटी थी- ब्राह्मणत्व – "ब्राह्मण ब्राह्मण ही है, और और ही।...ब्राह्मण की तुलना में संसार की अन्य जातियाँ तुच्छ हैं- नगण्य हैं।"[43]

ऐसे ब्राह्मण-भक्त, वर्णाश्रमी पंडित कमलनाथ किसी भी ऐसे व्यक्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, जो ब्राह्मणों की महिमा को अस्वीकार करने का दुस्साहस करे। पंडित जी के पुत्र जीवननाथ के प्राइवेट ट्यूटर मुंशी बनवारीलाल अपने इसी दुस्साहस के कारण पंडित जी के कोपभाजन बनते हैं। पंडित जी के मुख से ब्राह्मणों की महिमा और गुणगान सुनते-सुनते मुंशी बनवारीलाल अपने को ज़ब्त नहीं कर पाते और प्रतीकार कर उठते हैं- "छोड़ दीजिए ब्राह्मण की इस अति स्तुति को। ... आधुनिक ब्राह्मण नामधारी जीवों की असफलता का चित्र यदि आप ध्यान से देखें तो विचलित हो उठेंगे। इस समय ब्राह्मण से बढ़कर हमारे समाज में दूसरी कोई जाति असफल नहीं है, पतित नहीं है, मोहताज नहीं है।"[44] मास्टर बनवारीलाल के माध्यम से दरअसल उग्र ही अपनी बात कह रहे हैं। उग्र की इन बातों को उनकी आत्मकथा के साथ मिलाकर पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है।

पंडित कमलनाथ चौबे का दुर्भाग्य (!) कि उनका अपना बेटा भी ब्राह्मण-द्रोही निकल जाता है। वह अपने मास्टर साहब की बातों का पूरा समर्थन करता है। अपने पिता से दृढ़तापूर्वक कहता है- "मैं ब्राह्मण का भक्त अवश्य हूँ, परंतु सभी जनेऊधारी जीवों का नहीं। ब्राह्मण मस्तिष्क हो सकता है, शरीर नहीं। जो विद्वान है, मनीषी है, वही ब्राह्मण है। समाज चाहे उसे मेहतर कहे या चमार, ईसाई कहे या मुसलमान, ब्राह्मण कहे या वैश्य। इस विषय में मेरा वही मत है जो मास्टर साहब का।"[45]

पंडित कमलनाथ चौबे जैसे कट्टर ब्राह्मण अपने पुत्र की इस धृष्टता को बर्दाश्त नहीं करते और उसे अपने घर से निकल जाने को कहते हैं। पुत्र जीवननाथ भी अपने सिद्धांतों से समझौता करने की जगह गृहत्याग को श्रेष्ठ समझता है। पुत्र शोक में अंततः पंडित जी की मृत्यु हो जाती है। पंडित कमलनाथ जहाँ पुरानी पीढ़ी और पुराने वर्णवादी विचारों के प्रतीक हैं, वहीं मास्टर बनवारीलाल और जीवननाथ नई पीढ़ी और नए प्रगतिशील विचारों के प्रतीक। पंडित कमलनाथ के रूप में पुराने वर्णाश्रमी विचार मरणासन्न हालत में हैं, अंततः मर भी जाते हैं, जबकि नई पीढ़ी के बनवारीलाल और जीवननाथ के विचार नए समाज के निर्माण की ओर बढ़ते हुए विचार हैं और यही भारतीय समाज के भविष्य हैं। इसी जाति-वर्ण मुक्त समाज में उग्र की निष्ठा है, यही उनका काम्य भी है।

उग्र की एक कहानी है 'हत्यारा समाज'। समाज और परिवार अपनी झूठी मर्यादा और कुलीनता के नाम पर दो प्राणियों की बलि दे देता है। रामानुज प्रसाद (ठाकुर) अपने पुत्र रघुनंदन को उसकी पसंद की लड़की से केवल इसलिए विवाह करने की अनुमति नहीं देते क्योंकि रघुनंदन की प्रेयसी के पिता बाबू आनंदस्वरुप जाति बहिष्कृत हैं। रघुनंदन अपने 'सुसाइड नोट' में बताता है- "एक तरह बाबू आनंदस्वरूप भी हमारी जाति के हैं, पर समाज ने उनका बहिष्कार कर दिया है। कारण? उन्होंने अपने बड़े पुत्र करुणास्वरूप को बैरिस्टर होने के लिए विलायत भेजा था और लौट आने पर उसे घर से बाहर न निकाल कर परिवार में शामिल कर लिया गया। इतने बड़े पातक पर

समाज बाबू आनंदस्वरूप को कैसे क्षमा दान देता? उसने अपना ब्रह्मास्त्र-बहिष्कार उनके ऊपर चला दिया।"[46]

भारतीय समाज व्यवस्था के कोढ़- इस जाति-व्यवस्था के मूर्खतापूर्ण नियमों के कारण रघुनंदन अपनी प्रेयसी से अलग कर दिया जाता है। जिससे रघुनंदन का विवाह होता है वह स्त्री स्वयं एक अन्य पुरुष, अपने बहनोई, से प्रेम करती है और उसे दो महीने का गर्भ भी है। रघुनंदन और उसकी स्त्री दोनों के निजी चुनाव को सामाजिक नियमों के भाड़ में झोंक कर उन दोनों का विवाह करवा दिया जाता है। इस विवाह से पूरी तरह असंतुष्ट दोनों आत्महत्या कर लेते हैं और हत्या की जिम्मेवारी इस 'पाषाण-हृदय समाज' पर जाती है। कहानी अपने सीमित प्रभाव में जाति प्रथा की विद्रूपता को उद्घाटित करती है।

उग्र की एक अन्य कहानी 'समाज के चरण' अछूत समस्या तथा मंदिर-प्रवेश को मुद्दा बनाती है। अछूत ज्ञानू और दयालु स्वामी योगानंद जी के संवाद-एकालाप के जरिए कहानी आगे बढ़ती है और इसी क्रम में भारतीय समाज की जातिवादी व्यवस्था में अछूतों की अवस्था तथा उसके प्रति करुणा की अभिव्यक्ति और जातिवादी समाज की आलोचना भी साथ-साथ चलती है। कहानी में ज्ञानू की सामाजिक स्थिति जहाँ भारतीय समाज के यथार्थ को सामने लाती है, वहीं स्वामी योगानंद जी का ज्ञानू के साथ व्यवहार एक आदर्श उपस्थित करता है। दरअसल उग्र इस कहानी के जरिए जातिवादी समाज में ऊँची जाति के लोगों के द्वारा ऐसे ही आदर्श की स्थापना की इच्छा व्यक्त करते हैं।स्वामी योगानंद की दृष्टि आदर्शवादी है। कहानी के एक प्रसंग में वे कहते हैं- "इन्हें अछूत कहकर, अछूत बनाकर, समाज ने कितना भीषण, कितना अमानुषिक और कितना क्रूर दंड दिया है। ये विद्या का अभ्यास नहीं कर सकते- क्योंकि अछूत हैं! इनके सद्गुणों को लोग, सद्गुण नहीं कहते... ये जी खोलकर ईश्वर का नाम तक नहीं जप सकते... हाय रे ढोंगी समाज! यदि ईश्वर किसी को अछूत समझता होता, तो अब तक कभी का तेरा सर्वनाश हो गया होता। परमपूत

परमात्मा की पवित्रता के सम्मुख ऐसा कौन मनुष्य है जो अपने को अधिक पवित्र सिद्ध कर सके?...उनकी दृष्टि में कोई भी अछूत नहीं, कोई भी तुच्छ नहीं, कोई भी घृणित नहीं।"[47]

जातिवादी समाज के सम्मुख आदर्श स्थापना के लिए स्वामी योगानंद जी अछूत ज्ञानू के घर स्वयं सत्यनारायण की कथा भी करवाते हैं और ज्ञानू को शिव मंदिर में प्रवेश भी दिलाते हैं। हालाँकि इन सब घटनाओं के पीछे किसी ठोस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की कमी है और ये सब स्वामी जी के व्यक्तिगत आदर्शवादी चरित्र का परिणाम है या किसी दैवी संयोग पर आधारित है। आज की आलोचकीय दृष्टि में यह इस कहानी की सीमा मानी जाएगी। लेकिन अपने समग्र प्रभाव में यह कहानी निश्चित तौर पर जातिवाद से मुक्ति का संदेश देने वाली कहानी है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की चर्चा हिन्दी कहानी के संदर्भ में अपेक्षाकृत कम हुई है। लेकिन लगातार कहानियाँ लिखते हुए इन्होंने स्वयं को एक महत्वपूर्ण कहानीकार के रूप में स्थापित किया है। 1940 तक वे 150 से अधिक कहानियाँ लिख चुकी थीं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने दलित और निम्न श्रेणी के लोगों को प्रमुखता से अपनी कहानियों में जगह दी। सौनरेक्सा जी की पहली कहानी 'घीसू चमार' (1931) इसी दलित वर्ग की कहानी है। दुर्भाग्य से इनकी प्रारम्भिक कहानियों में से ढेरों कहानियाँ अब अप्राप्य हैं। लेकिन जो कहानियाँ उपलब्ध हैं, उनमें से करीब एक दर्जन कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें जाति के प्रश्न को अलग-अलग ढंग से लेखिका ने उठाया है।

जातिवाद के ढकोसले तथा मौके और फायदे को देखते हुए शास्त्रों की मनमौजी व्याख्या को 'थीम' बनाकर लिखी गई कहानी है- रुपया। समाज के तथाकथित कुलीन ब्राह्मणों की कुलीनता कैसे कलंकित नहीं होगी जब समाज को यह मालूम हो जाए कि उस कुल की बहू ब्राह्मण पिता परंतु नाइन माँ की संतान है! जातिवादी समाज के नियमों के अनुसार हरिशंकर शुक्ल ठीक ही तो कहते हैं- "तनिक-सी बात है यह ? पवित्र शुक्लवंशी निष्कलंक चन्द्रमा में कालिमा लग रही है और तुम्हें यह तनिक सी बात प्रतीत होती है? जानते हो बिरादरी में बात फैलने भर की देर है कि रोटी-पानी, भाईचारा... सब तुरन्त बन्द हो जाएगा! शीला का रिश्ता तो एक घड़ी भी न रहेगा; भला फिर भानु पंडित अपने पुत्र का विवाह हमारे यहाँ करेंगे? हमारी शुद्ध कुलीनता के लोभ से ही वे इतने

कम दहेज पर राजी हो गए हैं; नहीं तो क्या उन्हें लड़कियों की कमी है? फिर अपना धर्म भी तो कोई 'वस्तु' है।''[48]

पवित्र शुक्लवशी चंद्रमा को इसी कलंक से मुक्त करने के लिए शुक्लजी अपने भतीजे मणिशंकर की पत्नी कल्याणी को घर से निकाल देते हैं और कुछ ही दिनों बाद मणि का दूसरा विवाह आठ सौ नकद और सात भरी सोने के गहनों के लोभ में मीरापुर की एक 'कुलीन' कन्या से तय कर देते हैं। विवाह में कुछ ही दिन बाकी रह गए हैं कि हरिशंकर शुक्ल को खबर मिलती है कि मणि की पहली पत्नी कल्याणी के मौसा बीमार हैं और उन्होंने अपनी सारी संपत्ति कल्याणी के नाम लिख दी है। संपत्ति भी थोड़ी-बहुत नहीं, "पूरे तीस हजार तो बैंक में हैं। रहने की कोठी के अतिरिक्त तीन दूकानें और दो मकान। सब मिलाकर पचास हजार का लपेट तो होगा ही।"[49] यह घटना ऐसी है जो कुलीनता, शास्त्र, बिरादरी, विवाह आदि संबंधी शुक्ल जी की सारी अवधारणाओं को नए सिरे से व्याख्यायित कर देती है। आठ सौ रुपयों के लोभ में शुक्ल जी ने शास्त्रों की जो व्याख्या की थी, वह पचास हजार रुपयों के लोभ में तार-तार हो जाती है। उन्हीं शास्त्रों से प्रमाण देकर शुक्ल जी मणि को फिर समझाते हैं- ''हिन्दू धर्म से सात फेरों की ब्याहता का संबंध तो अगले जन्म तक रहता है, बेटा! ...यही तो सनातन धर्म की महत्ता है। उसमें ब्याह कोई गुड़ियों का खेल थोड़े है, बहू तो हमारी ही रहेगी। रही कलंक की बात, सो वह तो हमारे कुल में लग ही गया। अब लाख उसे छोड़ भी दें, तो मिट थोड़े ही सकता है, बेटा।...धर्म के अनुसार पहली पत्नी ही वास्तविक अर्द्धांगिनी होती है, यूँ 'आपत धरम' से चाहे कई ब्याह कर लो।''[50]

मणि अपने ताऊजी को उनकी पुरानी बातें याद दिलाता है और बहन शीला के विवाह की चिन्ता तथा बिरादरी में इस नए विवाह की बात के फैल जाने की चिन्ता व्यक्त करता है। इस पर शुक्लजी के जवाब से उनके बदले हुए मिजाज़ का अंदाजा लग सकता है- ''मरें भानु पंडित! उन्हें सौ बार गरज होगी तो ब्याह करेंगे। नहीं तो क्या शीला के लिए बेटों के टोटे हैं? जिसे पाँच की थैली

देंगे वही इसे ब्याह लेगा।... और बिरादरी? वह तो खाने भर की होती है। लड्डू-कचौरी सब के मुँह बन्द कर देंगे। है किसी की हिम्मत कि हरिशंकर शुक्ल की बहू को नायन कह जाए!''[51] कुलीनता का दंभ और शास्त्रों की दलीलें रुपयों की दलाली में कैसे धूल फाँकने लगते हैं- इसे चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने बखूबी पकड़ा है और इस रूप में जातिवाद के छद्म और उसकी मौकापरस्ती को व्यंग्यपूर्ण लहजे में अभिव्यक्त किया है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की एक अन्य कहानी है-'अधूरी आजादी'। इस कहानी में जातिदंश को झेलती एक चमार जाति की स्त्री रुक्मणी और उसके पति राजा की दुर्दशा का चित्रण है। रुक्मणी भारतीय सामंती समाज में जाति-व्यवस्था द्वारा प्रताड़ित एक स्त्री है। कहानी में उसका परिचय इस रूप में दिया गया है- ''रूक्मणी ऐसी ही एक एडवांस रियासत खेवटी के अन्तर्गत जागीर डूंगरपुर की रहने वाली थी। रियासत की गरीब जनता उसमें भी सबसे नीच चमार जाति पर जुल्म और उनकी दुर्दशा का पूछना क्या। कहती थी हमारी जाति तो बस बेगार भुगतने और मरे पशु की खाल के जूते बनाने भर की चेतना लेकर ही वहाँ जीवित है।''[52]

रुक्मणी का पति राजा शहर जाकर मजदूरी कर चुका है। शहर में रहकर वह अपने अधिकारों के प्रति जागरुक हो चला है। चेतना सम्पन्न युवक राजा ऊँची जाति के ठिकानेदार के यहाँ न केवल स्वयं बेगार करने से मना करता है बल्कि पूरी चमार बिरादरी को इस बात के लिए तैयार करता है कि वे बिना पूरी मजदूरी लिए काम न करें। बिरादरी को भी यह बात समझ में आती है और वे बेगार करने से मना कर देते हैं। लेकिन इन सब का खामियाजा राजा को भुगतना पड़ता है। ठिकानेदार और उसके आदमी पुलिस-प्रशासन के साथ मिलकर उसे तरह-तरह से प्रताड़ित करते हैं।

मगर इस कहानी में एक और बात ध्यान देने वाली है। पढ़े-लिखे, प्रगतिशील विचारों वाले और दलित-अछूत जातियों के प्रति सहानुभूति का भाव रखने वाले व्यक्ति के मन के भीतर भी कहीं-न-कहीं जातिवादी सामंती मूल्य दबे-छिपे भाव से ही सही, मगर मौजूद रहते हैं। कहानी की 'नैरेटर' कमला रुक्मणी को अपने घर में पनाह देती है, उसके प्रति पूरी सहानुभूति रखती है, मगर यह जानने के बाद कि वह जाति की चमारिन है, उसके व्यवहार में अनायास उस जातिवादी

सामंती संस्कार का अवशेष झलक पड़ता है- ''मैंने तो बर्तन मँजवा लिए। हाँ, पहले उसे कपड़े धोने का साबुन देकर नहला दिया और स्वर्गीया सासू जी का पड़ा पुराना लहँगा-ओढ़नी देकर उसके दोनों कपड़े फिंकवा दिए।"[53]

शहर में नौकर-महरी की किल्लत और अपनी जरूरत को देखते हुए 'कुछ उपाय' करके एक चमारिन को काम पर रख लेने में कमला को परेशानी नहीं होती। शहरों में सामंती व्यवस्था और जातिवाद के बदलते स्वरूप को भी बहुत ही हल्के और सांकेतिक ढंग से इस कहानी में देखा जा सकता है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की कहानी 'छुटकारा' महेश्वरी बनिया परिवार की कहानी है। परिवार के मुखिया बाबू ज्योतिप्रासाद पेशे से वकील हैं और आर्यसमाजी हैं। आर्यसमाजी होने के नाते वे जात-पात के ऊँच-नीच को नहीं मानते। लेकिन अपनी विधवा साली कला के विवाह के मामले में वे जाति के बंधन को न तोड़ सके- "साली के पीछे जाति बाहर होना वे नहीं चाहते थे, उनके अपने भी तो चार पाँच लड़के-लड़कियाँ थीं, दूसरी जाति में बेटी देकर कुल में हीनता आ जाती तो फिर उनके ब्याह में मुश्किल पड़ती।"[54] सजातीय विवाह के बंधन को न तोड़ सकने के कारण कला एक लफंगे के साथ ब्याह दी जाती है और ससुराल वालों की ज़्यादतियों से तंग आकर अंततः आत्महत्या कर लेती है। जातिवाद के विरोध के मामले में सिद्धान्त और व्यवहार का यह फर्क प्रायः पढ़े-लिखे, बौद्धिकों और जातिवाद का विरोध करने वाले सामाजिक कार्यकर्त्ताओं में भी मौजूद रहा है। सार्वजनिक तौर पर जातिवाद का विरोध करेंगे, भाषण देंगे, लेकिन जब अपनी रोटी-बेटी का मामला आए तो सजातीयता के घेरे में ही बने रहना उचित और फायदेमंद समझेंगे। बाबू ज्योतिप्रासाद ऐसे ही आर्यसमाजी हैं। जातिवाद को टिकाए रहने में ऐसे पढ़े-लिखे, छद्म सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की बड़ी भूमिका है। केवल मूर्खों के बूते जाति का पूरा कारोबार चलता रहे- ऐसा हो ही नहीं सकता। सौनरेक्सा इस छद्म को बहुत ठीक पकड़ती हैं।

एक अन्य कहानी 'सिर्फ नौ जमातें' भंगियों के जीवन के ट्रैजिक यथार्थ को मुद्दा बनाकर लिखी गई कहानी है। जाति एक ऐसी जन्मजात पहचान है, जिससे आजीवन मुक्ति नहीं मिल

सकती। भारतीय समाज ने ऐसी तगड़ी व्यवस्था बनाई है कि कोई जाति की इस पहचान से मुक्त होना भी चाहे, तो भी नहीं हो सकता। इस कहानी का पात्र हीरा जाति का भंगी है। हीरा की माँ नहीं चाहती कि उसका बेटा भी जीवन भर मैला साफ करने का काम करे। लिहाजा वह उसे पढ़ने के लिए 'अछूतोद्धार मिडिल स्कूल' भेजती है। पढ़ने-लिखने से हीरा का भी मन बदलने लगता है और वह भी भंगीपन से मुक्ति के लिए बेचैन हो उठता है। लेकिन समाज की वही तगड़ी व्यवस्था अंततः हीरा को उसके भंगीपन से मुक्त नहीं होने देती। वह 'सिर्फ नौ जमातें' ही पढ़ पाता है। हाई स्कूल की जातिवादी व्यवस्था और अपमान के बीच वह अपने को 'एडजस्ट' नहीं कर पाता और अंततः 'न घर का न घाट का' वाली स्थिति में पहुँच जाता है। पढ़-लिखकर सरकारी नौकर हो जाने और भंगीपन से मुक्ति का स्वप्न पूरी तरह बिखर जाता है। हीरा को सामाजिक यथार्थ का कड़वा अहसास होता है- "उफ़, कपड़े बदलने की तो बात ही क्या, खाल छीलकर फेंक देने पर भी भंगी के घर जन्म लेने का कलंक दूर नहीं हो सकता।"[55]

भारतीय जाति-व्यवस्था की एक अनोखी विशेषता है कि इसके शोषक रूप को बनाए-बचाए रखने में केवल ऊँची जातियों की ही भूमिका नहीं होती, बल्कि तमाम नीची जातियाँ भी इसमें सहयोग करती हैं। कारण वही है- हर जाति अपने से नीची जातिवालों के साथ वैसा ही व्यवहार करती है, जैसा उसके साथ ऊँची जातिवाले करते हैं। इस तरह जो स्वयं जातिदंश का शिकार है, वह भी अपने से नीची जातिवालों के साथ उसी तरह जातिवादी हो जाता है। परिणाम- जातिवाद ज़िन्दाबाद! इस कहानी में लालू कहार भी हीरा (भंगी) से उसी जातिवादी तेवर और लहजे में बात करता है- "देख बे हीरा! जबान संभालकर बोलियो! क्या समझता है तू अपने को? लल्ला बाबू की किलास में दाखिल होकर तू ठाकुर तो बनने से रहा। रहेगा भंगी का भंगी ही। देख लो, बहूजी, इस हिरवा की बातें। मार-मारकर साले की हड्डी-पसली एक कर दूंगा।"[56] स्वयं लालू कहार की सामाजिक हैसियत को लेखिका बताती हैं- "लालू कहार है। गिनती उसकी भी कमीनों में है, पर वह ऊँचा कमीन है। ब्राह्मण-क्षत्रिय सब उसके हाथ का जल पीते हैं।"[57] नीची-से-नीची जाति

के भीतर किसी जाति से ऊँचा और श्रेष्ठ होने का बोध जातिवाद के विषवृक्ष के लगातार फलने-फूलने का एक बड़ा कारण है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आजादी के पहले के उन गिने-चुने कहानीकारों में हैं, जिन्होंने जाति के सवाल को गंभीरता से हिन्दी कहानी का मुद्दा बनाया। ऊपर जिन कहानियों की चर्चा की गई है, उनके अलावा 'तीसरी कोशिश', 'परंपरा', 'बेजुबाँ', 'अंतर', 'कमीनों की जिंदगी में', 'जवान मिट्टी' आदि कहानियों में भी सौनरेक्सा जी ने जाति के सामाजिक यथार्थ के अलग-अलग पहलुओं को बड़ी ही संजीदगी से उठाया है। जातिवादी समाज की उनकी समझ गहरी है।

1950 तक रेणु की कुल 13 कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। ये कहानियाँ अलग-अलग विषयों से जुड़ी हुई हैं। इनमें ग्रामीण समाज भी अभिव्यक्त हुआ और शहरी समाज भी। इन कहानियों में रेणु ने सीधे-सीधे जाति या जातिवाद को विषय तो नहीं बनाया है, लेकिन उनकी कुछेक कहानियों में जाति और जातिवाद का चित्रण सामाजिक यथार्थ के रूप में अवश्य हुआ है। ये कहानियाँ प्रायः ग्रामीण समाज से जुड़ी हुई कहानियाँ हैं।

रेणु की पहली कहानी 'बट बाबा' अगस्त 1944 में प्रकाशित हुई। कहानी के 'नायक' और केन्द्रीय विषय का संकेत रेणु ने पहली पंक्ति में ही कर दिया है- 'गाँव से सटे, सड़क के किनारे का वह पुराना वट-वृक्ष।''[58] यह कहानी इसी पुराने बरगद के पेड़ की मौजूदगी की स्मृति, उसके सूख जाने की पीड़ा और उससे गाँववालों की गहरी आत्मीयता और अंतरंगता की कहानी है।

रेणु की कहानियों को पढ़ते हुए कई बार प्रेमचंद की झलक दिखलाई पड़ती है। यह बात खास तौर से यहाँ इसलिए कही जा रही है, क्योंकि प्रेमचंद की तरह रेणु भी कई बार अपने पात्र के नाम के साथ ही उसकी जाति का संकेत करते हैं। हाँ, लेकिन यहाँ एक बात और ध्यान में रखना चाहिए कि रेणु में ह प्रवृत्ति प्रेमचंद की तुलना में कम है। 'बट बाबा' कहानी में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस कहानी की प्रारंभिक पंक्तियों में ही रेणू लिखते हैं- ''शाम को निरधन साहु की दुकान पर उसी पेड़ की चर्चा छिड़ी हुई थी।''[59]

बरगद के उस पेड़ का महात्म्य इतना ज्यादा था कि उसकी 'पूजा और मिन्नतों का ताँता-सा' लगा रहता था। उसके सूख जाने के बाद गाँववालों की श्रद्धा कम होने के बजाय और बढ़ गई। मिन्नतों का सिलसिला और बढ़ गया। इस प्रसंग में गाँव वालों की 'मनौती' की चर्चा करते हुए रेणु लिखते हैं- ''कलरू महतो पर जमींदार की कुर्की आनेवाली थी। टहलू पासवान का बेटा फौज में था, भजू धानुक की स्त्री बीमार थी। सब अपने-अपने धन-माल-जान के लिए 'मनौती' मना रहे थे।''[60]

सामान्य ढ़ंग से देखने पर ये पंक्तियाँ गाँव में विभिन्न जातियों की उपस्थिति का संकेत मात्र करती हैं। लेकिन ध्यान दें तो इन पंक्तियों में ग्रामीण समाज की जातिगत संरचना की बारीक समझ दिखाई पड़ती है। 'कलरू महतो पर जमींदार की कुर्की आनेवाली है' से जाहिर होता है कि वह किसान है और पिछड़ी जाति का है, संभवतः कोयरी या कुर्मी। 'टहलू पासवान' दलित है, संभवतः दुसाध जाति का। दलित जाति के लोग प्रायः किसान नहीं होते हैं। प्रेमचंद की तरह रेणु भी इस बात का बराबर ख्यान रखते हैं कि गाँव की कथा कहते हुए ग्रामीण सामाजिक यथार्थ में कहीं कोई विसंगति न आने पाए। यह यथार्थवाद और कला दोनों के प्रति लेखकीय मुस्तैदी और ईमानदारी का प्रमाण है।

रेणु की दूसरी कहानी है- 'पहलवान की ढोलक' जो दिसम्बर, 1945 में प्रकाशित हुई। यह कहानी लुट्टन नाम के एक पहलवान की कहानी है, जिसमें लुट्टन की असाधारण प्रतिभा और राजा साहब की भलमनसाहत के कारण लुट्टन का भाग्योदय होता है और वह राज पहलवान हो जाता है। लेकिन समय बदलता है। राजा की जगह राजकुमार गद्दी संभालता है और पहलवान की जगह घोड़े का रेस ले लेता है। अब लुट्टन के दुर्दिन शुरू हो जाते हैं। हालाँकि लुट्टन हिम्मत नहीं हारता मगर काल उसके दोनों बेटों को और फिर अंततः उसे 'चित्त' कर देता है। इस कहानी में भी रेणु ने यद्यपि 'जाति' के सवाल को सीधी-सीधे नहीं उठाया है, लेकिन लुट्टन पहलवान के लुट्टन सिंह, राज पहलवान बनने के प्रसंग में जाति के सामाजिक यथार्थ की झलक मिलती है। लुट्टन ने पंजाबी पहलवान चाँद सिंह को चारों खाने चित्त किया था, जिसने तीन दिनों में मेले में तमाम पंजाबी और

पठान पहलवानों को पराजित कर 'शेर के बच्चे' की टायटिल प्राप्त कर ली थी। इस उपलब्धि पर ''लुट्टन को राजा साहब ने पुरस्कृत ही नहीं किया, अपने दरबार में सदा के लिए रख लिया। तब से लुट्टन राज पहलवान हो गया और राजा साहब उसे लुट्टन सिंह कहकर पुकारने लगे।''[61] यह तो अनीति थी, सामाजिक नियमों का उल्लंघन! जिम्मेदार लोगों (!) ने तुरंत आपत्ति दर्ज की-

''राज पंडितों ने मुँह बिचकाया- ''हुजूर! जाति का दुसाध...सिंह...!''

''मैनेजर साहब क्षत्रिय थे।... बोले-हाँ सरकार, यह अन्याय है!''[62]

राज पंडित का कथन दुसाध जाति के व्यक्ति की सामाजिक हैसियत और उसकी सीमा को स्पष्ट कर देता है। फिर क्षत्रिय मैनेजर एक दुसाध के नाम के साथ 'सिंह' जुड़ता हुआ कैसे देख सकता था। 'सिंह' पर तो क्षत्रियों का कॉपीराइट है! राज पंडित और मैनेजर साहब की शंका का समाधान करते हुए राजा साहब ने मुस्कुराते हुए सिर्फ इतना ही कहा- "उसने क्षत्रिय का काम किया है।"[63] यह राजा साहब की व्यक्तिगत भलमनसाहत है। काश समाज की स्थिति भी कुछ ऐसी ही होती! यहाँ रेणु संभवतः इस बात की ओर भी संकेत कर रहे हैं कि प्रतिभा का संबंध किसी जाति विशेष से नहीं होता और यह किसी जाति तक सीमित भी नहीं होती। लेकिन यह हमारे समाज का दुर्भाग्य है कि इसमें राजपंडित और क्षत्रिय मैनेजर जैसे लोग ज्यादा हैं और राजा साहब जैसे प्रतिभा के पारखी लोग बहुत कम।

यशपाल जातिवाद के सवाल पर अपनी कहानियों में बहुत ही बारीकी से विचार करते हैं। जातिवाद और जातिवाद को टिकाए रहने वाली शक्तियों की पहचान यशपाल बड़ी-ही स्पष्टता से करते हैं। इसके साथ ही जातिवाद से मुक्ति के प्रयास में जातिवादी प्रतीकों में ही उलझ जाने की प्रक्रिया को भी समझते है और उसकी आलोचना करते हैं।

यशपाल की एक सशक्त कहानी है- 'मनु की लगाम'। कहानी का व्यंग्य उसके शीर्षक से ही ज़ाहिर हो जाता है। द्विजत्व की निशानी के तौर पर गले में जनेऊ (यज्ञोपवित) डालने की मनुवादी

व्यवस्था में एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुआ लड़का देबू घुटन महसूस करता है। देबू को गले में पड़ा जनेऊ मनु की लगाम मालूम पड़ता है, जो उसकी सारी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर पाबंदी लगा देता है और उसे धर्म के थोथे नियमों की जकड़ में कैद कर देता है। लेकिन मनुवादी व्यवस्था और उन्हीं मूल्यों को जीने वाले परिवार और समाज के लिए 'वंश और वर्ण का सम्मान लड़के की उच्छृंखलता से अधिक महत्वपूर्ण वस्तु थी।'[64] देबू को जबरन जनेऊ धारण करवाया गया लेकिन उसका स्वतंत्र मन जनेऊ की दासता स्वीकार नहीं कर पाया और उसने 'जनेऊ को खींचकर तोड़ दिया और निकाल कर एक काँटे भरी झाड़ी में फेंक दिया।'[65]

बीसवीं सदी के पाँचवें दशक में लिखी गई इस कहानी में तत्कालीन भारतीय समाज में चल रहे सामाजिक सुधार आंदोलनों की झलक दिखाई पड़ती है। समाज के दलित-पिछड़े समुदाय को जाति के दंश से छुटकारा दिलाने के लिए कई तरह के आंदोलन और समाज सुधार के प्रयास चल रहे थे। इस कहानी में गाँधी के अछूतोद्धार और आर्य समाजियों के प्रयासों की भी झलक मिलती है। इस कहानी की मूल घटना है अल्मोड़ा के आस-पास के गाँवों में हरिजनों का आर्य समाजी प्रचारकों के प्रभाव में जनेऊ धारण करना और उसके विरोध में ब्राह्मणों-ठाकुरों की दमनात्मक कार्रवाई।

इस कहानी में यशपाल सामाजिक यथार्थ को बड़े ही कलात्मक ढ़ंग से 'कान्ट्रास्ट' में तब्दील करते हैं। कहानी दो हिस्सों में बँटी हुई है। पहले हिस्से का समाहार है ब्राह्मण परिवार के लड़के का 'मनु की लगाम' को उतार फेंकना और दूसरे हिस्से में हरिजनों का संघर्ष है- उसी 'मनु की लगाम' को गले लगाने के लिए। एक तरफ एक ब्राह्मण (जो निश्चय ही ब्राह्मणवाद से मुक्त है।) मनुवादी प्रतीक को उतार फेंकता है और दूसरी तरफ मनुवादी व्यवस्था के शोषण को झेल रहे हरिजन उसी मनुवाद के प्रतीक को गले लगाकर सवर्ण-द्विज बन जाने की चाहत रखते हैं। इसी प्रसंग में यशपाल एक और 'कॉन्ट्रास्ट' रचते हैं। 'देबू जनेऊ से मुक्त होकर भी द्विज के अधिकारों से वंचित न हुआ'[66] और हरिजन जनेऊ पहन लेने भर से द्विज नहीं हो जाएंगे। इन दोनों 'कॉन्ट्रास्ट' के जरिए यशपाल

इन मनुवादी प्रतीकों की निरर्थकता को जाहिर करते हैं। ये प्रतीक न तो किसी को द्विजत्व दिला सकते हैं और न ही छीन सकते हैं।

जातिवादी समाज का एक ठोस यथार्थ है ऊँची जातियों द्वारा जातिवाद को टिकाए रखने का पुरज़ोर प्रयास। कारण कि इस जातिवादी व्यवस्था में सर्वाधिक ऊँची जातियों के हितों का ही पोषण होता है। मुफ्त में मिले इस आजीवन विशेषाधिकार को छोटी जातिवाले चुनौति दें, यह ऊँची जाति वालों को कैसे बर्दाश्त हो सकता है। 'मनु की लगाम' में भी जब कई गाँवों के हरिजन जनेऊ पहनकर द्विज बन जाने का प्रयास करने लगे तो ''ठाकुरों और ब्राह्मणों ने भगवान् और धर्म द्वारा दिए गए अपने अधिकारों और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हरिजनों की इस स्पर्धा और बढ़ाचढ़ी को रोकना आवश्यक समझा... ।''[67]

वर्णाश्रम की व्यवस्था को बनाए-बचाए रखने की चिंता ऊँची जाति वालों को बराबर बनी रहती है। अपनी एक दूसरी कहानी 'शंबूक' में भी यशपाल ने द्विजों की इसी 'चिंता' की अभिव्यक्ति की है। यह कहानी शंबूक की कथा की व्यंग्यात्मक पुनर्प्रस्तुति है। वर्णाश्रम को ईश्वरीय न्याय और समाज व्यवस्था बताने की ब्राह्मणों की धूर्तता की रचनात्मक अभिव्यक्ति है यह कहानी। शंबूक और अन्य शूद्रों के द्वारा मोक्ष की आकांक्षा में तपस्या और कर्म निवृत्ति का मार्ग अपना लेने से 'मुद्गल का वर्णाश्रम समाज आवश्यक सेवा के अभाव में अपने धर्म, यज्ञ, व्रत, यम नियम के पालन में असमर्थ हो गया। सब और पाप फैलाने लगा।'[68] महाज्ञानी ऋत्विक वर्हि अपने रोगग्रस्त पुत्र की मृत्यु को इसी वर्णाश्रम धर्म की हानि का परिणाम मानते हैं और इसलिए 'अपने निजी दुख को व्यापक रूप दे वर्हि का हृदय इस पाप का प्रतिकार करने के लिए क्षुब्ध हो उठा।'[69] वर्हि इसी प्रतिकार की भावना से संचालित हो अयोध्या पहुँचकर राम से वर्णाश्रम की रक्षा का अनुरोध करते हैं। 'भगवान्' राम स्वयं भी शंबूक और शूद्रों के इस कृत्य को वर्णाश्रम की हानि मानते हैं और अपने हाथों से शंबूक का संहार करते हैं। शंबूक वध की इस पुरानी कथा को नए ढंग से रचते हुए यशपाल जातिवादी समाज की चालाकी का पोल खोलते हैं। स्वयं ईश्वर के द्वारा वर्णाश्रम द्रोही शंबूक की हत्या के प्रसंग के

जरिए वर्णाश्रम को ईश्वरीय व्यवस्था बताने की ब्राह्मणों की चालाकी को व्यंग्य के कलेवर में सफलता से प्रस्तुत करती है यह कहानी।

चरित्र-चित्रण: जाति के आईने में व्यक्ति का अक्स

कथा के विकास में चरित्रों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। चरित्र कथा के आंतरिक विन्यास में पूरी तरह गुँथा हुआ होता है। कथा का पूरा ढांचा वस्तुतः घटना और चरित्र के बूते ही खड़ा होता है। घटना और चरित्र भी एक दूसरे से गहरे जुड़े होते हैं। घटनाओं के साथ-साथ चरित्रों का विकास होता है और चरित्रों के विकास के साथ-साथ कथा का विकास होता है। इसलिए चरित्रों का निर्माण और उनका विकास रचनाकार के लिए एक बड़ी चुनौती और जिम्मेदारी का काम होता है। रचनाकार बड़े मनोयोग से अपने चरित्रों को गढ़ता है। एक रचनाकार के लिए इससे बड़ी सफलता और क्या हो सकती है कि उसके द्वारा गढ़े गए चरित्र एक वर्ग विशेष के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में अमर हो जाएँ। हिंदी कहानी ने ऐसे अनेक प्रतिनिधि चरित्र दिए हैं।

यथार्थवादी रुझान ने हिंदी कहानी के पूरे स्वरूप को प्रभावित किया। जाहिर है चरित्र-चित्रण भी यथार्थवाद के इस प्रभाव से बाहर नहीं रहा। यथार्थवादी कथानक का निर्वाह यथार्थवादी चरित्रों के माध्यम से ही किया जा सकता है। चरित्र के यथार्थवाद के अनेक पहलू हैं जिनमें से एक है उसकी सामाजिक स्थिति का यथार्थ। कोई भी बड़ा रचनाकार अपने पात्रों को गढ़ते समय उसकी सामाजिक स्थिति का ध्यान अवश्य रखता है। भारतीय समाज के यथार्थ को किसी भी युग में जाति से अलग करके ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। जाति भारतीय सामाजिक संरचना का अनिवार्य घटक है। भारतीय समाज में अधिकांश व्यक्तियों की पहचान किसी न किसी जाति के साथ जुड़ी है। इसीलिए यह बहुत स्वाभाविक है कि यथार्थवादी चरित्रों को गढ़ते समय कहानीकार उसकी जातिगत सामाजिक पहचान को भी ध्यान में रखे। भारतीय सामाजिक संरचना को ठीक-ठीक समझने वाले प्रायः रचनाकारों के यहाँ चरित्र-चित्रण में जातिगत पहचान की अनदेखी नहीं हुई है।

भारतीय समाज में विभिन्न जातियों की कुछ सामान्य चारित्रिक विशेषताएँ रूढ़-सी हो गई हैं। मतलब जातियों के साथ कुछ खास गुणों-अवगुणों का संबंध जुड़ गया है और उसके आधार पर

विभिन्न जातियों की एक विशिष्ट सामाजिक छवि भी बन गई है। जातियों की ये सामाजिक छवियाँ भी कहानी में पात्रों के चरित्र-चित्रण में उभरकर सामने आती हैं। इसके अलावा रचनाकार की अपनी सामाजिक दृष्टि का भी प्रभाव पात्रों के चरित्र चित्रण पर पड़ता है। और इस तरह जाति-व्यवस्था और विभिन्न जातियों के संबंध में रचनाकार की दृष्टि भी उसके पात्रों के चयन तथा उनके चरित्र चित्रण को प्रभावित करती है।

प्रेमचंद की कहानियों में प्रायः हर जाति के पात्र मौजूद हैं। यहाँ उच्च जातियों के ब्राह्मण, ठाकुर आदि पात्र हैं, दलित पात्र हैं और पिछड़ी जातियों के भी पात्र हैं। इन विभिन्न जातियों के पात्रों के चरित्र-चित्रण को ध्यान से देखें तो कुछ बहुत ही दिलचस्प नतीजे सामने आते हैं। प्रेमचंद की कहानियों का बड़ा हिस्सा किसान जीवन पर केंद्रित है। किसान प्रेमचंद के पूरे कथा साहित्य में अधिकांशतः पिछड़ी जाति से आता है। पिछड़ी जातियाँ जाति-व्यवस्था में मध्यवर्ती स्थिति रखती हैं। आर्थिक आधार पर भी इनकी स्थिति कमोबेश मध्यवर्ती ही ठहरती है। प्रेमचंद के किसान ठीक इसी तरह की सामाजिक स्थिति वाले किसान हैं। इनके चरित्र में एक प्रकार का सीधापन है जो इन्हें सबसे मिला-जुलाकर चलने वाले एक सरल ग्रामीण का रूप देता है। पिछड़ी जाति के किसान का चरित्र-चित्रण अपनी कहानी 'सवा सेर गेहूँ' में प्रेमचंद इस तरह करते हैं- "किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में, न किसी के देने में। छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिंता न थी, ठगविद्या न जानता था, भोजन मिला, खा लिया, न मिला, चबेने पर काट दी, चबैना भी ना मिला, तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा।"[70] पिछड़ी जाति के किसान शंकर का यह चरित्र प्रेमचंद के संपूर्ण साहित्य में आए किसानों के चरित्र का प्रतिनिधि है। शंकर के चरित्र की इन विशेषताओं के माध्यम से प्रेमचंद केवल अपनी कहानी के एक पात्र का चरित्र-चित्रण नहीं कर रहे, बल्कि भारतीय किसान का एक चित्र गढ़ रहे हैं।

प्रेमचंद के किसान भारत के वास्तविक किसान हैं जिनके चरित्र की बारीकियों को बिल्कुल ठीक-ठीक पहचाना है प्रेमचंद ने। पिछड़ी जाति के किसान के चरित्र को 'सुजान भगत' कहानी के सुजान महतो के चरित्र के आधार पर भी देखा-समझा जा सकता है। प्रेमचंद लिखते हैं- "सीधे-सादे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वह पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते।... घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठ तले एक बूंद भी जाने की कसम थी।... किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब पारावार न था। सबके सामने सिर झुकाए रहता, कहीं लोग यह न कहने लगें कि धन पा कर उसे घमंड हो गया है।"[71] धर्मभीरुता, सादा जीवन, नम्रता और लोकभीरुता प्रेमचंद के किसान के चरित्र का जैसे शृंगार हैं। प्रेमचंद के कथा साहित्य में पिछड़ी जाति का शायद ही कोई ऐसा किसान पात्र हो जो उपर्युक्त चारित्रिक शृंगारों से युक्त न हो! 'पूस की रात' का हल्कू, 'बाबाजी का भोग' का रामधन अहीर, 'अलग्योझा' का रग्घू, 'सभ्यता का रहस्य' का दमड़ी आदि ऐसे ही पिछड़ी जाति के किसान चरित्र हैं।

प्रेमचंद के दलित पात्र प्रायः धर्मभीरु हैं। ऊँची जातियों के द्वारा सामाजिक आर्थिक शोषण के अनवरत चक्र ने उन्हें यथास्थितिवादी बना दिया है। 'सद्गति' का दुखी चमार और 'ठाकुर का कुआँ' का जोखू ऐसे ही दलित पात्र हैं। उनके चरित्र को गढ़ते हुए प्रेमचंद ने उनके मन-मस्तिष्क पर जातिवादी शोषण के गहरे निशानों को बड़ी ही सफलता से उभारा है। दुखी या जोखू के भीतर विद्रोह की चेतना शून्य नहीं है, बल्कि जीवन के यथार्थ अनुभवों ने उन्हें शांत कर दिया है।

दुखी और जोखू के विपरीत प्रेमचंद की कहानियों में दलित स्त्री का विद्रोही रूप सामने आता है। यह प्रेमचंद की विशेषता है कि उन्होंने अपनी दलित-पिछड़ी स्त्री पात्रों को पुरुषों की तुलना में विद्रोही दिखाया है। 'ठाकुर का कुआँ' की गंगी, 'मंदिर' की सुखिया और 'घासवाली' की मुलिया ऐसी दलित स्त्री चरित्र हैं, जो जातिवादी शोषण के खिलाफ विद्रोह करना चाहती हैं, बहुत हद तक करती भी हैं।

दलितों की ईमानदारी और उनकी नेक नीयत पर प्रेमचंद को भरोसा है। प्रेमचंद की कहानियों में ऐसा एक भी दलित पात्र ढूंढने से भी नहीं मिलेगा, जिसने किसी को धोखा देकर अपना काम निकाला हो। इसके उलट धोखा खाना तो उनकी नियति ही है। अंग्रेजी में एक कहावत है- 'It is better to be deceived than deceive.' धोखा देने के बजाय धोखा खा लेना मनुष्यता की निशानी है। प्रेमचंद के दलित पात्र ऐसे ही मनुष्य पात्र हैं। 21 नवंबर, 1932 के 'जागरण' में छपे एक लेख में प्रेमचंद दलितों की इस मनुष्यता के बारे में लिखते हैं- "हमारी समझ में नहीं आता हम किस मुँह से यह दावा कर सकते हैं कि हम पवित्र और अमुक अपवित्र है। किसी ब्राह्मण महाजन के पास उसी का भाई ब्राह्मण आसामी कर्ज मांगने जाता है, ब्राह्मण महाजन एक पाई भी नहीं देता, उस पर उसका विश्वास नहीं है। वह जानता है, इसे रुपए देकर इससे वसूल करना मुश्किल हो जाएगा। उसी ब्राह्मण महाजन के पास एक अछूत आसामी जाता है और बिना किसी लिखा-पढ़ी के रुपए ले आता है। ब्राह्मण को उस पर विश्वास है। वह जानता है, यह बेईमानी नहीं करेगा।"[72]

बनिया जाति भारतीय समाज में अपनी 'वणिक बुद्धि' यानि व्यापारिक बुद्धि के लिए प्रसिद्ध है। 'वणिक बुद्धि' का मतलब है- सौदे वाली बुद्धि, जिसमें हर हालत में अपना लाभ हो। ऐसी हालत में ये समाज में सब से आमद-रफ्त बनाकर रखते हैं। इनके लिए ब्राह्मणों-ठाकुरों से बैर मोल लेना भी उचित नहीं है और दलितों- पिछड़ों से भी अलगाव रखना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके ग्राहक तो सभी हैं। बल्कि पिछड़ों-दलितों से ही इनका असली मुनाफा और कारोबार है, क्योंकि ये ही साहूकारों के कर्जदार हैं और जीवन भर उन्हें सूद देते रहते हैं। इस तरह बनियों का एक विशेष किस्म का सामाजिक चरित्र उभरता है। प्रेमचंद की तमाम कहानियों में आए महाजनों-साहूकारों-बनियों के चरित्र को देखें तो इस बात की ही पुष्टि होती है। 'बेटी का धन' कहानी के झगडू साहु का चरित्र-चित्रण प्रेमचंद कुछ इस तरह करते हैं- "झगडु साहु जीतन सिंह (ठाकुर) को खुश रखना ज़रूर

चाहते थे, पर साथ ही चौधरी (केवट/मल्लाह) को भी नाखुश करना मंजूर न था। यदि सूद-दर-सूद छोड़कर मूल तथा ब्याज सहज वसूल हो जाए तो उन्हें चौधरी पर मुफ्त का एहसान लादने में कोई आपत्ति न थी। यदि चौधरी के अफसरों की जान-पहचान के कारण साहु जी का टैक्स से गला छूट जाए, जो अनेक उपाय करने- अहलकारों की मुट्ठी गर्म करने- पर भी नित्य प्रति उनकी तोंद की तरह बढ़ता ही जा रहा था तो क्या पूछना!"[73]

'पंच परमेश्वर' कहानी का समझू साहु स्वयं अपनी 'वणिक बुद्धि' का हवाला देता है- "अलगू जब अपने बैल के दाम माँगते तब साहु और सहुआइन दोनों ही झल्लाए हुए कुत्ते की तरह चढ़ बैठते और अंड-बंड बकने लगते- ...मुर्दा बैल दिया था, उस पर दाम माँगने चले हैं! आंखों में धूल झोंक दी,सत्यानाशी बैल गले बाँध दिया, हमें निरा पोंगा ही समझ लिया है! हम भी बनिये के बच्चे हैं, ऐसे बुद्धू कहीं और होंगे।"[74]

ऊँची जाति के पात्रों के साथ प्रेमचंद की सहानुभूति नहीं है। ऊँची जाति के ठाकुर-ब्राह्मण आदि चरित्र प्रेमचंद की कहानियों में प्रायः शोषक, अन्यायी और उद्दण्ड रूप में ही चित्रित हुए हैं। ठाकुर प्रायः जमीन के मालिक हैं, जिनके खेतों में प्रेमचंद के दलित-पिछड़े पात्र मजदूरी करते हैं। वहाँ ठाकुर जमींदारों का चरित्र हमेशा क्रूर और अमानवीय ही है। जहाँ कहीं थोड़ी-बहुत सभ्यता का आवरण है वहाँ भी भीतर-भीतर एक किस्म की चालाकी ही है। ऊँची जातियों के बारे में प्रेमचंद की राय बहुत अच्छी नहीं है। 'मुक्तिधन' कहानी में प्रेमचंद लिखते हैं- "लाला दाऊदयाल भी इसी श्रेणी के महाजन थे। ... उनका व्यवहार अधिकतर निम्न श्रेणी के मनुष्यों से ही रहता था। उच्च वर्ण वालों से वह चौकन्ने रहते थे, उन्हें अपने यहाँ फटकने ही नहीं देते थे। उनका कहना था (और प्रत्येक व्यवसायी पुरुष उनका समर्थन करता है) कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या कायस्थ को रुपए देने से यह कहीं

अच्छा है कि रूपया कुएँ में डाल दिया जाए। इनके पास रुपए लेते समय तो बहुत संपत्ति होती है; लेकिन रुपए हाथ में आते ही वह सारी संपत्ति गायब हो जाती है।"[75]

प्रेमचंद की कहानियों में ऐसे कई प्रसंग हैं जिनके आधार पर यह बात साफ तौर पर समझ में आती है कि ऊँची जाति वालों की नीयत पर प्रेमचंद को हमेशा संदेह रहता है। जहाँ कहीं भी अवसर मिला है, प्रेमचंद ने उनकी आलोचना की है, खिल्ली उड़ाई है। ब्राह्मणों, ठाकुरों और बनियों के चरित्र की अलग-अलग विशेषताओं को 'ठाकुर का कुआँ' कहानी का जोखू एक ही वाक्य में स्पष्ट कर देता है- "हाथ-पाँव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्रह्म देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहुजी एक के पाँच लेंगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है!"[76] ब्राह्मणों की कड़वी-कठोर वाणी, ठाकुरों की दबंगई तथा हिंसक प्रवृत्ति और बनियों की 'वणिक बुद्धि' की स्पष्ट पहचान जोखू के एक वाक्य से ही प्रेमचंद करवा देते हैं।

प्रेमचंद की कहानियों में प्रायः जो ब्राह्मण पात्र आए हैं वे ढोंगी, पाखंडी, कंजूस, लोभी, दोहरे चरित्र वाले और शोषक हैं। इस बात का तात्पर्य यह कतई नहीं है कि प्रेमचंद की कहानियों के सभी ब्राह्मण पात्र ऐसे ही हैं, लेकिन उसकी कहानियों के समग्र प्रभाव को ध्यान में रखकर कहा जाए तो ब्राह्मणों की ऐसी ही छवि उभरती है। 'सद्गति' के पं. घासीराम हों, या 'सवासेर गेहूँ' के विप्र महाराज या 'बाबाजी का भोग' का साधु या ऐसे ही अन्य कई कहानियों के पंडे-पुरोहित, उन सब के चरित्र आपस में मिलते हैं। प्रेमचंद की एक कहानी है- 'समस्या'। यह एक दफ्तर में चार चपरासियों और एक बड़े बाबू के आपसी व्यवहार और उसके जरिए परस्पर बनते-बिगड़ते संबंधों की कहानी है, दफ्तर के भीतर की बहुत ही साधारण ढंग की राजनीति की कहानी। दफ्तर के चार चपरासियों में दो ब्राह्मण हैं। इनके बारे में प्रेमचंद की टिप्पणी है- "शेष दो महाशय जाति के ब्राह्मण हैं। उनके आशीर्वादों का मूल्य उनके काम से कहीं अधिक है। ये तीनों (एक मुसलमान भी है) कामचोर, गुस्ताख़ और आलसी हैं। कोई छोटा-सा काम करने को भी कहिए तो बिना नाक-भौं सिकोड़े नहीं करते।"[77]

प्रेमचंद की कहानियों के ब्राह्मण पात्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और यादगार पात्र 'पं. मोटेराम शास्त्री' ऊपर बताए गए सभी विशेषणों से विभूषित हैं। प्रेमचंद ने भी बड़ी दिलचस्पी से अपने इस पात्र को सिरजा है। पं. मोटेराम शास्त्री' प्रेमचंद को इतना भाए कि अपनी कई कहानियों में प्रेमचंद ने इन्हें मुख्य स्थान दिया। 'हिन्दी में 'मनुष्य का परमधर्म' नाम की कहानी में इनका (पं. मोटेराम शास्त्री) पहले पहल 1920 में दर्शन हुआ...।'[78] इसके बाद 'सत्याग्रह' (1923), 'निमंत्रण' (1926), 'गुरूमंत्र' (1927), मोटेराम शास्त्री (1928) में भी मोटेराम शास्त्री मौजूद हैं। हालाँकि 'पं. मोटेराम शास्त्री' की एक पात्र के रूप में सृष्टि प्रेमचंद के उर्दू उपन्यास 'जलवए ईसार' में 1912 में ही हो गई थी। यह उपन्यास करीब दस साल बाद 'बरदान' नाम से हिन्दी में छपा।[79]

'पं. मोटेराम शास्त्री' ने प्रेमचंद को निजी जीवन में भी प्रभावित किया। प्रेमचंद की कहानी 'मोटेराम शास्त्री' जब जनवरी 1928 की माधुरी में छपी तो लखनऊ के लाटूश रोड के पास के किन्हीं पं. शालिग्राम शास्त्री नाम के वैद्य को यह संदेह हो गया कि प्रेमचंद ने उन्हीं को निशाना बनाकर यह कहानी लिखी है। निश्चय ही पं. शालिग्राम जी को 'पं. मोटेराम शास्त्री' में अपनी छाया दिखाई पड़ी होगी। मामला कोर्ट कचहरी तक पहुँच गया। शास्त्री जी ने माधुरी के सम्पादकों पर मानहानि का दावा ठोंक दिय। खैर, किसी तरह मामला शांत हुआ।[80]

इस पूरे मामले में जो सबसे महत्वपूर्ण बात ध्यान देने की है, उसकी चर्चा भी अमृत राय ने की है- "...खामखाह इस चीज़ ने कुछ ब्राह्मण-अब्राह्मण झगड़े का रूप ले लिया था। उधर से गवाहों की जो सूची पेश हुई थी उसपर एक नज़र डालने से यह बात साफ हो जाती है- जैसे सब लोग आ जुटे हों इस ब्राह्मण द्रोही का मान मर्दण करने के लिए।"[81]

एक नज़र गवाहों की उस सूची पर भी डाल ली जाए। अमृतराय लिखते हैं- "उधर से गवाहों की जो सूची पेश हुई उसमें बड़े-बड़े लोगों के नाम थे- 'पं. दुलारेलाल भार्ग व, पं.

रूपनरायण पांडेय, पं. बद्रीनाथ भट्ट पं. मातादीन शुक्ल, पं. आद्यादत्त ठाकुर। बाहर से जिन गवाहों को बुलाने की बात थी उनमें पं. पद्मसिंह शर्मा और रत्नाकर जी भी थे।''[82] गवाहों की सूची में तमाम नाम ब्राह्मणों का होना न तो संयोगवश है और न ही अकारण। आश्चर्य की बात है कि गवाहों में पं. दुलारेलाल भार्गव और 'माधुरी' के संपादक पं. रूपनरायण पांडेय भी हैं। पं. रूपनरायण पांडेय पर प्रेमचंद को बहुत विश्वास था, उन्होंने प्रेमचंद की कहानियाँ भी 'माधुरी' में छापी थीं। पं. रूपनरायण पांडेय और कुछ अन्य ब्राह्मण संपादकों के बारे में प्रेमचंद ने अपने एक लेख 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?' में यहाँ तक लिखा था की "ये कहानियाँ उन महानुभावों ने इसलिए छापीं कि वे भी हिन्दू-समाज को टकेपंथियों के जाल से निकालना चाहते हैं, वे ब्राह्मण होते हुए भी इस ब्राह्मण जाति को बदनाम करनेवाले जीवों का समाज पर प्रभुत्व नहीं देखना चाहते। हमारा ख़याल है कि टकेपंथियों से जितनी लज्जा उन्हें आती होगी, उतनी दूसरे समुदायों को नहीं आ सकती..."[83] इसके अलावा यह वही दुलारेलाल भार्गव हैं जिनके सहित्यिक सलाहकार के तौर पर गंगा पुस्तक माला में प्रेमचंद तकरीबन एक साल तक काम कर चुके थे। दोनों के आपसी संबंध घनिष्ट थे, इसका अंदाज़ा इस बात से लगता है कि जब सितम्बर 1924 में सलाहकार वाली नौकरी के लिए प्रेमचंद लखनऊ आए तो पत्नी और बच्चों समते दुलारेलाल भार्गव के लाटूश रोड वाले मकान पर ही ठहरे थे। मगर साहित्यिक और मित्रवत् घनिष्ठता पर 'बिरादरी' की घनिष्ठता हावी हो गई!

भारतीय समाज में ठाकुरों की स्थिति प्रायः भूस्वामी और संपत्तिशाली वर्ग की रही है। भूमि और अथाह संपत्ति के कारण समाज में उनकी स्थिति अत्यंत शक्तिशाली रही है। सत्तातंत्र के साथ उनके गठजोड़ हमेशा से रहते आए हैं। संपत्ति और सत्ता के साथ गठजोड़ उन्हें निरंकुश और अत्याचारी बना देता है। किसान आसामियों के साथ उनकी यह क्रूरता अनेक रूपों में प्रकट होती है। हिन्दी कथा साहित्य में अधिकांश ठाकुर चरित्र इसी रूप में चित्रित होते रहे हैं। प्रेमचंद के अलावा अन्य रचनाकारों के यहाँ भी चरित्र-चित्रण के संदर्भ में भारतीय समाज की इस जातिवादी संरचना और उसमें विभिन्न जातियों की सामाजिक स्थितियों का ध्यान विशेष रूप से रखा गया है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपनी कहानी 'अभागा किसान' के ठाकुर साहब का चरित्र-चित्रण करते हुए लिखते हैं- "भिक्खन (किसान) के 'सरकार' जाति के क्षत्री हैं। ...और उनका नाम ठाकुर देवनसिंह। वह गोरखपुर ज़िले के असाधारण जमींदार हैं। ...गोरखपुर ज़िले में वैसे तो अनेक भू-पति अपनी क्रूरता के लिए विख्यात हैं, पर देवनसिंह इसमें भी सबसे आगे हैं। ठाकुर देवनसिंह ही एक ऐसे जबरदस्त जमींदार हैं जिनके विषय में यह विख्यात है कि मारे डर के भूत तक उनका हल जोतते हैं। लोगों का अनुमान है कि अपने शासन काल में ठाकुर साहब ने अनेक खून किए हैं, अनेक कृषक-युवती अबलाओं का सर्वनाश किया है, कितनों की पैतृक संपत्ति अपनी कूटनीति से हजम कर चुके हैं, कितनों को तबाह कर दिया है। ...रुपयों की वसूली के समय उनके पास मनुष्यता या दया नाम की कोई चिड़िया नहीं फटकने पाती है। ...गरीब किसानों की 'आह' का उत्तर वह अपने 'अट्टहास' से देते हैं और उनके रोदन का स्वागत अपनी ताड़ना से करते हैं।"[84]

जातिवाद के पिरामीड में सबसे ऊपर ब्राह्मण और ठाकुर ही हैं। ज़ाहिर है जातिवादी शोषण के विशेषाधिकार सबसे ज़्यादा इन्हीं के पास हैं। और, इसीलिए इस जातिवादी विशेषाधिकार को बनाए रखने की चिंता भी सबसे ज़्यादा इन्हीं को है। इस विशेषाधिकार की रक्षा के लिए ऊँची जातियाँ तमाम हथकंडे अपनाती हैं- कभी शास्त्र के नाम पर, कभी सामाजिक मर्यादा के नाम पर। जातिवाद के प्रति आलोचनात्मक रुख रखने वाला कोई भी रचनाकार जातिवाद को बचाने के इन प्रयासों का समर्थन नहीं कर सकता। इसलिए इनकी रचनाओं में जातिवाद की संरक्षक जातियों का चरित्र हमेशा नकारात्मक रूप में ही उभर कर सामने आता है। यह अकारण नहीं है कि ब्राह्मणों-ठाकुरों का चरित्र-चित्रण प्रायः शोषकों के रूप में ही हुआ है।

चंद्रकिरण सौनरेक्सा की कहानी 'रुपया' का हरिशंकर शुक्ल एक ऐसा ब्राह्मण किरदार है जो अपनी झूठी कुलीनता और मर्यादा के नाम पर अपने भतीजे की पत्नी को घर से निकाल देता है। कारण केवल यह कि बहू एक ब्राह्मण पिता लेकिन नाईन माँ की संतान है। हरिशंकर शुक्ल का जातिवादी संस्कार ज़ोर मारता है- "नायन की लड़की क्या ब्राह्मणी कहलाएगी? हरे-हरे... कितने

दिनों से इसके हाथ का कच्चा-पक्का खा रहे हैं, दुष्टा ने बुढ़ापे में मेरा धर्म भ्रष्ट कर दिया। इसी पूरनमासी को हरिद्वार जाकर गंगास्नान करके प्रायश्चित करना होगा!"[85]

अपनी जातिगत शुद्धता और कुलीनता का दंभ भरने वाले हरिशंकर शुक्ल को जब यह मालूम होता है कि उसकी बहू के मौसा अपनी पचास हजार से अधिक की संपत्ति उसी के नाम लिखकर मर गए तो कुलीनता और सामाजिक मर्यादा की उसकी समझ और परिभाषा बदल जाती है। हरिशंकर शुक्ल अब एकदम उल्टी ज़ुबान बोलने लगते हैं- "हिन्दू धर्म से सात फेरों की ब्याहता का संबंध तो अगले जन्म तक रहता है, बेटा!... यही तो सनातन धर्म की महत्ता है। उसमें ब्याह कोई गुड़ियों का खेल थोड़े है, बहू तो हमारी ही रहेगी।... धर्म के अनुसार पहली पत्नी ही वास्तविक अर्धांगिनी होती है..."[86] मौके और फायदे के अनुसार शास्त्र और जातिवाद के नियमों की मनमानी व्याख्या ऐसे ब्राह्मण चरित्रों की विशेषता है। सौनरेक्सा जी की एक और कहानी 'अंतर' के पं.रामधन शर्मा, चौबे जी और तिवारी जी भी ऐसे ही ब्राह्मण किरदार हैं।

ठाकुरों-ब्राह्मणों के अत्याचारी-हिंसक चरित्र को भी सौनरेक्सा जी की कहानी 'सिर्फ नौ जमातें' के एक प्रसंग से समझा जा सकता है। कहानी में एक बुढ़िया, जो जाति की चमार है, ठाकुरों-ब्राह्मणों के अत्याचारी चरित्र का हवाला देती है। यह प्रसंग द्रष्टव्य है-

"भीड़ में बैठी एक बुढ़िया ने दूसरी से फुसफुसाकर कहा- "साड़ी क्यों, साया चढ़ाइयो, या नंगी नचाइयो, पर भंगिन से ठकुरानी तो बनने से रही। सहर में रहती हो, इसी से इतने दिमाग बढ़ गए हैं। देहात में होते तो पतलून तो दूर, नीची लाँध की धोती बाँध लेने पर ही ठाकुर-ब्राह्मण सर तोड़ देते हैं।"[87]

चंद्रकिरण जी ने अपनी कई कहानियों में जातियों के आर्थिक आधार को स्पष्ट किया है। उनकी कहानियों में ऊँची जाति का पात्र प्रायः संपन्न है और नीची जाति का पात्र भयंकर आर्थिक तंगी का शिकार। उनकी कहानियों के आधार पर समाज की आर्थिक संरचना में जातियों की भूमिका को बड़ी आसानी से नोटिस किया जा सकता है। नीची जातियाँ केवल सामाजिक रुप से बहिष्कृत

नहीं हैं, बल्कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व से भी सर्वथा वंचित हैं। सौनरेक्सा जी की कई कहानियों में जाति का चित्रण इस कोण से किया गया है। उनकी कहानी 'कमीनों की जिंदगी में' की बसंती (भंगिन), 'अधूरी आजादी' कहानी की रुक्मणी (चमार), 'अंतर' कहानी की सुन्दरिया (कहारिन) और कई अन्य कहानियों के दलित पात्र आर्थिक रुप से अत्यंत ही पिछड़े हुए हैं। 'जवान मिट्टी' कहानी की बिन्दो नाईन और पूरी नाई बिरादरी के लोग भी आर्थिक रुप से अत्यंत ही पिछड़ी हुई अवस्था में हैं। जबकि, उसी कहानी की ललाईन और मिसरानी आर्थिक रुप से संपन्न हैं। सौनरेक्सा लिखती हैं- "ललाइन ने अपनी दो तोले की नथ हिलाकर पास बैठी मिसरानी को सुनाते हुए उत्तर दिया..."[88]

दलितों और ऊँची जातियों की सामाजिक-आर्थिक हैसियत के बारे में लेखिका की यह समझ 'सिर्फ नौ जमातें' कहानी में भी दिखाई पड़ती है। दलित स्त्रियों के शृंगार का वर्णन करते हुए लेखिका ने सचेत रूप से इस बात का ध्यान रखा है कि सभी दलित स्त्रियों के गहने चांदी या गिलट के ही हैं। सोने का एक भी गहना इन स्त्रियों ने नहीं पहना है। आभूषणों का स्त्री-सुलभ शौक दलित स्त्रियों को भी भरपूर है, लेकिन उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति उन्हें चांदी से ऊपर उठने की इजाजत नहीं देती। स्त्रियों के शृंगार का भी अपना एक समाजशास्त्र है और इसमें जाति की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसे इस कहानी के जरिए समझा जा सकता है। दलित स्त्रियाँ चांदी के तमाम गहने पहनती हैं, लेकिन बिछुए नहीं पहनतीं। लेखिका ने इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है- "बिछुए ऊँची जाति की महिलाओं का ही विशेषाधिकार हैं और अभी तक भी इन लोगों ने (दलित स्त्रियों ने) उन्हें पहन कर मर्यादा नहीं तोड़ी है।"[89]

यशपाल की कहानी ‘मनु की लगाम’ के चरित्रों का विश्लेषण करने पर भी समाज का जातिवादी यथार्थ सामने आता है। इस कहानी के चरित्रों को मोटे तौर पर दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग है जातिवाद को बचाए रखने वालों का और दूसरा वर्ग है जातिवाद से मुक्ति की

आकांक्षा रखने वालों का। पहले वर्ग में यशपाल ने ब्राह्मणों-ठाकुरों को रखा है और दूसरा वर्ग हरिजनों का है। जातिवाद की रक्षा के लिए सबसे ज्यादा व्यग्र और उग्र ब्राह्मण-ठाकुर ही दिखाई पड़ते हैं। इस कहानी के कुछ प्रसंग देखे जा सकते हैं-

(i) ''ठाकुरों और ब्राह्मणों ने भगवान् और धर्म द्वारा दिए गए अपने अधिकारों और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हरिजनों की इस स्पर्धा और बढ़ाचढ़ी को रोकना आवश्यक समझा...।''[90]

(ii) ''ब्राह्मण, ठाकुर भी लट्ठ ले-लेकर टोलियाँ बनाकर उत्कड़ा गाँव की ओर जाने लगे।''[91]

(iii)"सड़क के उस पार लट्ठबन्द ठाकुरों और ब्राह्मणों की टोलियाँ भी जगह-जगह अवसर की प्रतीक्षा में बैठी थीं।''[92]

ऐसे ही और भी छिटपुट प्रसंग इस कहानी में मिल जाएंगे। ब्राह्मण-ठाकुरों के इस गठजोड़ को यशपाल बिल्कुल ठीक चित्रित करते हैं। ध्यान दिया जाना चाहिए कि जातिवाद को बचाने के इस 'धर्मयुद्ध' में यशपाल पिछड़ी जातियों को ब्राह्मणों-ठाकुरों के साथ खड़ा नहीं करते। असल में इस पूरी कहानी में पिछड़ी जाति का कोई पात्र ही नहीं है। इस कहानी का जो तनाव है वह जातिवादी समाज के दो ध्रुवों के बीच का तनाव है। एक तरफ जातिवाद से सर्वाधिक लाभ लेने वाली जातियाँ हैं तो दूसरी तरफ जातिवाद का सर्वाधिक दंश झेलने वाली जाति।

यशपाल ब्राह्मणों-ठाकुरों का बराबर एक साथ उल्लेख करते हैं, किन्तु इन दोनों जातियों के चरित्रों की बारीकी को भी वे खूब समझते हैं। इस बात को इस कहानी के एकमात्र प्रसंग से समझा जा सकतो है। यशपाल लिखते हैं- ''जहाँ-तहाँ इन्हें (हरिजनों को) पकड़कर पीट-पाट कर उनके जनेऊ तोड़ दिए गए। दो तीन जगह ठाकुरों ने हरिजनों के जनेऊ तोड़ डाले और उनके शरीर पर तपे लाल हँसिए से जनेऊ के चिह्न दाग कर कहा- यह रहा तुम्हारा जनेऊ!"[93] बराबर ब्राह्मणों-ठाकुरों के युग्म का इस्तेमाल करती हुई कलम इस प्रसंग में केवल ठाकुरों का ज़िक्र करती है, यह अकारण नहीं है। भारतीय समाज की जाति-संरचना और विभिन्न जातियों के सामाजिक चरित्र को बारीकी से समझने वाला कोई भी साहित्यकार या समाजशास्त्री इस सामाजिक जातिवादी यथार्थ से परिचित होगा।

इस कहानी में यशपाल ने हरिजनों का चरित्र जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह भी तत्कालीन बदलते हुए सामाजिक यथार्थ को सामने लाता है। इस कहानी के हरिजन पात्र जातिवादी शोषण को अपनी नीयति मानकर चुप बैठने वाले दब्बू किस्म के पात्र नहीं हैं, बल्कि सामाजिक बराबरी के लिए संघर्ष करने वाले पात्र हैं।

जाति और जातिवाद: मुक्ति की राहें

जाति की अवधारणा सामाजिक सोपानीकरण की अवधारणा है। जातियों के सोपान में कुछ जातियाँ बहुत ऊपर हैं और कुछ बहुत ही नीचे। जातियों का ऊपर या नीचे होना उनमें अंतर्निहित किसी योग्यता अथवा अयोग्यता से तय नहीं होता। जातियों की एक 'हायरार्की' वर्षों के अभ्यास में तय हो गई है, जिसका अपना धर्मशास्त्रीय आधार है और जिसके पीछे किसी तरह का कोई तर्क नहीं है। जाति की अवधारणा की बुनियाद में ही चूँकि ऊँच-नीच की भावना मौजूद है, इसलिए इसका शोषणकारी होना भी तय है। जातियाँ हों और जातिगत शोषण और विद्वेष न हो, यह संभव ही नहीं है। कोई भी समाज समरस हो ही नहीं सकता यदि वह समानता पर आधारित न हो। फिर जाति व्यवस्था तो अपने आदर्शतम रूप में भी सामाजिक विभेदीकरण की व्यवस्था है जो समानता के सिद्धांत का व्युत्क्रम है। पूरी तरह अतार्किक और शोषणकारी होने के बावजूद यह व्यवस्था न केवल सदियों से चली आ रही है, बल्कि लगातार समय के साथ अपने को ढालती हुई, नए-नए रूपों में प्रकट होती हुई अपने को और मजबूत बनाती जा रही है। वक्त के साथ-साथ जातिवाद का स्वरूप बदला है, जातिवाद के हथियार बदले हैं, जातियों की भूमिकाएँ बदली हैं, लेकिन जाति और जातिवाद के अस्तित्व पर कोई संकट नहीं आया। जाति-विरोधी तमाम आंदोलनों के तात्कालिक झटकों को इस व्यवस्था ने आसानी से झेल लिया और उन्हें पूरी तरह पचा लिया। तब सवाल है कि इस जाति व्यवस्था और जातिवाद से मुक्ति का मार्ग क्या है? है भी या नहीं? यह सवाल बहुत ही पेचीदा है। समाजशास्त्रियों और सामाजिक-राजनीतिक चिंतकों ने इस पर अपने-अपने ढंग से विचार किए हैं।

जाति-व्यवस्था की समस्या के समाधान के रूप में दो तरह के प्रयास दिखाई पड़ते हैं- एक है जाति-व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने और इसे पूरी तरह नष्ट कर देने का प्रयास और दूसरा है इस व्यवस्था में सुधार का प्रयास। दूसरे प्रकार के प्रयास में जाति-व्यवस्था के शोषक रूप को थोड़ा

उदार बनाने का प्रयास होता है, जातियों के बीच ऊँच-नीच और भेदभाव की भावना को कम करने का प्रयास होता है। कुल मिलाकर एक प्रकार का संशोधनवादी प्रयास। लेकिन इतिहास हमें यह सबक देता है कि संशोधनवाद कभी भी कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं कर सकता। जाति-व्यवस्था को संशोधित करने के तमाम प्रयास भी यही बताते हैं। भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था के समाधान के लिए दूसरे प्रकार के संशोधनवादी प्रयास ही ज्यादा हुए। नतीजा हम सबके सामने है। जातियाँ और जातिवाद अलग-अलग संस्करणों में बदस्तूर जारी हैं। जातिवाद के समूल नाश का वही फार्मूला सबसे कारगर मालूम पड़ता है जो अंबेडकर ने दिया था-अंतर्जातीय विवाह का फार्मूला। अपने अत्यंत चर्चित निबंध- 'जातिप्रथा-उन्मूलन' में अंबेडकर ने बिल्कुल स्पष्ट लिखा है- "मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार अन्तर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने से ही रिश्ते की भावना पैदा होगी... हिन्दुओं में अन्तर्जातीय विवाह सामाजिक जीवन में निश्चित रूप से महान शक्ति का एक कारक सिद्ध होगा। ...अतः जाति व्यवस्था को समाप्त करने का वास्तविक उपाय अन्तर्जातीय विवाह ही है। जाति व्यवस्था समाप्त करने के लिए जाति-विलय को छोड़कर और कोई उपाय कारगर सिद्ध नहीं होगा।"[94] लेकिन इस फार्मूले की भी अपनी व्यावहारिक सीमा है। अंतर्जातीय विवाह का मामला बहुत हद तक व्यक्तिगत मामला है। व्यक्तिगत प्रयासों से किसी सामाजिक समस्या का निदान पूरी तरह नहीं हो सकता। सामाजिक समस्या का वास्तविक समाधान तो सामाजिक प्रयास से ही संभव है। और पूरा समाज अंतर्जातीय विवाह के लिए तैयार हो जाए यह एक 'यूटोपिया' तो हो सकता है, मगर इसकी व्यावहारिकता को लेकर आज भी समस्याएँ बनी हुई हैं।

साहित्य का अपना समाजशास्त्र होता है और समाज से साहित्य का गहरा और अनिवार्य संबंध भी होता है। इसके बावजूद साहित्य समाजशास्त्र का विकल्प न है और न हो सकता है। साहित्य का अपना स्वभाव है, अपना दायरा है। इसलिए समाजशास्त्रीय विषयों को भी साहित्य अपने अंदाज में ही 'डील' करता है। यदि साहित्य और साहित्यकारों से हम उसी भूमिका की अपेक्षा

करने लगें जो समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियों की भूमिका है, तो यह न्यायसंगत बात नहीं होगी। जाति का सवाल और उसका समाधान ऐसा ही समाजशास्त्रीय विषय है। हिंदी के साहित्यकारों ने जाति के सवाल को महत्वपूर्ण ढंग से उठाया है और सामाजिक यथार्थ के रूप में इसकी अभिव्यक्ति भी साहित्य में भरपूर हुई है। जाति और जातिवाद की समस्या के समाधान के कुछ प्रयास भी हिंदी के कथाकारों के यहाँ दिखाई पड़ते हैं। इनका अपना महत्व भी है। लेकिन समाधान के इन प्रयासों का मूल्यांकन करते हुए हमें ऊपर कही गई बात का ध्यान रखना होगा और साहित्य में सीधे सीधे समाजशास्त्रीय समस्या के समाधान की तलाश करने के लोभ से भी बचना होगा।

जाति की एक समस्या के रूप में पहचान प्रेमचंद से पहले के कहानीकारों के यहाँ दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए समाधान के प्रयास का तो सवाल ही नहीं उठता। प्रेमचंद ने हिंदी कहानी में पहली बार जाति-व्यवस्था को सामाजिक शोषण की व्यवस्था के रुप में पहचाना। जाति के सामाजिक यथार्थ के विभिन्न पहलुओं को प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के जरिए स्पष्ट किया है। प्रेमचंद जाति-व्यवस्था से मुक्ति को स्वराज्य के लिए भी आवश्यक मानते थे। उनका स्वराज्य केवल राजनीतिक मुक्ति तक सीमित नहीं था। सामाजिक मुक्ति प्रेमचंद के स्वराज का आवश्यक अंग थी। जाति व्यवस्था के रहते भारतीय जनता के बड़े हिस्से के लिए सामाजिक मुक्ति केवल एक स्वप्न है। प्रेमचंद इस बात को खूब अच्छी तरह समझते हैं। अपने एक निबंध में वे लिखते हैं- "जातिभेद और राष्ट्रीयता दोनों में अमृत और विष का अंतर है। ...राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्यभाव का दृढ़ होना। इसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना ही नहीं की जा सकती।"[95]

प्रेमचंद जाति और जातिवाद से मुक्ति की आवश्यकता को बिल्कुल ठीक महसूस कर रहे थे। लेकिन जाति-मुक्ति का कोई ठोस उपाय प्रेमचंद के पास नहीं था। इस मामले में प्रेमचंद बहुत हद तक गाँधीवादी प्रभाव में दिखाई पड़ते हैं। खास तौर पर 1930 से पहले की कहानियों में जाति प्रश्न के समाधान के मुद्दे पर प्रेमचंद लगभग पूरी तरह गाँधीवादी उपायों से ही काम चलाते हैं। इन कहानियों में गाँधीवाद के प्रभाव को हृदय परिवर्तन, दलितों में साफ-सफाई, शिक्षा, आदि का प्रचार और दलितों के मंदिर प्रवेश के रूप में देखा जा सकता है। हृदय परिवर्तन पर तो प्रेमचंद की

जबर्दस्त आस्था थी। बड़ी-से-बड़ी समस्या का समाधान हृदय परिवर्तन की तकनीक से हो सकता था। 'घासवाली' (1929) दलित प्रश्न पर लिखी गई प्रेमचंद की एक महत्वपूर्ण कहानी है। ठाकुर जमींदार की लंपट प्रवृत्ति और दलित-स्त्री के शोषण के मुद्दे को प्रेमचंद ने ठीक-ठीक उठाया है। नायिका मुलिया का चरित्र भी खूब ओजस्वी रूप में उभरा है। लेकिन दलितों के शोषण का समाधान ठाकुर चैनसिंह के हृदय परिवर्तन से कर देना पूरी कहानी के तनाव को 'डायल्यूट' कर देता है। चैनसिंह की पूरी लंपटता, पूरी दबंगई और उसका पूरा जातिवादी अहंकार हृदय परिवर्तन के फार्मूले से छूमंतर हो जाता है। प्रेमचंद लिखते हैं- "चैनसिंह उस दिन से दूसरा ही आदमी हो गया। गुस्सा उसकी नाक पर रहता था, बात-बात पर मजदूरों को गालियाँ देना, डाँटना और पीटना उसकी आदत थी। आसामी उससे थर-थर कांपते थे। ... मगर उस दिन से चैनसिंह इतना दयालु, इतना गंभीर, इतना सहनशील हो गया कि लोगों को आश्चर्य होता था।"[96]

इसी तरह का हृदय परिवर्तन 'मंत्र-1' कहानी के पंडित लीलाधर चौबे का भी होता है। पंडित लीलाधर हिंदूसभा की ओर से दलितों के धर्मांतरण को रोकने और उनमें शुद्धि का प्रचार करने के उद्देश्य से मद्रास की एक दलित बस्ती में आए थे। लेकिन यहाँ दलितों के बीच आकर दलितों के सेवा भाव और उनकी मनुष्यता के प्रभाव में उनका हृदय परिवर्तित हो जाता है। प्रेमचंद लिखते हैं- "पंडित जी अब वह अपने ब्राह्मणत्व पर घमंड करने वाले पंडित जी न थे। उन्होंने शूद्रों और भीलों का आदर करना सीख लिया था। उन्हें छाती से लगाते हुए अब पंडित जी को घृणा न होती थी। ...उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी- मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूँगा, पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ। ऐसी निर्मल एवं पवित्र आत्माओं को शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता।"[97]

इस तरह का हृदय परिवर्तन वास्तविक समाज में घटित नहीं होता। यह एक प्रकार का चमत्कार है। चमत्कार कहानियों और कल्पनाओं में ही घटित हो सकते हैं। वास्तविक सामाजिक परिवर्तन चमत्कारों के जरिए घटित नहीं होते। ऐसी बात नहीं है कि प्रेमचंद इस छोटी-सी बात को

नहीं समझते थे। लेकिन गाँधीवादी सदिच्छा के फार्मूले का ऐसा प्रभाव प्रेमचंद पर है कि सबकुछ के बावजूद हृदय परिवर्तन कराने के लोभ का संवरण वह नहीं कर पाते। अमृतराय ने प्रेमचंद की इस कमजोरी को बिल्कुल ठीक नोट किया है- गाँधी और टाल्सटाय का इतना गहरा असर मुंशीजी के मन पर है कि जादू की छड़ी घूमाते ही वह सारे पढ़े-लिखे लोग वकील-बैरिस्टर, डॉक्टर, सरकारी अमले जो इस समाज-व्यवस्था को पूरी तरह स्वीकार करके खुद अर्थ पिशाच बन चुके हैं और जिनके बारे में मुंशीजी की शंकाओं का अंत नहीं है, उनका हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह बहुत नेक, सीधे-सच्चे इंसान बन जाते हैं। उनकी सोई हुई आत्मा जाग पड़ती है और फिर मुंशीजी उन्हीं के मुँह से आज की इस समाज व्यवस्था की पोल खुलवाते हैं।"[98]

गाँधीवाद का प्रभाव प्रेमचंद की कहानियों में दलितों में साफ-सफाई, शिक्षा, आदि के प्रचार के रुप में भी दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद के कुछ दलित और गैर-दलित पात्र गाँधीवाद के इस प्रभाव में देखे जा सकते हैं।1925 के बाद जब गाँधी अछूतोद्धार कार्यक्रम चला रहे थे, उस समय प्रेमचंद अपनी कुछेक कहानियों में इस अछूतोद्धार कार्यक्रम के जरिए जाति-भेद को समाप्त करने का प्रयास कर रहे थे। 'सौभाग्य के कोड़े' कहानी का दलित पात्र 'नथुवा' विद्याभ्यास से 'आचार्य नाथूराम' हो जाता है। प्रेमचंद लिखते हैं- "अब वह समाज का भूषण था। कोई उससे न पूछता था, कौन जाति हो। उसका रहन-सहन, तौर-तरीका अब गायकों का-सा नहीं, शिक्षित समुदाय का-सा था। अपने सम्मान की रक्षा के लिए वह ऊँचे वर्णवालों का-सा आचरण रखने लगा। मदिरा-मांस त्याग दिया, नियमित रूप से संध्योपासना करने लगा। कोई कुलीन ब्राह्मण भी इतना आचार-विचार न करता होगा।"[99]

साफ-सफाई के साथ रहने, मदिरा-मांस का त्याग करने और शिक्षा प्राप्त करने से नीच जाति का कलंक मिट जाता है- यह एक गाँधीवादी अप्रोच है। प्रेमचंद की कहानियों में यह अप्रोच दिखाई

जरूर पड़ता है, लेकिन वह इससे बहुत हद तक 'कन्विंस्ड' नहीं लगते। साफ-सफाई, मांस-मदिरा के निषेध और शिक्षा के प्रचार से दलितों की सामाजिक हैसियत में कोई बुनियादी परिवर्तन आ जाएगा- इसको लेकर प्रेमचंद के मन में भी संदेह बना हुआ है। 'सौभाग्य के कोड़े' (1924) के प्रकाशन के दो वर्ष बाद ही 'मंत्र-1' कहानी आई। इस कहानी में साफ-सफाई, आदि वाले गाँधीवादी अप्रोच के खोखलेपन को प्रेमचंद ने बिल्कुल ठीक पहचाना है। कहानी में पंडित लीलाधर चौबे दलितों से कहते हैं कि "मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च-वर्ण के हिंदुओं में मिल सकते हो।"[100] यह वही गाँधीवादी 'अप्रोच' है। लेकिन कहानी का बूढ़ा दलित पात्र इस 'अप्रोच' की निरर्थकता को सामने रखता है- "हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते; और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं; पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह-संबंध करने में आपको कदाचित इनकार न होगा। ...हम कितने ही विद्वान, कितने ही आचारवान हो जाएँ, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे।"[101]

बूढ़े अछूत के तर्क में सच्चाई है। प्रेमचंद इस बात को समझते हैं। 1932 के एक निबंध में प्रेमचंद लिखते हैं- "कहा जाता है कि अछूतों की आदते गंदी हैं, वे रोज स्नान नहीं करते, निषिद्ध कर्म करते हैं, आदि। क्या जितने सछूत हैं, वे रोज स्नान करते हैं, क्या काश्मीर और अल्मोड़ा के ब्राह्मण रोज नहाते हैं? हमने इसी काशी में ऐसे ब्राह्मणों को देखा है, जो जाड़ों में, महीने में एक बार स्नान करते हैं। फिर भी वे पवित्र हैं। ... इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण -और वह भी तिलकधारी- निकल आएंगे, फिर भी वे ब्राह्मण हैं।"[102]

इस तरह, गाँधीवादी सुधारात्मक प्रयासों से जाति-भेद और विशेषकर अछूत समस्या का कोई वास्तविक समाधान निकल सकता है- इसको लेकर प्रेमचंद के विचार स्थिर या निर्द्वन्द्व नहीं हैं।

जैसे-जैसे प्रेमचंद एक कथाकार के तौर पर 'मैच्योर' होते जाते हैं, वे अपनी कहानियों में इस तरह के सुधारवादी प्रयासों के प्रति 'क्रिटिकल' होते जाते हैं।

अंतर्जातीय विवाह और सहभोज जाति-भेद को शिथिल करने के उपाय हो सकते हैं। लेकिन इनकी अपनी व्यावहारिक दिक्कतें हैं। हालाँकि प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में इन दोनों उपायों का भी स्पष्ट संकेत किया है। 'मंत्र-1' कहानी का बूढ़ा दलित जातिप्रथा के विनाश के दोनों उपायों- अंतर्जातीय विवाह और सहभोज- की चर्चा करता है। वह पंडित लीलाधर चौबे से तर्कपूर्ण सवाल करता है- "हमारे साथ भोजन करोगे? ... मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा?"[103] प्रेमचंद इस बूढ़े दलित के माध्यम से यह साफ संकेत करते हैं कि जब तक विवाह और खानपान के मामले में सजातीयता के नियमों का पालन होता रहेगा, तब तक इस प्रथा का अंत नहीं हो सकता। जाति प्रथा को टिकाए रखने वाली मूल बात रोटी-बेटी का सजातीय दायरा ही है। जब तक यह सीमा नहीं टूटती, तब तक जातिप्रथा का नाश संभव नहीं है। प्रेमचंद ने 'सौभाग्य के कोड़े', 'सुभागी', 'कायर', 'त्यागी का प्रेम', आदि कहानियों में अंतर्जातीय विवाह के मामले को बहुत हल्के-फुल्के ढंग से उठाया है। यहाँ भी अंतर्जातीय विवाह तभी संभव हो पाया है, जब दलित अथवा पिछड़ी जाति के पुरुष अथवा स्त्री विशिष्ट गुणों से युक्त और रहन सहन में उच्च वर्ण वालों की तरह हैं। यानी दलित अथवा पिछड़ी जाति का व्यक्ति ऊँची जाति वालों के द्वारा तभी स्वीकृत है, जब उसका व्यक्तित्वांतरण या कहें 'संस्कृतीकरण' (उच्च जातीय संस्कारों से युक्त होना) हो गया हो। 'सौभाग्य के कोड़े' कहानी में दलित 'नथुवा' से उच्चकुलीन कन्या रत्ना का विवाह इसलिए संभव हो पाता है, क्योंकि नथुवा अब 'आचार्य नाथूराम' बन चुका है। साथ ही वह रायसाहब से अपनी पहचान, अपनी जाति छुपा भी लेता है। इसी तरह 'सुभागी' कहानी की मुख्य पात्र-सुभागी (पिछड़ी जाति) से ठाकुर सजनसिंह अपनी बहू बनने का अनुरोध करते हैं तो इसलिए कि सुभागी विशिष्ट गुणों से युक्त है। ठाकुर सजनसिंह स्वयं जात-पाँत मानते हैं, लेकिन सुभागी के व्यक्तिगत गुणों से

प्रभावित होकर वह अंतर्जातीय विवाह के लिए तैयार हो जाते हैं। सजनसिंह कहते हैं- "मेरी इच्छा है कि तुम मेरी बहू बनकर मेरे घर को पवित्र करो। मैं जात-पाँत का कायल हूँ, मगर तुमने मेरे सारे बंधन तोड़ दिए। मेरा लड़का तुम्हारे नाम का पुजारी है।"[104]

तात्पर्य यह है कि अंतर्जातीय विवाह के प्रति प्रेमचंद की आस्था तो है, लेकिन इसकी व्यावहारिक दिक्कतों को भी प्रेमचंद समझ रहे हैं। इसलिए उच्च जातियों और दलित अथवा पिछड़ी जातियों में सीधे-सीधे अंतर्जातीय विवाह के प्रसंग प्रेमचंद की कहानियों में शायद ही कहीं देखने को मिलते हैं। इस संदर्भ में एक व्यावहारिक टिप्पणी प्रेमचंद ने 1932 के अपने एक लेख में की है- "खाने-पीने की सम्मिलित प्रथा अभी तक हिंदुओं में ही नहीं है, अछूतों के साथ कैसे हो सकती है। शहरों के दो-चार सौ आदमियों के अछूतों के साथ भोजन कर लेने से यह समस्या हल नहीं हो सकती। शादी-ब्याह इससे भी कठिन प्रश्न है। जब एक ही जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं में परस्पर शादी नहीं होती, तो अछूतों के साथ यह संबंध कैसे हो सकता है। ये दोनों ही प्रश्न अभी बहुत दिनों में हल होंगे, अर्थात- उस समय जब हिंदू-जाति भेद-भाव को मिटा देगी।"[105]

जैसे-जैसे प्रेमचंद आदर्शवाद को छोड़ते हुए यथार्थवाद की ओर उन्मुख होते हैं, वैसे-वैसे जाति प्रश्न के समाधान का प्रयास कम होता जाता है। 1930 के बाद की कहानियों में जाति की समस्या समाधान रहित होकर आई है। जाति की समस्या की विकटता के आगे समाधान के सारे प्रयास लाचार नजर आने लगे। लिहाजा प्रेमचंद ने मिथ्या समाधान की आदर्शवादी तकनीक को पूरी तरह छोड़ दिया। समाधान रहित जाति समस्या का चित्रण करने वाली ऐसी ही कहानियाँ हैं- 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआँ', 'मंदिर', 'क़फन', आदि। इन कहानियों में जाति-व्यवस्था अपने चरम शोषक रूप में सामने आई है, लेकिन प्रेमचंद ने अपनी तरफ से किसी तरह का समाधान सुझाने का प्रयास नहीं किया है। एक कहानीकार के तौर पर यह प्रेमचंद की परिपक्वता का प्रमाण है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' भी अपनी कहानियों में जाति-समस्या का गाँधीवादी-आदर्शवादी समाधान ही प्रस्तुत करते नजर आते हैं। गाँधीवादी अछूतोद्धार का लक्ष्य दलितों की सामाजिक स्थिति में बुनियादी परिवर्तन करने से ज्यादा उन्हें हिंदू धर्म में बनाए रखना था। दलित हिंदू धर्म के भीतर अपनी हीन सामाजिक स्थिति से विद्रोह करके धर्म-परिवर्तन के रास्ते पर बढ़ रहे थे। गाँधीजी का मूल उद्देश्य उन्हें धर्मांतरण से रोकना था। इसके लिए वे जाति-व्यवस्था के नियमों को थोड़ा उदार बनाने का आह्वान करते हैं और अछूतोद्धार का कार्यक्रम चलाते हैं। गाँधी के इन सिद्धांतों का प्रभाव, एक आलोचनात्मक रुख के साथ, प्रेमचंद पर भी था, जिसे हम देख चुके हैं। गाँधीवाद का यह असर उग्र की कहानियों में भी दिखाई पड़ता है। उग्र की कहानी 'समाज के चरण' के स्वामी योगानंद अछूतों को संबोधित करते हुए जो बात कहते हैं, उसमें असल में गाँधीवाद ही मुखरित हो रहा है। स्वामी योगानंद अछूतों से कहते हैं- "भाइयों, हमारा समाज पतन की ओर जा रहा है और उसके पतन का एक कारण है तुम्हारे 'अछूतत्व' का अस्तित्व। प्यारे मित्र, हमारे देश के लिए, हमारी सभ्यता के लिए और हमारे वृद्ध धर्म के लिए तुम अपने को सुधारो, अपने दुर्गुणों का त्याग करो। स्वच्छता का अभ्यास करो। अपने को पतित और अछूत समझना छोड़ दो और आगे बढ़कर हिंदू-जाति की हर बात में मदद करो।"[106]

अछूतों से जिन दुर्गुणों को त्यागने की अपील की जा रही है, उन्हें अछूतों ने कोई स्वेच्छा से नहीं पकड़ा हुआ है। जातिवादी सामाजिक व्यवस्था ने उन्हें ऐसी भौतिक परिस्थितियाँ दी हैं, जिनमें इस तरह की जीवन-शैली विकसित होती है, जिसे गाँधी या उग्र दुर्गुण कह रहे हैं। इन भौतिक परिस्थितियों को बदले बिना अछूतों की दशा में सुधार की बात करना कोरा आदर्शवाद है। और इन दुर्गुणों से मुक्त होकर भी क्या वास्तव में इनकी सामाजिक हैसियत में कोई परिवर्तन होता है? दूसरी बात, अपने को अछूत समझना छोड़ देने से भी कोई बुनियादी परिवर्तन आ जाएगा- ऐसा नहीं है। अछूतत्व इन्होंने स्वयं अपने ऊपर नहीं थोंपा है। ये तो हिन्दू धर्म की जातिवादी सामजिक व्यवस्था में उस अछूतत्व को ढोने के लिए बाध्य किए गए हैं। इसलिए तो ये हिंदू धर्म से ही मुक्त हो

जाना चाहते हैं! इनसे यह आग्रह करना कि आप हिंदू धर्म में बने भी रहिए और अपने को अछूत भी मत समझिए एक प्रकार का स्वतोव्याघाती कथन है। जाहिर है यह जाति समस्या का क्या, केवल अछूत समस्या का भी वास्तविक और व्यावहारिक समाधान नहीं हो सकता।

जातिवाद के घृणित यथार्थ को सामने रखते हुए हिंदी के कथाकार ऊँची जातियों से इसके विनाश के लिए अपील भी करते हैं। उग्र भी जहाँ एक तरफ अछूतों से अपना अछूतत्व त्यागने की अपील करते हैं, वहीं द्विज जातियों से भी जाति के विशेषाधिकारों को त्यागने की अपील करते हैं। साथ ही उन्हें चेतावनी भी देते हैं कि यदि उन्होंने अपने विशेषाधिकारों का स्वेच्छा से त्याग नहीं किया तो उन्हें अछूतों के विद्रोह का सामना करना पड़ेगा। 'समाज के चरण' कहानी के स्वामी योगानंद जी द्विजों को चेतावनी देते हैं- "अभागिनी द्विजाति! ...अभी अधिक नहीं बिगड़ा है। चुटकियों में सुधार हो सकता है। आँखें खोल, नहीं तो याद रख; अभिमानी स्पृश्य जीव! तेरे लिए सर्वनाश खड़ा है, नरक का द्वार प्रशस्त बनाया जा रहा है- अछूतों का बदला लेने का समय आ रहा है। इससे पहले कि वे तुझे कुत्तों की तरह दुत्कारें, तू उन्हें गले से लगाकर अपनी बड़ाई की रक्षा कर।"[107]

जातिवादी शोषण के प्रति शोषित जातियों के विद्रोह का संकेत स्वामी योगानंद जी के इस कथन में स्पष्ट देखा जा सकता है। उग्र जातिवाद का कोई कारगर समाधान तो प्रस्तुत नहीं करते, लेकिन दलित प्रतिरोध के रूप में जातिवादी वर्चस्व को मिलने वाली चुनौती की ओर संकेत अवश्य कर देते हैं।

अपनी कहानी 'मनु की लगाम' में यशपाल द्विजों के सामाजिक शोषण से हरिजनों की मुक्ति की आर्यसमाजी पद्धति का विरोध करते हैं। कुमाऊँ के पहाड़ी देहातों में 'आर्यसमाजी प्रचारकों के सुझाने से हरिजनों ने द्विजों के समान ब्रतबंध ग्रहण कर अपनी हीनता त्यागकर सवर्ण द्विज बन जाने का निश्चय कर लिया। स्थान-स्थान पर हरिजन लोग जनेऊ पहनने लगे।'[108] इस कहानी के नायक देव दा जो स्वयं ब्राह्मण हैं और युवावस्था में ही जिन्होंने अपने जनेऊ को तोड़ कर उसके

बंधन से मुक्ति पा ली है, वे कांग्रेस कमेटी के मेंबर हैं और गाँधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम में भाग भी लेते हैं। देव दा के माध्यम से यशपाल हरिजनों द्वारा जनेऊ धारण करके द्विज बन जाने की आर्यसमाजी पद्धति पर चोट करते हैं। देव दा तरह-तरह की तर्कपूर्ण बातों के जरिए हरिजनों को समझाते हैं- "...भाइयों, मुझे तो जनेऊ पहनने से कोई नहीं रोकता पर मैं खुद नहीं पहनता"[109], "...आप यह क्यों मानते हैं कि आपकी जात नीची है और कंधे से मनु की चपरास लटकाने वाले लोग ऊँचे हैं"[110], "...जिन लोगों ने आप के साथ अन्याय किया, आपको दबाया है आप उन्हीं की निशानी पहनना चाहते हैं?"[111] आदि। कुल मिलाकर यशपाल देव दा के जरिए अछूतोद्धार की आर्यसमाजी पद्धति का विरोध करते हैं और हरिजनों के भीतर की आत्मसम्मान की भावना को जगाने का प्रयास करते हैं। यशपाल अपनी इस कहानी में मोटे तौर पर हरिजनों को एक गाँधीवादी संदेश ही देते हैं- अपने को हीन मत समझो और अपने आत्मसम्मान को जगाओ जिसके लिए किसी जनेऊ या अन्य किसी प्रतीक की जरूरत नहीं है। दार्शनिक स्तर पर यशपाल की यह बात बिल्कुल ठीक है। लेकिन ठोस सामाजिक धरातल पर देखें तो क्या दलितों या पिछड़ों के भीतर आत्मसम्मान की भावना के पैदा हो जाने मात्र से सामाजिक बराबरी का सपना साकार हो सकता है? सामाजिक बराबरी के स्वप्न को साकार करने के लिए क्या किसी सामाजिक आंदोलन की ज़रूरत नहीं होगी? और यदि होगी तो उस आंदोलन का स्वरूप क्या होगा- इन प्रश्नों से यशपाल अपनी कहानियों में नहीं टकराते। खैर, किसी भी रचनाकार से यह उम्मीद भी नहीं करनी चाहिए कि वह किसी सामाजिक मसले के प्रत्येक पहलू पर अपनी रचनाओं में अनिवार्यतः विचार करे। वैसे भी कला और साहित्य का अपना एक दायरा तो होता ही है।

आजादी से पहले के अन्य कहानीकारों के पास भी जाति की समस्या का कोई स्पष्ट समाधान नहीं है। उन्होंने कोई समाधान सुझाने का प्रयास भी नहीं किया है। हाँ, जाति के सवाल को एक सामाजिक यथार्थ के रूप में उसकी पूरी जटिलता के साथ प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास यहाँ दिखाई पड़ता है। जाति-समस्या का कोई समाधान न सुझाना इन कथाकारों की दूरदर्शिता का

प्रमाण भी कहा जा सकता है। आज हम देख रहे हैं कि उस दौर में, और उसके बाद भी, सुझाए गए समाधान के सारे तरीके नाकामयाब हो गए और जाति-व्यवस्था ने अपने को समय के अनुरूप ढालते हुए एक तरह से और मजबूत बना लिया है। संभवतः हिंदी के कथाकार जाति-व्यवस्था के इस लचीलेपन और इसके टिके रहने की संभावना को समझ रहे थे और इसलिए कोई कामचलाऊ किस्म का समाधान देने के बदले समाधान के मामले में मौन रहना ही उचित समझ रहे थे। इसे इन कथाकारों की रचनात्मक परिपक्वता ही समझना चाहिए।

साहित्य का मूल स्वभाव है-अपील करना। साहित्य का लक्ष्य है- समाज की सम्वेदनशीलता को उत्कृष्ट बनाना। जाति प्रश्न के संदर्भ में हिंदी कथा-साहित्य इन दोनों ही जिम्मेदारियों को गंभीरता से निभाता है। जातिवादी समाज के यथार्थ के विभिन्न पहलुओं को अभिव्यक्ति देकर उसके शोषक रूप के प्रति समाज को संवेदनशील बनाने का काम हिंदी के कथाकारों ने निश्चित रुप से किया है। साथ ही वे जातिवाद से मुक्ति के लिए जनता से अपील भी करते हैं। शुरुआती दौर में जाति की समस्या के समाधान के कुछ आदर्शवादी-भाववादी प्रयास भी दिखाई पड़ते हैं, लेकिन धीरे-धीरे समाधान सुझाने के बदले जाति के यथार्थ को उसकी पूरी तल्ख़ी के साथ प्रस्तुत करने पर ही अधिक जोर है। यही दरअसल साहित्य का अपना वास्तविक स्वभाव भी है और दायित्व भी।

संदर्भ

[1] प्रेमचंद, अलग्योझा (कहानी), मानसरोवर-1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ-13

[2] वही, सुभागी (कहानी), पृष्ठ- 228

[3] प्रेमचंद, सवा सेर गेहूँ (कहानी), मानसरोवर-4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ-167

[4] वही, सद्गति (कहानी), पृष्ठ- 18

[5] प्रेमचंद, मंत्र-1 (कहानी), मानसरोवर-5, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ- 41

[6] प्रेमचंद, बड़े घर की बेटी (कहानी), मानसरोवर-7, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ- 124

[7] प्रेमचंद, कजाकी (कहानी), मानसरोवर-5, पृष्ठ-133

[8] प्रेमचंद, लोकमत का सम्मान (कहानी), मानसरोवर-7, पृष्ठ- 244

[9] प्रेमचंद, बाबाजी का भोग (कहानी), मानसरोवर-3, पृष्ठ-278

[10] प्रेमचंद, सौभाग्य के कोड़े (कहानी), मानसरोवर-3, पृष्ठ- 192

[11] मंत्र-1 (कहानी), मानसरोवर-5, पृष्ठ- 44-45

[12] वही, पृष्ठ- 45

[13] सद्गति (कहानी), मानसरोवर-4, पृष्ठ- 18

[14] वही, पृष्ठ- 20

[15] प्रेमचंद, ठाकुर का कुआँ (कहानी),मानसरोवर-1, पृष्ठ-126

[16] वही, पृष्ठ-127

[17] प्रेमचंद, मंदिर (कहानी), मानसरोवर-5, पृष्ठ-14

[18] प्रेमचंद, विविध-प्रसंग-2, संपा.- अमृत राय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962, पृष्ठ- 448-449

[19] सभ्यता का रहस्य (कहानी), मानसरोवर-4, पृष्ठ- 176

[20] डॉ. कमलेश वर्मा, 'प्रेमचंद के किसान, पिछड़ी जातियाँ और भारतीय संस्कृति' (आलेख), आरोह (पत्रिका), अंक-1, वर्ष- 1, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, 2013, पृष्ठ-104

[21] रामविलास शर्मा, प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1994, पृष्ठ-29

[22] वही, पृष्ठ-29-30

[23] वही, पृष्ठ-19

[24] वही, पृष्ठ-19

[25] ए.बी. बर्धन, वर्ग, जाति आरक्षण और जातिवाद के खिलाफ संघर्ष, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1990, पृष्ठ- 28-29

[26] वही, पृष्ठ-29

[27] रामविलास शर्मा, प्रेमचंद, पृष्ठ-30

[28] वर्ग, जाति आरक्षण और जातिवाद के खिलाफ संघर्ष, पृष्ठ-32

[29] रामवृक्ष बेनीपुरी रचना संचयन, सं.-मस्तराम कपूर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ- 189

[30] वही, पृष्ठ-190

[31] वही, पृष्ठ-190

[32] वही, पृष्ठ-191

[33] वही, पृष्ठ-196

[34] जयशंकर प्रसाद, प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ एवं निबंध, संपा.- सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती, इलाहाबाद, 2009, पृष्ठ-367

[35] वही, पृष्ठ- 367

[36] वही, पृष्ठ-367

[37] वही, पृष्ठ-367

[38] सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली- 4, संपा.- नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृष्ठ- 364

[39] वही, पृष्ठ- 366

[40] वही, पृष्ठ- 366

[41] वही, पृष्ठ- 367

[42] पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र': श्रेष्ठ रचनाएँ-1, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012, पृष्ठ- 127-28

[43] वही, पृष्ठ- 128

[44] वही, पृष्ठ- 129

[45] वही, पृष्ठ 131

[46] पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र': श्रेष्ठ रचनाएँ-2, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012, पृष्ठ-86

[47] पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र': श्रेष्ठ रचनाएँ-1, पृष्ठ-120

[48] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, रुपया (कहानी), ए क्लास का कैदी (कहानी संग्रह), पराग प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ-55-56

[49] वही, पृष्ठ- 60

[50] वही, पृष्ठ-60-61

[51] वही, पृष्ठ- 61

[52] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, अधूरी आज़ादी (कहानी), वे भेड़िए (कहानी संग्रह), झारीसन प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2012, पृष्ठ-125

[53] वही, पृष्ठ-122

[54] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, छुटकारा (कहानी), हिरनी (कहानी संग्रह), सहयोग प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृष्ठ-148

[55] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, सिर्फ नौ जमातें (कहानी), दूसरा बच्चा (कहानी संग्रह), इतिहास शोध संस्थान, दिल्ली, 2007, पृष्ठ-43

[56] वही, पृष्ठ-43

[57] वही, पृष्ठ-43

[58] फणीश्वरनाथ रेणु, संपूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ-9

[59] वही, पृष्ठ-9

[60] वही, पृष्ठ-12

[61] वही, पृष्ठ-16

[62] वही, पृष्ठ-16

[63] वही, पृष्ठ-16

[64] यशपाल, संपूर्ण कहानियाँ-2, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ-209

[65] वही, पृष्ठ-210

[66] वही, पृष्ठ- 210

[67] वही, पृष्ठ-211

[68] यशपाल, संपूर्ण कहानियाँ-1, लोकभारती प्र. इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ- 400

[69] वही, पृष्ठ- 401

[70] मानसरोवर-4,पृष्ठ-167

[71] मानसरोवर-5, पृष्ठ-164

[72] विविध प्रसंग-2, पृष्ठ-449

[73] प्रेमचंद, बेटी का धन (कहानी), मानसरोवर-8, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ- 34

[74] मानसरोवर-7, पृष्ठ-141

[75] मानसरोवर-3, पृष्ठ-152-53

[76] मानसरोवर-1, पृष्ठ-126

[77] मानसरोवर-4, पृष्ठ-181

[78] अमृतराय, कलम का सिपाही, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1992, पृष्ठ-400

[79] वही, पृष्ठ-400

[80] देखें, वही, पृष्ठ 379-401

[81] वही, पृष्ठ-401

[82] वही, पृष्ठ-397

[83] विविध प्रसंग-2, पृष्ठ-472

[84] पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र': श्रेष्ठ रचनाएँ-1, पृष्ठ- 108

[85] रुपया (कहानी), ए क्लास का कैदी (कहानी संग्रह), पृष्ठ-55

[86] वही, पृष्ठ-60-61

[87] सिर्फ नौ जमातें (कहानी), दूसरा बच्चा (कहानी संग्रह), पृष्ठ- 41

[88] जवान मिट्टी (कहानी), ए क्लास का कैदी (कहानी संग्रह), पृष्ठ- 131

[89] सिर्फ नौ जमातें (कहानी), दूसरा बच्चा (कहानी संग्रह), पृष्ठ- 39

[90] यशपाल, संपूर्ण कहानियाँ-2, पृष्ठ- 211

[91] वही, पृष्ठ- 211

[92] वही, पृष्ठ-212

[93] वही, पृष्ठ- 211

[94] डा. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड-1, डा. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृष्ठ -91

[95] विविध प्रसंग-2, पृष्ठ-471

[96] मानसरोवर-1, पृष्ठ-274

[97] मानसरोवर-5, पृष्ठ-55

[98] कलम का सिपाही, पृष्ठ- 222

[99] मानसरोवर-3, पृष्ठ-196

[100] मानसरोवर-5, पृष्ठ- 44-45

[101] मानसरोवर-5, पृष्ठ-45

[102] विविध प्रसंग-2, पृष्ठ-449

[103] मानसरोवर-5, पृष्ठ-44

[104] मानसरोवर-1, पृष्ठ-236

[105] विविध प्रसंग-2, पृष्ठ-446

[106] पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र': श्रेष्ठ रचनाएँ-1, पृष्ठ-125

[107] वही, पृष्ठ-122

[108] यशपाल, संपूर्ण कहानियाँ-2, पृष्ठ- 211

[109] वही, पृष्ठ-212

[110] वही, पृष्ठ-212-13

[111] वही, पृष्ठ- 213

चतुर्थ अध्याय

जाति का प्रश्न और शिल्प

(क) शिल्प
(ख) भाषा

शिल्प

उपन्यास और कहानी पर विचार करते हुए उसके शिल्प पर विचार करना भी बहुत जरुरी होता है। उपन्यास और कहानी के शिल्प में पर्याप्त अंतर है, लेकिन कई बिंदुओं पर इसमें समानता भी है। उपन्यास के विस्तार और कहानी की संक्षिप्तता से पैदा होने वाली शिल्पगत भिन्नताओं का ध्यान रखते हुए और इसके प्रति सावधान रहते हुए उपन्यास-कहानी के शिल्प को संयुक्त रुप से 'कथा-शिल्प' कहा जा सकता है, कहा भी गया है। तो जिसे हम कथा-शिल्प कहते हैं, वह मोटे तौर पर यही है कि उपन्यास अथवा कहानी में कथा को किस तरीके से प्रस्तुत किया गया है। गोपाल राय ने अपनी किताब 'उपन्यास की संरचना' में लिखा भी है- "उपन्यास के लिए जरूरी है कि उसकी कथा 'प्रस्तुत' की जाए। उपन्यास को प्रस्तुत करने की प्रविधियों को ही उपन्यास शिल्प की संज्ञा प्राप्त होती है।"[1]

प्रायः यह बात कही जाती रही है कि रचना 'वस्तु' और 'शिल्प' की आवयविक परिणति होती है। प्रत्येक रचना की 'वस्तु' और उसके शिल्प के बीच एक सहसंबंध होता है। तात्पर्य यह कि यथार्थवादी वस्तु को गैर-यथार्थवादी शिल्प में प्रस्तुत करना संभव नहीं है। यदि ऐसा किया जाता है तो रचना की आवयविकता और उसकी प्रभावोत्पादकता पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। ऑयन् वॉट ने उपन्यास की यथार्थवादी वस्तु और उसके शिल्प के संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है- "उपन्यास में चित्रित यथार्थवाद इस बात में निहित नहीं कि इसमें किस प्रकार के जीवन का निरूपण है बल्कि इस बात में है कि उसे किस ढंग से रूपायित किया गया है।"[2]

रचना में घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए ताकि उसका अपेक्षित प्रभाव पाठक के मानस पर अंकित हो सके- यह किसी भी उपन्यासकार या कहानीकार के

लिए बहुत महत्वपूर्ण है। यथार्थवादी शिल्प में यह बात और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। किसी भी उपन्यास या कहानी की रचना करते हुए लेखक के ज़हन में हमेशा यह बात होती है कि वह पाठक को सत्य प्रतीत हो। कथावस्तु को कल्पना होने के बावजूद सत्य दीखना होता है। कल्पना को सत्य बनाकर प्रस्तुत करना सरल कार्य नहीं है। सरल कथन के जरिए वस्तु को सत्य दिखाना पर्याप्त नहीं होता। इसलिए रचनाकार शिल्प की अनेक तकनीकों का इस्तेमाल करता है जिससे वस्तु को अधिक से अधिक सत्य रूप में प्रस्तुत किया जा सके।

जाति के सामाजिक यथार्थ को रचना की 'वस्तु' बनाते समय लेखक को इस बात का बराबर ध्यान रखना पड़ता है कि वह 'वस्तु' सामाजिक यथार्थ के रूप में ही प्रकट हो, लेखक के निजी जातिवादी पूर्वग्रह के रूप में नहीं। प्रत्येक बड़ा लेखक वैसे भी इस बात के प्रति प्रायः सचेत रहता है कि उसकी विचारधारा सीधे-सीधे रचना में दिखाई न पड़े। एंगेल्स ने अप्रैल 1888 में मार्गरेट हार्कनेस को लिखे अपने पत्र में भी तो यही बात कही है- "लेखक के विचार जितने छुपे रहें, कला की कृति उतनी ही अच्छी होती है।"[3] तो कहानी या उपन्यास में लेखक अपनी बात 'वस्तु' के रूप में प्रस्तुत भी कर दे और वह केवल लेखक की अपनी बात न लग कर एक सामाजिक सत्य के रूप में प्रकट हो, इसके लिए रचना में विशेष रुप से प्रविधि कौशल की जरूरत पड़ती है। जाति के सामाजिक यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए इसलिए रचनाकारों ने विभिन्न प्रविधियों का इस्तेमाल किया।

कथा-शिल्प में 'अवलोकन-बिंदु' का बहुत महत्त्व है। कहानी और उपन्यास में किस प्रसंग को किस पात्र के जरिए प्रस्तुत किया जाए- इस बात से रचना के संघटन तथा उसके प्रभाव पर बहुत फर्क पड़ता है। अवलोकन-बिंदु कथ्य की विश्वसनीयता की स्थापना में बड़ी भूमिका निभाता है। उपन्यास या कहानी का लेखक परिदृश्यात्मक प्रविधि का इस्तेमाल करते हुए स्वयं भी रचना में

अपनी उपस्थिति बनाए रखता है, लेकिन यदि पूरी रचना इसी परिदृश्यात्मक प्रविधि में लेखक के द्वारा 'नैरेट' कर दी जाए तो वह पूरी तरह नीरस बन जाएगी, साथ ही रचना का प्रभाव और उसकी विश्वसनीयता भी बहुत सीमित हो जाएगी। कारण कि रचना की 'वस्तु' नाटकीय रूप में प्रस्तुत न होकर एक किस्म की सपाटबयानी हो जाएगी। इसलिए प्रायः बड़े रचनाकार आवश्यकता के अनुरूप परिदृश्यात्मक प्रविधि और दृश्यात्मक प्रविधि का मिश्रण करते हैं। दृश्यात्मक प्रविधि में रचनाकार अपनी ओर से कुछ नहीं कहता, बल्कि पाठक को एक दृश्य के सामने लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ रचना के पात्रों के संवाद, उनके जीवन-व्यापार आदि के माध्यम से कथानक का विकास होता है। इसके लिए कथाकार कहानी या उपन्यास के पात्रों के मस्तिष्क में अवलोकन-बिंदु को स्थापित कर देता है। जाति के सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए भी हिंदी के कथाकारों ने इस तकनीक का बेहतरीन इस्तेमाल किया है। विभिन्न जातियों के पात्रों के माध्यम से दूसरी जातियों के बारे में टिप्पणी करवाकर या पात्रों के संवाद, आपसी बातचीत के जरिए जाति के सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करवाकर हिंदी के लेखकों ने समाज की जातिवादी मानसिकता और जाति के सामाजिक यथार्थ को यथार्थवादी शिल्प में ढालने की कोशिश की है।

'गोदान' में प्रेमचंद धनिया के अवलोकन-बिंदु का इस्तेमाल करते हुए ब्राह्मण पंडे-पुजारियों के चरित्र का खुलासा करते हैं। धनिया पंडित मातादीन के बारे में कहती है- "भीख माँगो तुम, जो भिखमंगे की जात हो।"[4] इसी तरह 'कर्मभूमि' में नैना ब्रहमचारी जी के चरित्र के जरिए भारतीय समाज के जातिवादी यथार्थ की अभिव्यक्ति करती है। 'रंगभूमि' के दूसरे अंक में मंदिर में विभिन्न जातियों के पात्र इकट्ठे हैं। ठाकुरदीन (तमोली), भैरो (पासी), नायकराम (ब्राह्मण) आदि पात्रों की बातचीत में अलग-अलग जाति के पात्रों के अवलोकन-बिंदुओं का इस्तेमाल करते हुए प्रेमचंद समाज

के जातिवादी नजरिए को स्पष्ट करते हैं। 'रंगभूमि' के पात्रों की बातचीत का कुछ अंश द्रष्टव्य है, जिसमें उनके अलग-अलग अवलोकन-बिंदुओं को देखा जा सकता है-

"ठाकुरदीन- पान बेचना कोई नीच काम नहीं है।

भैरो- जैसे पान, वैसे ताड़ी। पान बेचना कोई ऊँचा काम नहीं है।

ठाकुरदीन- पान भगवान के भोग के साथ रखा जाता है। बड़े-बड़े जनेऊधारी, मेरे हाथ का पान खाते हैं। तुम्हारे हाथ का तो कोई पानी नहीं पीता।

नायकराम- ठाकुरदीन, यह बात तो तुमने बड़ी खरी कही। सच तो है, पासी से कोई घड़ा तक नहीं छुआता।"[5]

यही बातें यदि प्रेमचंद ने अपनी तरफ से कही होतीं तो अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता। विभिन्न जातियों के अवलोकन-बिंदुओं का इस्तेमाल कर के उपन्यासकार ने पूरे प्रसंग की प्रभावोत्पादकता और विश्वसनीयता बढ़ा दी है।

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में भी विभिन्न अवलोकन-बिंदुओं के माध्यम से जाति के प्रश्न को चिह्नित किया है। जातिवादी समाज में एक जाति की दूसरी जातियों के बारे में जो धारणा है, उससे जातिवादी समाज की संरचना को समझने में बड़ी मदद मिलती है। अलग-अलग जातियों के अवलोकन-बिंदुओं का इस्तेमाल कथाकारों ने जातिवादी समाज की वास्तविक संरचना को स्पष्ट करने के लिए किया है। प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुआँ' में गंगी अपने बीमार पति जोखू के लिए ठाकुर या साहू के कुएँ से पानी लाने की बात कहती है। जोखू का जवाब जातिवादी समाज के कड़वे यथार्थ को उद्घाटित करता है- "हाथ-पाँव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्रह्म देवता

आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहुजी एक के पाँच लेंगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है! हम तो मर भी जाते हैं, तो कोई दुआर पर झाँकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएँ से पानी भरने देंगे?"[6]

यही बात प्रेमचंद स्वयं अपनी तरफ से भी कह सकते थे लेकिन तब क्या यह बात उस तीव्रता का प्रभाव पैदा कर पाती, जो अभी कर रही है। जोखू का अवलोकन-बिंदु दलित समाज का अवलोकन बिंदु है, जो इस जातिवादी यातना को सदियों से झेलता रहा है। सदियों की पीड़ा और निराशा के विरासत को ढोते जोखू का अवलोकन-बिंदु ही यह प्रभाव पैदा कर सकता था।

जातिवादी समाज के इसी तरह के यथार्थ को प्रेमचंद 'घासवाली' कहानी में मुलिया चमारिन के अवलोकन-बिंदु के माध्यम से सामने लाते हैं। मुलिया ठाकुर चैनसिंह से कहती है- "क्या समझते हो कि महावीर (मुलिया का पति) चमार है तो उसकी देह में लहू नहीं है, उसे लज्जा नहीं है, अपनी मर्यादा का विचार नहीं है? मेरा रूप-रंग तुम्हें भाता है। क्या घाट के किनारे मुझसे कहीं सुंदर औरतें नहीं घूमा करतीं?... मगर वहाँ तुम न जाओगे;क्योंकि वहाँ जाते तुम्हारी छाती दहलती है। मुझसे दया माँगते हो, इसलिए न कि मैं चमारिन हूँ, नीच जाति हूँ और नीच जाति की औरत जरा-सी घुड़की-धमकी वा जरा-सी लालच से तुम्हारी मुट्ठी में आ जाएगी। कितना सस्ता सौदा है। ठाकुर हो न, ऐसा सस्ता सौदा क्यों छोड़ने लगे?"[7]

'सद्गति' कहानी में प्रेमचंद दुखी चमार और पंडित घासीराम के अवलोकन-बिंदुओं को प्रतिवृत्तात्मक शैली में प्रस्तुत करते हैं। प्रतिवृत्त शैली में कथाकार दो परस्पर विरोधी स्थितियों के माध्यम से कथानक का विकास और उद्देश्य-स्थापन करता है। प्रेमचंद ने अपनी दूसरी कहानियों में

भी ऊँची जातियों और दलित-पिछड़ी जातियों को प्रतिवृत्त शैली में आमने-सामने रखकर कथा में नैतिक मूल्य की स्थापना की है। 'सद्गति' में घीसू चमार का पंडित घासीराम के प्रति अवलोकन-बिंदु द्रष्टव्य है- “पत्तल में सीधा भी देना, हाँ! मुदा तू छूना मत।...सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आध सेर चावल, पाव भर दाल,आध पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना।"[8]

अब इसके ठीक विपरीत घीसू के प्रति पंडित घासीराम का अवलोकन-बिंदु-

"दो चार रोटियों में क्या होगा? चमार है, कम से कम सेर भर चढ़ा जाएगा।...कुछ भूसी-चोकर हो तो आटे में मिला कर दो ठो लिट्टा ठोक दो। साले का पेट भर जाएगा। पतली रोटियों से इन नीचों का पेट नहीं भरता। इन्हें तो जुआर का लिट्टा चाहिए।"[9]

प्रेमचंद की एक कहानी है 'ब्रह्म का स्वाँग'। यह पूरी कहानी दो अवलोकन-बिंदुओं के माध्यम से कही गई है। एक है स्त्री का अवलोकन-बिंदु, दूसरा है पुरुष का अवलोकन-बिंदु। ये स्त्री और पुरुष पति-पत्नी हैं। पत्नी जाति के मामले में रूढ़िवादी है, छूतछात मानती है। पति छद्म गाँधीवादी है। जाति-प्रथा और छुआछूत के विरोध में बोलता तो है लेकिन व्यवहार में जातिवाद के नियमों का कायल है। कहानी में प्रेमचंद ने स्त्री-पुरुष के इन दो अवलोकन-बिंदुओं के माध्यम से क्रमशः इनका चारित्रिक विकास दिखाया है। जहाँ स्त्री जाति की रूढ़ियों से क्रमशः मुक्त होती जाती है, वहीं पुरुष के सिद्धांतवादी रूप का छद्म उद्घाटित होता जाता है। वही पति, जो पत्नी के सामने जाति-वर्ण की कुप्रथाओं के खिलाफ बड़ी-बड़ी बातें करता था, जब पत्नी व्यवहार में उन बातों को

बरतने लगती है, तब नाराज हो जाता है। पत्नी के बारे में पति का विचार है कि "इनकी समझ में यह नहीं आता कि प्रत्येक सिद्धांत का व्यावहारिक रूप कुछ और ही होता है।"[10]

दो अलग-अलग अवलोकन बिंदुओं के माध्यम से प्रेमचंद ने जातिवादियों के स्वाँग को व्यंग्यपूर्ण तरीके से उद्घाटित किया है।

अवलोकन-बिंदु के अपरिवर्तित रहने से रचना के प्रभाव में किस प्रकार न्यूनता आ जाती है- इसे भुवनेश्वर मिश्र के उपन्यास 'बलवंत भूमिहार' में देखा जा सकता है। 'बलवंत भूमिहार' में शुरू से आखिर तक एक ही अवलोकन-बिंदु है। लेखक स्वयं उपन्यास में कथा वाचक के रूप में हमेशा मौजूद है और भूमिहार जाति का चरित्र स्वयं भुवनेश्वर मिश्र ही बता रहे हैं। उपन्यास की भूमिका में उन्होंने स्वयं यह स्वीकार भी किया है। इससे उपन्यास की 'वस्तु' सत्य के रूप में अभिव्यक्त न होकर लेखक के पूर्वग्रह के रूप में अभिव्यक्त होती है। फलतः सामाजिक यथार्थ के रूप में 'वस्तु' की अभिव्यक्ति बाधित हो जाती है और उसका प्रभाव भी क्षीण हो जाता है।

पांडेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ अपनी कहानी 'ब्राह्मण-द्रोही' में अवलोकन-बिंदुओं को बदलने की तकनीक का बेहतर इस्तेमाल करते हैं। जाति-वर्णवादी समाज में ब्राह्मणों को जन्मना सर्वोच्च और श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति के प्रति ‘उग्र’ तीन अलग-अलग अवलोकन बिंदुओं का प्रयोग करते हुए जाति के सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। पंडित कमलनाथ चौबे, उनका पुत्र जीवननाथ और पुत्र के प्राइवेट ट्यूटर मुंशी बनवारीलाल के संवाद-विवाद के जरिए इन तीनों पात्रों में तीन अवलोकन-बिंदुओं की स्थापना कर लेखक जाति के प्रश्न पर अपनी बात की अभिव्यक्ति करता है। पंडित कमलनाथ चौबे कट्टर वर्णाश्रमवादी हैं और जन्मना अपने ब्राह्मण होने पर अहंकार की हद तक गर्व करते हैं। इसके विपरीत पुत्र जीवननाथ और मास्टर मुंशी बनवारीलाल व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार

कर्म को मानते हैं, जन्मना जाति या वर्ण को नहीं। उनके विवाद में उभरते तीन अवलोकन-बिंदुओं को देखा जा सकता है-

- पंडित कमल नाथ चौबे का अवलोकन-बिंदु - "मैं सब कुछ सह सकता हूँ, पर ब्राह्मण की निंदा नहीं सुनी जाती।... मैं द्विज हूँ, ब्राह्मण हूँ, विप्र हूँ, भू-सुर हूँ। मेरी नसों में उनका रक्त बह रहा है जो पुरुषोत्तम राम के गुरु थे... मेरी नसों में उनका रक्त बह रहा है जो वेद के विधाता, स्मृतियों के निर्माता और सनातन धर्म के त्राता थे। मैं ब्राह्मण हूँ, वही ब्राह्मण जो हिन्दू राजत्व के समय भारतवर्ष का शिरोभूषण था, जो सम्राटों का गुरु और शासक था।"[11]
- जीवननाथ का अवलोकन-बिंदु - " पिताजी, मैं स्वयं सब ब्राह्मणों को ब्राह्मण नहीं मानता। वे जीव जो भिक्षा माँगना ही ब्राह्मणत्व समझते हैं,मिथ्या व्यवस्था देते हैं, धर्म और मनुष्यता से बढ़कर सामाजिक कुप्रथाओं को मानते हैं, 'मुँह में राम, बगल में छुरी' रखते हैं- ब्राह्मणों के घर में जन्म लेकर भी किसी तरह ब्राह्मण नहीं हो सकते। सत्य यही कहता है, हृदय यही कहता है, अंतस्तल के अधीश्वर, ईश्वर यही कहते हैं।"[12]
- मुंशी बनवारीलाल का अवलोकन-बिंदु - "कर्म ही ब्राह्मण है। कबीर, रैदास और गाँधी से बढ़कर ब्राह्मण होना असंभव है। यदि जन्म से ही ब्राह्मण माना जाए तो संसार में ब्राह्मणत्व का लोप हो जाएगा। बड़े-बड़े पतित भी ब्राह्मणों की पंक्ति में आ बैठेंगे। बड़े-बड़े ढोंगी, अर्थ-पिशाच, छः महीने में एक बार स्नान करने वाले भी, विप्र बन जाएँगे।"[13]

समाज के जातिवादी रवैये को अभिव्यक्त करने के लिए हिंदी के कथाकारों ने अपनी रचनाओं में 'पत्र शैली' का प्रयोग भी किया है। इसमें पात्र द्वारा अपने किसी प्रिय व्यक्ति या किसी

अन्य को लिखे गए पत्र के माध्यम से लेखक अभिप्रेत कथ्य की अभिव्यक्ति करता है। चंद्रकिरण सौनरेक्सा ने पत्र शैली का बढ़िया प्रयोग अपनी एक कहानी 'अधूरी आजादी' में किया है। कहानी की पात्र कमला ही कहानी की 'नैरेटर' है और पूरी कहानी उसी की तीन चिट्ठियों के रूप में बँटी हुई है, जो उसने अपनी किसी जीजी को लिखे हैं। ये तीनों चिट्ठियाँ रुक्मणी के बारे में हैं, जो जाति की चमारिन है और जिसे कमला ने अपने घर काम करने के लिए नौकरानी के तौर पर रख लिया है। कहानी की टेकनीक यह है कि तीनों चिट्ठियों में एक के बाद एक क्रम से कमला की संवेदना रुक्मणी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होती जाती है। पहली चिट्ठी में कमला जातिवादी समाज की रूढ़ियों में ग्रस्त है। उसने रुक्मणी से पहली बार बर्तन मँजवाने से पहले "उसे कपड़े धोने का साबुन देकर नहला दिया और स्वर्गीया सासूजी का पड़ा पुराना लहँगा-ओढ़नी देकर उसके दोनों कपड़े फिंकवा दिए।"[14] लेकिन जैसे-जैसे कमला रुक्मणी के साथ वक्त बिताती है, रुक्मणी के साथ-साथ दलितों के प्रति उसका दृष्टिकोण परिवर्तित होता जाता है। कमला की सहानुभूति शनैः-शनैः रुक्मणी की ओर उन्मुख होती जाती है। अपनी तीसरी और आखिरी चिट्ठी में कमला लिखती है- "मैं सोच रही हूँ हमारे देश का सामंतशाही कोढ़ किस दिन दूर होगा, वह सामंती राज्य जिसकी नींव केवल पशुबल पर रह गई है।"[15]

कमला द्वारा लिखी गईं इन तीन चिट्ठियों में थोड़े-थोड़े समय का अंतराल है। इस समयांतराल में रुक्मणी लगातार कमला के घर काम करती है और कमला उसके साहचर्य में उससे और उसके समाज से परिचित होती जाती है। समय के इस अंतराल में कमला की जातिवादी संवेदना के परिवर्त्तन को पत्र शैली में सफलता के साथ लेखिका ने चित्रित किया है। कहानी में

अवलोकन-बिंदु तो एक ही है-कमला, लेकिन काल-चाप बदलता गया है। इस अवलोकन-बिंदु की काल-सापेक्षता महत्त्वपूर्ण और गौरतलब है।

'उग्र' ने अपनी एक कहानी 'हत्यारा समाज' में पत्र शैली के भीतर आत्मकथा की शैली का सफल सन्निवेश किया है। कहानी का मुख्य पात्र रघुनंदन अपनी ही जाति (ठाकुर) की लड़की प्रभा से प्रेम करता है और उस से विवाह करना चाहता है। लेकिन रघुनंदन के पिता बाबू रामानुज प्रसाद इस विवाह के विरोधी हैं, क्योंकि प्रभा के पिता बाबू आनंदस्वरूप जातिवादी समाज द्वारा जाति-बहिष्कृत हैं। कारण कि उन्होंने अपने बड़े पुत्र को पढ़ाई के लिए विलायत भेजा था और लौटने पर उसे अपने परिवार में शामिल कर लिया था। जातिवादी समाज के ढकोसले के कारण रघुनंदन और प्रभा का विवाह नहीं हो पाता और वे दोनों आत्महत्या कर लेते हैं। आत्महत्या से पहले रघुनंदन 'स्युसाइड नोट' लिखता है और उस में अपना पक्ष बयान के तौर पर रखता है। इस पत्र (स्युसाइड नोट) के माध्यम से पूरी कहानी 'नैरेट' होती है। पत्र के भीतर आत्मकथात्मक शैली अपनाते हुए रघुनंदन को 'मैं' के रूप में नैरेटर बना दिया गया है। यह 'पात्रीकृत मैं' लेखक के 'मैं' से भिन्न है। 'पात्रीकृत मैं' स्वयं भोक्ता है और कथा के कार्य-व्यापार में शामिल है। अतः इसके माध्यम से कथा को 'नैरेट' करवाने से उसकी प्रामाणिकता और प्रभाव में वृद्धि हो जाती है। 'उग्र' ने इस तकनीक का सफल निर्वाह किया है।

प्रतिवृत्त शैली में दो विपरीत परिस्थितियों के माध्यम से कथानक के विकास की प्रविधि का इस्तेमाल चंद्रकिरण सौनरेक्सा की कहानी 'रुपया' में देखा जा सकता है। कहानी के पहले हिस्से में लेखिका ने पंडित हरिशंकर शुक्ल और उसके भतीजे मणिशंकर शुक्ल द्वारा कल्याणी (मणिशंकर की पत्नी) को घर से निकाल देने का प्रसंग रचा है। कल्याणी के पिता ब्राह्मण थे, लेकिन माँ नायन।

विवाह से पहले यह बात हरिशंकर और मणिशंकर को मालूम नहीं होती, लेकिन जब कुछ समय बाद यह बात मालूम पड़ती है तो वे कल्याणी को घर से निकाल देते हैं और मणिशंकर के दूसरे विवाह की तैयारी होने लगती है। यह एक परिस्थिति है जिसमें जातिवादी समाज का एक 'टिपिकल' व्यवहार दिखाई पड़ता है। कहानी के तीसरे और अंतिम हिस्से में लेखिका एक दूसरी परिस्थिति सृजित करती है जिसमें मणिशंकर के ताऊ हरिशंकर शुक्ल को मालूम होता है कि कल्याणी के मौसाजी ने बीमारी की हालत में अपनी संपत्ति कल्याणी के नाम कर दी है और संपत्ति भी करीब पचास हजार की। अब इस नई परिस्थिति में जातिवादी समाज का व्यवहार बदल जाता है और हरिशंकर कल्याणी को वापस लाने की बात करने लगता है। इन दो भिन्न परिस्थितियों के मुखामुखम में जातिवादी समाज की मौकादेखी प्रतिक्रिया को प्रतिवृत्तात्मक शैली में लेखिका ने सफलता से उभरा है। यह शैली रचना में एक तीव्र व्यंग्य (Satire) की सृष्टि करता है जिससे कथा का प्रभाव भी बहुत बढ़ जाता है।

इसी प्रतिवृत्त शैली का सफल प्रयोग निराला ने 'निरुपमा' उपन्यास में और भी व्यापक तौर पर किया है। उपन्यास का कथ्य अपने पूरे प्रभाव के साथ पाठक तक संप्रेषित हो सके तथा इसमें अपेक्षित तनाव की सृष्टि हो सके- इसके लिए निराला उपन्यास में दो प्रतिवृत्त रचते हैं- दो परस्पर विपरीत परिस्थियाँ। उपन्यास में पहली स्थिति है कुमार बाबू के विदेश जाकर लौटने के कारण ब्राह्मण बिरादरी द्वारा जाति-बहिष्कार की। पूरा ब्राह्मण समाज कुमार बाबू और उनके पूरे परिवार का जाति-बहिष्कार कर देता है, उन्हें गाँव के कुएँ से पानी तक नहीं लेने देता। कुमार बाबू के परिवार को प्रताड़ित करने का कोई उपाय ब्राह्मण समाज उठा नहीं रखता। नौबत यहाँ तक आ जाती है कि कुमार अपने परिवार को गाँव से लखनऊ शहर ले आता है। ब्राह्मण समाज कुमार के साथ यह सब इसलिए कर रहा है क्योंकि कुमार आर्थिक रूप से सम्पन्न नहीं है और उससे किसी का कोई हित-अहित नहीं जुड़ा है। यह एक स्थिति है जिसमें जातिवादी समाज का एक खास ढंग का-

कट्टर व्यवहार है, जहां जाति के नियमों का बड़ी ही कठोरता से पालन किया जाता है। निराला जाति के नियमों के खोखलेपन और जातिवादी समाज के मौकापरस्त व्यवहार के जरिए एक व्यंग्य की सृष्टि करना चाहते हैं। लिहाजा निराला पहली स्थिति का प्रतिवृत्त रचते हैं- दूसरी परिस्थिति। निराला उपन्यास के घटना प्रसंगों के जरिए ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं कि जाति-बहिष्कृत कुमार का विवाह उस गाँव की जमींदार निरुपमा से हो जाता है। अब गाँव वालों के लिए जाति के शास्त्रीय नियमों का पालन कर पाना आसान नहीं रह जाता। जिस जमींदार का खेत जोतते हैं, उसे बिरादरी-बाहर करने का साहस 'जातिवादी पुरोहितों' में भी नहीं है। कारण स्पष्ट है- जमींदार के साथ इनके आर्थिक हित-अहित जुड़े हुए हैं। अब इस नई बदली हुई परिस्थिति में जाति के शास्त्रीय नियमों की व्याख्या बदल जाती है- "पागल हो, राजा से कोई बैर करता है। अब वे दिन नहीं हैं। लखनऊ में कितने विलइतिहा हैं, उनके हाथ का पानी बंद है?"[16]

इस तरह प्रतिवृत्त शैली का बेहतर इस्तेमाल करते हुए निराला अपने उपन्यास की प्रभावोत्पादकता को बढ़ा देते हैं।

रेणु अपनी कहानियों में जाति के मुद्दे और पात्र की जाति का अद्‌भुत प्राविधिक इस्तेमाल कर लेते हैं। अपनी चर्चित कहानी 'पंचलाइट' का प्रारंभ रेणु इस प्रकार करते हैं-

"पिछले पंद्रह महीने से दंड-जुरमाने के पैसा जमा करके महतो टोली के पंचों ने पेट्रोमेक्स खरीदा है इस बार, रामनवमी के मेले में। गाँव में सब मिलाकर आठ पंचायतें हैं। हरेक जाति की अलग-अलग 'सभाचट्टी' है। सभी पंचायतों में दरी, जाजिम, सतरंजी और पेट्रोमेक्स हैं- पेट्रोमेक्स, जिस गाँववाले पंचलाइट कहते हैं।"[17]

कहानी के बिल्कुल पहले पैराग्राफ में ही रेणु परिदृश्यात्मक प्रविधि में कथा केन्द्र -गाँव- की जातिगत संरचना का स्पष्ट संकेत कर देते हैं। साथ ही महतो टोली द्वारा पंचलाइट की खरीद के जरिए पाठक को कथासूत्र भी पकड़ा देते हैं। इस तरह की 'पेशबंदी' में रेणु माहिर हैं। पहले पैराग्राफ से ही यह बात पाठक को समझ में आ जाती है कि कहानी 'पंचलाइट' के माध्यम से गाँव की जातिगत संरचना की तहों की पड़ताल करने वाली है। मतलब कहानी का 'विज़न' पहले पैराग्राफ में ही बहुत साफ कर दे रहे हैं रेणु।

कहानी के प्रारंभ में ही रेणु ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक जाति की अलग-अलग 'सभाचट्टी' है। पंचलाइट की खरीद महतो टोली वालों ने की है। अब रेणु को इस घटना पर गाँव की दूसरी जातियों की प्रतिक्रिया के जरिए ही कहानी को आगे बढ़ाना है। इसके लिए रेणु अलग-अलग जातियों के अवलोकन बिन्दु का इस्तेमाल करते हैं। फुटंगी झा के माध्यम से ब्राह्मणटोले का अवलोकन बिन्दु- "कितने में लालेटन खरीदा हुआ महतो?"[18] जवाब में महतो टोली का अवलोकन बिन्दु- "...देखते नहीं हैं, पंचलैट है! बामनटोली के लोग ऐसे ही ताब करते हैं। अपने घर की ढिबरी को भी बिजली-बत्ती कहेंगे और दूसरों के पंचलैट को लालटेन!"[19] इन दो अवलोकन बिन्दुओं की प्रतिक्रिया में कथा भी आगे बढ़ती है और कहानी का 'विजन' भी।

महतोटोली द्वारा 'पंचलाइट' की खरीद पर ब्राह्मणटोले की प्रतिक्रिया तो रेणु सीधे एक ब्राह्मण पात्र के जरिए ही प्रस्तुत कर देते हैं। लेकिन यही काम रेणु अन्य जातियों की प्रतिक्रिया प्रस्तुत करने के लिए नहीं करते। संभवतः शिल्प की एकरूपता से बचने के लिए। राजपूत टोली की प्रतिक्रिया महतो टोली के ही एक युवक के जरिए प्रस्तुत करवाते हैं-

"एक नौजवान ने आकर सूचना दी- राजपूतटोली के लोग हँसते-हँसते पागल हो रहे हैं। कहते हैं, कान पकड़कर पंचलैट के सामने पाँच बार उठो-बैठो, तुरंत जलने लगेगा।"[20]

इसी तरह अगला अवलोकन बिन्दु-

"एक बूढ़े ने आकर सूचना दी- रूदल साह बनिया भारी बतंगड़ आदमी है। कह रहा है, पंचलैट का पंपू जरा होशियारी से देना!"[21]

ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक प्रसंग में रेणु अवलोकन बिन्दुओं को बदल दे रहे हैं। इससे जहाँ एक ओर कथन शैली एकरूपता से बच गई है, वहीं कथ्य की विश्वसनीयता भी बढ़ गई है। एक ही पात्र या नैरेटर यदि तमाम जातियों की प्रतिक्रिया को प्रस्तुत करता तो शायद प्रभाव और विश्वसनीयता की दृष्टि से कहानी के शिल्प में वह कसाव पैदा नहीं हो पाता जो अवलोकन बिन्दुओं के लगातार बदलते रहने से पैदा हो सका है।

जाति का सवाल कई बार ऐसी कथावस्तु के भीतर भी दिखाई पड़ता है, जिसकी अभिव्यक्ति गैर यथार्थवादी शिल्प में हुई है। कहने का आशय यह कि जाति के सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का प्रयास एक गैर यथार्थवादी शिल्प के माध्यम से किया गया है। जाहिर है यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। गैर यथार्थवादी शिल्प की अपनी सीमाएँ हैं, जिनके भीतर सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति प्रायः बाधित होती है। गैर यथार्थवादी शिल्प कल्पना, रोमांच, संयोग आदि तकनीकों के सहारे कथा गढ़ने का काम करता है, जो स्वयं सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को बाधित करते हैं। हिंदी के प्रारंभिक उपन्यास और कहानियों के साथ यही समस्या है। हिंदी के शुरुआती उपन्यासों को देखें तो जहाँ 'देवरानी जेठानी की कहानी' वणिक समाज को केंद्र में रखकर लिखा गया है, वहीं 'भाग्यवती' ब्राह्मण परिवार और 'वामा शिक्षक' कायस्थ परिवार को केंद्र में रखता है। 'देवरानी

जेठानी की कहानी' के लेखक पंडित गौरीदत्त तो यह दावा भी करते हैं कि "इस पुस्तक में ठीक-ठीक वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है।"[22]

लेकिन उपर्युक्त तीनों ही उपन्यासों में जाति का सवाल एक जटिल सामाजिक यथार्थ के रूप में कहीं मौजूद नहीं है। इन उपन्यासों में पात्रों की जाति का उल्लेख तो है, लेकिन जाति के सामाजिक यथार्थ की कोई चर्चा नहीं है। इन पात्रों की व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताएँ ही प्रधान हैं, इनकी जाति की सामाजिक हैसियत का सवाल यहाँ महत्वपूर्ण नहीं है। इसका कारण है कि लेखक ने जिन जाति-विशेष की कथा उपस्थित की है, उन्हें सामाजिक जातिगत संरचना के संदर्भों से बिल्कुल काट दिया है। इन उपन्यासों के पात्र किसी जाति-विशेष के प्रतिनिधि पात्र के रूप में नहीं उभरते, बल्कि व्यक्ति चरित्र के रूप में उभरते हैं। जाति का सामाजिक यथार्थ पूरी जाति व्यवस्था के संदर्भ में किसी जाति-विशेष के प्रतिनिधि चरित्र के माध्यम से ही अभिव्यक्त हो सकता है, व्यक्ति चरित्र के माध्यम से नहीं। यह अकारण नहीं है कि गैर यथार्थवादी शिल्प जाति के सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति में सफल नहीं हो पाता। प्रो. मैनेजर पांडेय यथार्थवादी और गैर यथार्थवादी शिल्प का अंतर स्पष्ट करते हुए बिल्कुल ठीक लिखते हैं कि "अभिव्यक्ति की प्रातिनिधिक पद्धति का विकास उपन्यास की यथार्थवादी परंपरा में मिलता है।"[23]

गैर यथार्थवादी शिल्प की कुछ और भी सीमाएँ हैं। गैर यथार्थवादी शिल्प प्रायः अमूर्तन और भाववाद की ओर चला जाता है। यहाँ उपन्यास अथवा कहानी में कथा का स्वाभाविक विकास नहीं होता, बल्कि पूरी कथा लेखक के द्वारा 'नैरेट' कर दी जाती है। यथार्थवादी शिल्प में पात्र महत्वपूर्ण होते हैं, जो अपनी बात स्वयं बोलते हैं, कथा पात्रों के संवाद के माध्यम से आगे बढ़ती है, जबकि गैर यथार्थवादी शिल्प में लेखक की ओर से 'नैरेशन' ज्यादा होता है, पात्र कम लेखक ज्यादा बोलता है।

हिंदी के अधिकांश शुरुआती उपन्यास इसी ढंग के गैर यथार्थवादी शिल्प में रचे गए हैं। अवलोकन-बिंदुओं में परिवर्तन का अभाव भी गैर यथार्थवादी शिल्प की एक सीमा है, जिससे कथा का स्वाभाविक विकास तो बाधित होता ही है, साथ ही कथ्य की विश्वसनीयता भी प्रभावित होती है और एकरसता भी आ जाती है। भुनेश्वर मिश्र के उपन्यास 'बलवंत भूमिहार' के शिल्प की चर्चा इस संदर्भ में पहले ही की गई है।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि हिंदी के कथाकारों ने विभिन्न कथा-प्रविधियों का इस्तेमाल जाति के सामाजिक यथार्थ और समाज की जातिवादी मानसिकता को अभिव्यक्त करने के लिए सफलतापूर्वक किया है। जाहिर है इन प्रविधियों ने यथासंभव जाति के सवाल को पूरी संजीदगी और असरदार तरीके से साहित्य में अभिव्यक्त करने में कथाकारों की मदद की है। लेकिन एक सवाल पर थोड़ा ठहरकर विचार करने की जरूरत है। जैसा कि प्रायः कहा जाता है और लगभग तमाम बड़े आलोचकों और साहित्य-चिंतकों ने कहा है कि रचना के कथ्य और शिल्प में गहरा रिश्ता होता है। ऐसे में जाति के सवाल (कथ्य) और कथा के शिल्प में कोई सीधा संबंध दिखाई पड़ता है क्या? स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी कथा साहित्य से कोई ऐसा उदाहरण ढूँढा जा सकता है क्या जहाँ जाति के सवाल और कथा के शिल्प के इस अनिवार्य अंतःसंबंध को स्पष्टता से देखा जा सके? केवल एक बात जो इस संदर्भ में दिखाई पड़ती है, वह है रचना को यथार्थवादी रूप देने के लिए पात्रों की जातियों का उल्लेख और विभिन्न जातियों के अवलोकन-बिंदुओं का इस्तेमाल। यह प्रवृत्ति भी प्रायः प्रेमचंद और रेणु की रचनाओं में ही दिखाई पड़ती है। बाकी जाति के सवाल ने हिंदी के कथा-शिल्प को कोई बुनियादी तौर पर प्रभावित किया हो, ऐसा कम-से-कम आजादी के पहले की रचनाओं के आधार पर तो नहीं कहा जा सकता।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में दलित विमर्श के उभार (1980 के बाद) ने जाति के सवाल को बुनियादी तौर पर रचना के केंद्र में स्थापित किया। हालाँकि यहाँ जाति का सवाल अपने सीमित रूप में -सवर्ण बनाम दलित-शोषण के रूप में- ही सामने आया। तब भी इतना तो ज़रूर हुआ कि जाति का मुद्दा हिंदी साहित्य की परिधि से उठकर केंद्र में आ गया। इस विमर्श ने अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए हिंदी के कथा-शिल्प को अपनी जरूरतों के अनुरूप ढाला। दलित विमर्श ने रचना में अनुभूति की प्रमाणिकता और आत्मानुभूति को अत्यधिक महत्त्व दिया। इस कारण कहानी-उपन्यास में परिदृश्यात्मक प्रविधि के स्थान पर दृश्यात्मक प्रविधि के प्रयोग को बढ़ावा मिला। इसके अलावा अनुभूति को प्रामाणिक और स्वयं द्वारा भुक्त दिखाने के लिए रचना में आत्मकथात्मक शैली पर भी जोर दिया गया। यह अकारण नहीं है कि दलित विमर्श में सर्वाधिक जोर आत्मकथा पर है। यही आत्मकथात्मकता प्रायः दलित कहानियों-उपन्यासों और कविताओं तक में दिखाई पड़ती है। इस तरह दलित विमर्श ने जाति के सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए जिस विधा को सबसे उपयुक्त पाया, वह थी आत्मकथा। इसने हिंदी कथा साहित्य में भी आत्मकथा के शिल्प की ओर रुझान को बढ़ाया।

दलित रचनाकार को यह सहूलियत है कि वह अपनी रचना (कहानी-उपन्यास) में परिदृश्यात्मक प्रविधि का इस्तेमाल करते हुए 'नैरेटर' के रूप में भी यदि जातिवादी शोषण की अभिव्यक्ति करता है, तो वहाँ अनुभूति की प्रामाणिकता पर संदेश नहीं किया जा सकता। कारण कि लेखक स्वयं दलित है और उस जातिवादी शोषण का भोक्ता भी है। लेकिन गैर दलित रचनाकारों के पास यह सहूलियत नहीं है। गैर दलित रचनाकार यदि परिदृश्यात्मक तरीके से दलित जीवन या जातिवादी शोषण का चित्रण करता है तो वहाँ अनुभूति की प्रामाणिकता का सवाल खड़ा होता है, क्योंकि लेखक स्वयं उस अनुभूति का भोक्ता नहीं है। स्वानुभूति और अनुभूति की प्रामाणिकता ने

रचनाकार पर एक किस्म का दबाव बनाया। रचना को प्रामाणिक, विश्वसनीय और प्रभावशाली बनाने के लिए अनुभूति की प्रमाणिकता की समस्या को सुलझाना जरूरी था। इसका समाधान भी हिंदी के कथाकारों ने शिल्प और प्रविधि के स्तर पर निकालने का प्रयास किया।

अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यो बहुत गोपाल' भंगी जाति के शोषण और सामाजिक अनुभवों को केंद्र में रखकर लिखा गया है। अब चूँकि नागर जी स्वयं भंगी नहीं हैं और भंगियों के जीवन का आंतरिक और वास्तविक अनुभव उनके पास नहीं है, इसलिए यहाँ अनुभूति की प्रमाणिकता की समस्या खड़ी हो सकती है। इस समस्या के समाधान के लिए नागर जी 'नैरेटर' के रूप में अंशुधर शर्मा नाम के पात्र की सृष्टि करते हैं। गोपाल राय ने अमृतलाल नागर के शिल्प संबंधी इस प्रयोग की चर्चा करते हुए लिखा है- "अंशुधर शर्मा भी 'दलित' नहीं है, पर एक संवेदनशील लेखक होने के कारण उसमें भावानुप्रवेश की क्षमता है। उसके साथ ही वह दलित समाज का गंभीर अध्येता भी है। वह पहले विभिन्न मेहतर बस्तियों में स्त्री-पुरुषों से बाकायदा इंटरव्यू लेकर उनके रीति-रिवाजों, किंवदंतियों के रूप में प्रचलित इतिहास की परंपराओं और उनके वर्तमान जीवन की समस्याओं तथा सच्चाइयों को जानने की कोशिश करता है। इतना ही नहीं, वह भंगी बस्तियों के किसी निकटस्थ मकान में छिपकर उनके क्रियाकलाप देखता और उनकी मुक्त बातचीत सुनता है और इस प्रकार उनके अंतरंग जीवन को पहचानने की कोशिश करता है।"[24]

अंशुधर शर्मा को 'कथक' के रुप में स्थापित करने और फिर उससे इतना सबकुछ करवाने की जरूरत केवल और केवल अनुभूति की प्रमाणिकता को सुनिश्चित करने का ही प्रयास है। लेखक पर इस अनुभूति की प्रामाणिकता का दबाव इतना ज्यादा है कि वह इसके लिए और भी प्राविधिक प्रयोग करता है। उपन्यास की मुख्य पात्र श्रीमती निर्गुनियां जन्मना ब्राह्मण है, लेकिन परिस्थितियों के संघात में भंगी बन गई है। उपन्यास में भंगी समाज की कथा श्रीमती निर्गुनियां के साक्षात्कार,

डायरी और उसकी आत्मकथा के जरिए कही गई है। कारण वही है- अनुभूति की प्रामाणिकता को सुनिश्चित करना। यद्यपि निर्गुनियां जन्मना ब्राह्मण है, लेकिन वह पूरी तरह भंगी समाज का हिस्सा बन चुकी है, स्वयं भी भंगिन का ही जीवन जी रही है, इसलिए उसके अनुभव की प्रामाणिकता में संदेह की गुंजाइश नहीं है। इस तरह साक्षात्कार, डायरी, आत्मकथा आदि अनेक शिल्प-प्रविधियों का इस्तेमाल करते हुए लेखक अपनी रचना की विश्वसनीयता को सुनिश्चित करता है।

भाषा

जातिवाद एक व्यवहार है और भाषा व्यवहार का माध्यम। इसलिए ज़ाहिर है कि भाषा का भी अपना जातिवाद होगा। एक जाति के दूसरी जाति से संवाद या एक-दूसरे के बारे में विचार की भाषा के अध्ययन से इस भाषा के जातिवाद को समझा जा सकता है। हिंदी कथा साहित्य में आए विभिन्न जातियों के पात्रों के प्रसंग, उनके संवाद और उनके आपसी व्यवहार की भाषा का विश्लेषण करते हुए भाषा के जातिवाद या कहें जातिवाद की भाषा को देखा-परखा जा सकता है।

ऊँची जातिगत सामाजिक हैसियत से जैसे तथाकथित नीची जात वालों से गाली-गलौज की भाषा में बात-व्यवहार करने का अधिकार भी मिल जाता है। सभ्य तरीके से, सभ्य भाषा में बात कर लेने से जैसे उनकी हैसियस में बट्टा लग जाता है! भाषा का भी अपना जातिवादी आधार है। आप ऊँची जाति के हैं तो सबसे सम्मान पाने और दूसरों का अपमान करने का जन्मना अधिकार आपको मिल जाता है। ठीक इसी तरह ऊँची जाति के लोगों के प्रति सम्मान का भाव रखना नीची जाति वालों का कर्त्तव्य निर्धारित कर दिया गया है। अब जाहिर है कि अधिकार और कर्त्तव्य की भाषा में फर्क तो होगा! इसी अधिकार और कर्त्तव्य की खोल में भाषा का जातिवादी आधार निर्मित होता है।

बेनीपुरी जी की कहानी 'कहीं धूप, कहीं छाया' में पिछड़ी जाति का मखना माँ के बीमार होने के कारण जब जमींदार की बेटी के ब्याह में बेगार करने से मना करता है तो जमींदार के 'कारवार के एकमात्र कर्त्ताधर्त्ता मुंशी जी क्रोध से आग बबूला' होकर कहते हैं- ''पाँच सिपाही जाकर टाँग-टूँगकर उस हरामज़ादे को ले आओ...।''[25]

वृद्ध और अनुभवी रामधनी मुखिया मखना को समझा-बूझाकर ड्योढ़ी पर लाते हैं। "तुम वहाँ कुछ नहीं बोलना; जो हुक्म हो, चुपचाप मान लेना। मखना भी यह निश्चय करके आया था; किन्तु यहाँ तो कुछ दूसरा ही होना था।"[26]

इससे आगे का प्रसंग भाषा की दृष्टि से ध्यान देने लायक है-

"मुंशीजी ने मखना को देखते ही समझ लिया कि यह जरूर बदमाश होगा। रूखाई से पूछा- "हूँ, क्या तुम्हारा ही नाम मखना है?"

मखना ने सिर हिलाकर जवाब दिया। मुंशीजी बोले- "बोलता क्यों नहीं बे, क्या गूँगा है? क्या सचमुच तूने कहा था कि नहीं जाता?"

मखना ने स्वाभाविक स्वर में कहा- "जी हाँ।"

"जी हाँ!"- मुंशीजी का क्रोध ज्वालामुखी-सा एकाएक भड़क गया। बोलते गए- "जी हाँ कहता है? बदमाश, पाजी। क्यों तुमने ऐसा कहा?"

"सरकार, मैया बीमार...।"

"तेरी माँ की..."

बस, मुंशीजी ने एक ही साँस में कितनी ही गालियों की गोलियाँ दनादन बरसा दीं। वह सुनते ही सन्न हो गया।...उसने अपनी प्रज्ज्वलित आँखों को मुंशीजी की ओर करके कहा- "मुशीजी, कहे देता हूँ, गालियाँ मत बकिये..."

गलियाँ मत बकिये! बकूँगा, तो क्या होगा? बोल, बोल, बोल तेरी..."

मखना के कानों ने सुना उसकी माँ को न जाने क्या-क्या गन्दी गालियाँ दी जा रही हैं। उसका हृदय छलनी हो गया। उसके गरम मस्तिष्क में विचार शक्ति भाप बनकर उड़ सी गई। वह कहाँ है, यहाँ क्या हो सकता है- इन बातों के सोचने की बुद्धि ही उसमें न रह गई। वह पागल-सा हो उठा। बिजली-सा कड़ककर बोला- गालियाँ रोकिये; रोकिये, नहीं तो...''

''नहीं तो-नहीं तो-नहीं तो क्या...क्या होगा? बोल पाजी।'' यह कहते हुए स्वयं बाबू साहब अपने कमरे से निकले। ... कमरे से निकलकर बाज की तरह वह मखना की ओर झपटे। पैर में खड़ाऊँ थी। जाते ही उसके सिर पर तड़ातड़ मारने लगे।''[27]

उपर्युक्त प्रसंग और उसमें मुंशीजी, मखना और बाबू साहब के संवाद की भाषा पर ध्यान दें तो इस बात को समझा जा सकता है कि जातिगत उच्चता व्यक्ति को भाषा को बरतने का एक विशेषाधिकार दे देती है।

ऊँची जाति और नीची जाति के परस्पर व्यवहार की भाषा का बेहतरीन उदाहरण प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' में दिखाई पड़ता है। दुखी चमार पं. घासीराम के द्वार पर लकड़ी चीरते-चीरते थककर चिलम पीने के लिए पंडितजी से थोड़ी-सी आग माँगता है। इस प्रकरण में दुखी, पं.घासीराम और पंडिताइन के आपसी व्यवहार की भाषा से भाषा के जातिवाद और जातिवाद की भाषा को खूब बेहतर ढंग से समझा जा सकता है-

"(दुखी) पंडित जी के घर में बरौठे के द्वार पर खड़ा होकर बोला- मालिक, रचिके आग मिल जाए, तो चिलम पी लें।

X X X

पंडित- अरे वही ससुरा दुखिया चमार है। कहा है थोड़ी-सी लकड़ी चीर दे। आग तो है, दे दो।

पंडिताइन ने भँवें चढ़ा कर कहा- तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाए घर में चला आए। हिंदू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाए, नहीं तो इस लुआठे से मुँह झुलस दूंगी। आग माँगने चले हैं।"[28]

जातिवादी संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि ऊँची जाति का व्यक्ति यदि छोटी जाति के व्यक्ति के प्रति दया भी प्रदर्शित करे, तब भी वहाँ जातिसूचक गाली स्वाभाविक तौर पर निकलती है। इसका कारण है कि वह दया बहुत ही तात्कालिक और क्षणिक होती है, जबकि जातिवादी घृणा का संस्कार बहुत ही गहरा और पुराना। 'सद्गति' के दुखी को पंडिताइन इस तरह फेंककर आग देती है कि 'आग की बड़ी-सी चिंगारी दुखी के सिर पर पड़ गई'। दुखी के सिर पर आग पड़ जाने से पंडिताइन को उस पर दया आती है और वह पंडित जी से कहती है- "इस चमरवा को भी कुछ खाने को दे दो, बेचारा कब से काम कर रहा है। भूखा होगा।"[29] 'चमरवा' संबोधन जड़ और रूढ़ हो चुके जातिवादी संस्कार और इस संस्कार की भाषिक अभिव्यक्ति को स्पष्ट कर देता है। पंडिताइन के मन में उठा दया का भाव अतिशय भंगुर और क्षणिक था, इसे कहानी आगे स्पष्ट कर देती है। दुखी को खाना न मिलना था, न मिला!

प्रेमचंद की भाषा पात्र के सामाजिक ओहदे को बहुत बारीकी से स्पष्ट करती है। किसी पात्र के बारे में प्रेमचंद जिस भाषा में बात करते हैं, उससे कोई भी सावधान पाठक उस पात्र की सामाजिक हैसियत का पता पा सकता है। भाषा के प्रति यह सावधानी प्रेमचंद के यथार्थवादी रुझान को स्पष्ट करता है। अपनी अधिकांश रचनाओं में प्रेमचंद जब ऊँची जाति के पात्रों के संदर्भ में कोई बात करते हैं तो प्रायः आदरसूचक संज्ञा, क्रिया, विशेषण, आदि का प्रयोग करते हैं। दलित-

पिछड़ी जातियों के पात्रों के संदर्भ में ऐसा वे प्रायः नहीं करते। इसे प्रेमचंद की जातिवादी दृष्टि समझना मूर्खतापूर्ण भूल होगी। दरअसल यह भारतीय समाज का जातिवादी नजरिया है, जिसे अपनी भाषा के माध्यम से प्रेमचंद अभिव्यक्ति देते हैं। उदाहरण के तौर पर 'सद्गति' का एक प्रसंग द्रष्टव्य है- "आज वह (पंडित घासीराम) पूजन-गृह से निकले, तो देखा दुखी चमार घास का एक गट्ठा लिए बैठा है। दुखी उन्हें देखते ही उठ खड़ा हुआ और उन्हें साष्टांग दंडवत करके हाथ बाँधकर खड़ा हो गया। यह तेजस्वी मूर्ति देखकर उसका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया! कितनी दिव्य मूर्ति थी। छोटा-सा गोल-मटोल आदमी, चिकना सिर, फूले गाल, ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें। रोरी और चंदन देवताओं की प्रतिभा प्रदान कर रही थी। दुखी को देखकर श्रीमुख से बोले- आज कैसे चला रे दुखिया?"[30]

यह पूरा प्रकरण परिदृश्यात्मक प्रविधि में लिखा गया है। प्रेमचंद पूरी बात अपनी ओर से कह रहे हैं। मगर ध्यान दें तो मालूम पड़ता है कि दरअसल यह पूरा प्रसंग दुखी और पंडित घासीराम के अवलोकन बिंदुओं का इस्तेमाल करते हुए लिखा गया है। यह दरअसल दुखी का ही अवलोकन-बिंदु है, जिसमें पं. घासीराम अपनी पूरी दिव्यता के साथ प्रकट होते हैं। हाँ, भाषिक अभिव्यक्ति प्रेमचंद की है, जिसमें उन्होंने 'साष्टांग दंडवत', 'तेजस्वी मूर्ति', 'दिव्य मूर्ति', 'ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें' और 'श्रीमुख' जैसे तत्सम शब्दों और पदों का इस्तेमाल किया है। निश्चित रूप से इन शब्दों का इस्तेमाल दुखी अपनी ओर से नहीं कर सकता था। लेकिन पंडित जी के व्यक्तित्व का चमत्कारिक प्रभाव जिस रूप में दुखी पर पड़ता है, उसकी अभिव्यक्ति की भाषा यही हो सकती थी। भाव दुखी के हैं, भाषा प्रेमचंद की। ठीक इसी तरह दुखी के प्रति पं. घासीराम के अवलोकन-बिंदु से की गई भाषिक अभिव्यक्ति है- 'आज कैसे चला रहे दुखिया?' यहाँ तो भाव और भाषा दोनों पंडित

घासीराम के ही हैं। इस तरह प्रेमचंद भाषा की व्यंजकता और उसके खास ढंग के प्रयोग के जरिए जाति के सामाजिक यथार्थ की सटीक अभिव्यक्ति करते हैं।

यहीं पर थोड़ा ठहरकर प्रेमचंद की भाषा में मौजूद व्यंग्य पर भी विचार करने की जरूरत है। पंडित घासीराम की दिव्यता का वर्णन प्रेमचंद जिस भाषा में करते हैं, उसमें व्यंग्य की अद्‌भुत ताकत है। पंडित घासीराम के बारे में कही गई बातें- 'तेजस्वी मूर्ति', 'छोटा-सा गोल-मटोल आदमी', 'ब्रह्मतेज से प्रदीप्त आँखें', 'रोरी और चंदन देवताओं की प्रतिभा प्रदान कर रही थी', आदि में दुखी की भावनाएँ तो उपस्थित हैं ही, लेकिन साथ ही यहाँ प्रेमचंद स्वयं भी मौजूद हैं। दुखी के भीतर की भावनाएँ स्वयं की और पंडित घासीराम की सामाजिक हैसियत के अंतराल के कारण इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुई हैं, लेकिन प्रेमचंद की ओर से ये पंक्तियाँ गहरे सामाजिक व्यंग्य की शक्ल में उभरती हैं। इन पंक्तियों की द्विस्तरीयता को समझे बिना बात पूरी तरह संप्रेषित नहीं हो पाती। जातिवाद और जातिवाद के एजेंट पंडे-पुरोहितों पर ऐसे व्यंग्य प्रेमचंद की रचनाओं में कई जगहों पर मिलते हैं, जहाँ भाषा के सौंदर्य के भीतर से प्रेमचंद व्यक्ति और व्यवस्था की कुरूपता को उभारते हैं। भाषा का 'सौंदर्य' लेखक के अभिप्रेत- व्यक्ति और व्यवस्था की कुरूपता- को और भी तल्ख़ बना देता है और इस रूप में एक गहरे व्यंग्य की सृष्टि करता है।

लेखक की भाषा और रचना के रूप का लेखक की विचारधारा से गहरा संबंध होता है। प्रेमचंद जाति के सवाल पर और जाति के सामाजिक यथार्थ पर जैसी तल्खी और व्यंग से भरी हुई भाषा में अभिव्यक्ति करते हैं, वैसी भाषा हरिऔध के यहाँ नहीं मिलती। यद्यपि अपने उपन्यास 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में हरिऔध जाति की समस्या को उठाते हैं, लेकिन उसकी अपनी तमाम सीमाएँ हैं। हरिऔध ब्राह्मणत्व के श्रेष्ठता-बोध से उबर नहीं पाते, इसलिए उनकी भाषा जातिवादी व्यवस्था पर वैसा व्यंग्य नहीं रच पाती जैसा प्रेमचंद की भाषा रचती है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियों में

भाषा की वैसी तल्खी कुछ हद तक देखी जा सकती है। 'उग्र' जातिवाद और ब्राह्मण समाज की पोंगापंथी के कठोर आलोचक थे। अपनी आत्मकथा 'अपनी खबर' में भी उन्होंने ब्राह्मण समाज की भीतरी सच्चाई को सामने लाने का प्रयास किया है। जाति व्यवस्था के प्रति रचनाकार की दृष्टि की स्पष्टता से रचना की भाषा और उसका रूप दोनों बहुत हद तक प्रभावित होते हैं। प्रो. मैनेजर पांडेय ने अपनी किताब 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में 'उपन्यास का समाजशास्त्र' पर चर्चा करते हुए बिल्कुल सही लिखा है कि "यथार्थ के रूप और रचनाकार की चेतना के रूप से कला के रूप का गहरा संबंध होता है।"[31]

प्रो. मैनेजर पांडेय की उपर्युक्त बात को दलित साहित्य के संदर्भ में और ज़्यादा ठीक से समझा जा सकता है। दलित कहानियों एवं उपन्यासों की भाषा और उसके रूप पर ध्यान दें तो उस पर रचनाकार की चेतना तथा उसकी विश्व दृष्टि का गहरा प्रभाव बहुत साफ दिखाई पड़ता है। दलित कथा साहित्य की भाषा में जो आक्रोश है, जो तल्खी है, जातिवाद की जैसी निर्मम आलोचना है, उसका कारण दलित रचनाकारों की अपनी 'विश्वदृष्टि' या विचारधारा ही है, जिसका निर्माण जातिवादी समाज की यातनाओं के बीच हुआ है। दलित लेखन में आत्मकथात्मकता पर जो जोर है, उसका संबंध भी रचनाकार की विचारधारा से है। इस बात की चर्चा शिल्प वाले उप-अध्याय के अंतर्गत की गई है। बहरहाल!

व्यक्ति के मन में जड़ जमा कर बैठे जातिवादी संस्कार की भाषिक अभिव्यक्ति के उदाहरण चंद्रकिरण सौनरेक्सा की कहानियों में भी खूब हैं। 'सिर्फ नौ जमातें' कहानी में हीरा नाम का एक किरदार है, जो जाति का भंगी है। पढ़ने-लिखने में उसकी रुचि है। भंगी का काम करना उसे पसंद नहीं, लेकिन जातिवादी व्यवस्था में वह यह काम करने के लिए बाध्य है। जिस घर में हीरा सफाई

का काम करने जाता है, वहीं रसोइए का काम लालू कहार करता है। कहार जाति भी जाति व्यवस्था में कोई ऊँची जाति में नहीं गिनी जाती, लेकिन हाँ, उसकी स्थिति भंगियों से ऊपर है। यह भी अपने में एक प्रकार का श्रेष्ठता-बोध है। इसी श्रेष्ठता-बोध से ग्रस्त लालू कहार की भाषा जातिवादी पूर्वग्रह से भरी हुई है। उसकी भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है- "देख बे हीरा! जबान संभाल कर बोलियो! क्या समझता है तू अपने को? लल्ला बाबू की किलास में दाखिल होकर तू ठाकुर तो बनने से रहा। रहेगा भंगी का भंगी ही। देख लो बहू जी इस हिरबा की बातें। मार-मारकर साले की हड्डी-पसली एक कर दूँगा।"[32]

अपने से नीची जाति के हीरा के प्रति लालू कहार की भाषा घृणा, जातिवादी तिरस्कार और अपमान से भरी हुई है। यही असल में जातिवादी समाज का भाषिक संस्कार है, जहाँ अपने से नीची जातियों के प्रति हम अमानवीयता की हद तक जातिवादी पूर्वग्रह से ग्रस्त हैं। पूर्वग्रह और रोष ऊँची जातियों के प्रति नीची जातियों के मन में भी है, लेकिन उसकी भाषिक अभिव्यक्ति में कठिनाई है क्योंकि ऊँची जातियों के प्रति रोष की अभिव्यक्ति खतरों से खाली नहीं है।

भाषा के इस जातिवादी संस्कार को 'उग्र' की एक कहानी 'समाज के चरण' के आधार पर भी समझा जा सकता है। अछूत ज्ञानू द्वारा पंडित से अपने घर सत्यनारायण की कथा बाँचने का अनुरोध करने की भाषा और पंडित के जवाब की भाषा के जातिवादी संस्कार को समझने के लिहाज से यह प्रसंग द्रष्टव्य है-

"एक ब्राह्मण देवता के द्वार पर खड़े होकर ज्ञानू ने कहा- पंडित महाराज! हमारे यहाँ सत्यनारायण बाबा की कथा बाँच दीजिए।

श्वपच की यह हिम्मत? पंडितजी एकदम अग्निशर्मा-परशुराम-दुर्वासा-विश्वामित्र हो गए!

क्यों बे, आज अधिक पी गया है क्या? साले, ससुरे, पाजी, हरामजादे, चाण्डाल, दुष्ट, पतित, नारकी...।

पंडित जी के स्तोत्र-पाठ में बाधा देकर ज्ञानू ने कहा-

महाराज, हमने मनौती मानी थी। गुरु बाबा की आज्ञा हुई थी कि पुत्र होने पर कथा सुनाना और मंदिर में ले जाकर माथा टेकाना।"[33]

अछूत ज्ञानू के प्रति पंडित की धाराप्रवाह गालियों से भरी हुई भाषा और इतनी गालियाँ सुनने के बावजूद ज्ञानू के द्वारा सम्मानजनक भाषा के प्रयोग के पीछे क्या कोई जातिवादी संस्कार काम नहीं कर रहा? दरअसल पंडित की भाषा में अछूतों के प्रति जो नफरत, आक्रोश, अपमान, उपहास और दुत्कार है, वह सदियों के जातिवादी संस्कार की ही भाषिक अभिव्यक्ति है। इसी तरह ज्ञानू की भाषा में निहित सम्मान-भाव का कारण उसकी दीनता और अपनी जातिगत हीनता का गहरा बोध है।

हम जिस समाज में रहते हैं, हमारे सामाजिक व्यवहार उसी के अनुरूप होते हैं। भारतीय समाज की संरचना आमतौर पर जातिवादी संरचना है। जातिवादी समाज के भीतर हमारा सामाजिक व्यवहार भी बहुत हद तक जातिवाद के दायरे में ही होता है। हमने परंपरा के तौर पर बहुत सारे जातिवादी व्यवहारों को विरासत में पाया है। इन्हीं से हमारे सामाजिक संस्कार निर्मित हुए हैं। इन जातिवादी संस्कारों के कारण विभिन्न जातियों के प्रति हम कुछ पूर्वग्रहों से ग्रस्त रहते हैं। इसी संस्कार के कारण हमारे समाज ने कुछ जातियों के नामों को गालियों में तब्दील कर दिया है। यह निश्चय ही उन जातियों के प्रति घृणा और हीनता बोध के कारण हुआ है। जातिवादी समाज

के भीतर यह संस्कार व्यक्ति के ऊपर इस तरह हावी होते हैं कि मौके-बेमौके हमारी भाषा में इनकी अभिव्यक्ति होती रहती है। कई बार तो यह जान-बूझकर नीची जातियों के प्रति घृणा प्रदर्शित करने के लिए की जाती है और कई बार अनजाने में संस्कार वश भी होती रहती है। जाति विशेष को गाली की तरह प्रयोग करने का एक उदाहरण निराला के उपन्यास 'निरुपमा' में देखा जा सकता है। 'निरुपमा' उपन्यास का एक प्रसंग है, जिसमें निरु की ओर से गाँव वालों को दिए जाने वाले भोज की तैयारी हो रही है। इसी बीच जाति-बहिष्कृत ब्राह्मण कुमार बाबू का भाई रामचंद्र निरु से कुछ बातें करने के लिए उस जगह पर चला आता है, जहाँ भोज के लिए खाना पकाया जा रहा है। भोजन पकाने वाले सभी ब्राह्मण हैं। रामचंद्र ब्राह्मण तो है, लेकिन जाति-बहिष्कृत। ब्राह्मण समाज रामचंद्र को जिस भाषा में दुत्कारता है, वह देखने लायक है- "मर गया आकर, देखे हुए था जैसे, चमार कहीं का!"- एक वृद्धा ने बेलना उठाकर कहा- "जाता है या दूँ एक तानकर कनपटी पर?"[34]

जाति-विशेष को गाली बना देने के जातिवादी रवैये और उसकी भाषिक अभिव्यक्ति को निराला ने बिल्कुल ठीक-ठीक पकड़ा है।

यशपाल की कहानी 'मनु की लगाम' में भी भाषा के इस जातिवाद को देखा जा सकता है। कहानी का मुख्य पात्र देबू अपने यज्ञोपवित संस्कार के तीसरे दिन ही जनेऊ कान पर चढ़ाए बिना ही टट्टी चला गया। पूरे घर में इस बात को लेकर कोहराम मच गया। लोग तरह-तरह से प्रतिक्रिया देने लगे- ''राम-राम! छी-छी! '...यह क्या किया?' '... बड़ा पागल है।' '... बड़ा गन्दा है!' '... म्लेच्छ है!' इतना बड़ा लौंडा हो गया, पर जरा भी अक्ल नहीं! बिल्कुल चमार है!"[35]

कुछ जातियों के नामों को गलियों में तब्दील कर देना जातिवाद का अत्यंत ही बारीक पहलू है, जो भाषा-व्यवहार में प्रायः प्रकट होता रहता है। नीची जातियों के प्रति अपमान और घृणा का संस्कार जातिवादी समाज में प्रायः इतना गहरा होता है कि यह व्यक्ति के अवचेतन का हिस्सा हो जाता है। अवचेतन में बैठे हमारे संस्कार मौके-बेमौके और जाने-अनजाने भाषा के जरिए प्रकट होते रहते हैं। प्रत्यक्षतः जातिवाद से परहेज करने वाले लोग भी प्रायः भाषा के स्तर पर जातिवाद का शिकार हो जाते हैं, क्योंकि भाषा में बहुत कुछ ऐसा भी होता है, जो व्यक्ति के अवचेतन का हिस्सा होता है। भाषा के विश्लेषण से इस बात को समझा जा सकता है।

प्रेमचंद की कहानी 'मुक्तिमार्ग' में बुद्धू गड़ेरिए की भेड़ें जब झींगुर महतो के खेत के बीच से होकर जाती हैं तो झींगुर नाराज होकर बुद्धू से कहता है- "तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिए मैं अपने खेत क्यों कुचलवाऊँ। क्या मुझे कोई चूहड़-चमार समझ लिया है?"[36]

पिछड़ी जाति का झींगुर महतो अपनी सामाजिक हैसियत का रोब गाँठने के लिए दलितों की निम्न हैसियत के प्रति अपनी जातिवादी मानसिकता का इजहार करता है। जातिवादी समाज में इस तरह की अभिव्यक्ति रोजमर्रा के व्यवहार की भाषा का हिस्सा है।

जातिवादी समाज में हम किस तरह जातिवादी व्यवहार की ट्रेनिंग पाते हैं और कैसे यह जातिवाद हमारे व्यवहार और हमारी भाषा का अनिवार्य हिस्सा बन जाता है- इसका एक उदाहरण 'गोदान' में देखा जा सकता है। 'गोदान' में शुरुआती हिस्से में ही होरी की दोनों बेटियाँ सोना और रूपा आपस में 'विनोदमय विवाद' कर रही हैं, जिसमें वे एक-दूसरे को तरह-तरह से चिढ़ाती हैं। इस प्रकरण में होरी एक बात कहता है जिससे समाज में जाति-विशेष को लेकर बनने-चलने वाली कहावतों-किंवदंतियों का पता चलता है। होरी कहता है- "जैसे जौ को राजा कहते हैं, गेहूँ को चमार;

इसलिए न कि गेहूँ बड़े आदमी खाते हैं, जौ हम लोग खाते हैं।"[37] होरी द्वारा प्रयुक्त कहावत की सामाजिक निर्मिति स्पष्ट है। पिछड़ी जाति का किसान स्वयं को चमारों से 'एसोसिएट' नहीं करता, लेकिन इसके विपरीत बड़े आदमियों को चमारों से 'एसोसिएट' करके मजा लेता है। अब जब होरी की आठ साल की बेटी रूपा होरी के मुँह से यह बात सुनती है, तो उसकी बाल-बुद्धि भी इस बात को तुरंत समझ जाती है कि किसी को चमार कहकर उसका अपमान किया जा सकता है। ज़ाहिर है जातिवाद की यह ट्रेनिंग उसे उस समाज से भी मिलती रही है, जिसमें वह रह रही है। वह सोना (होरी की बड़ी बेटी)को चिढ़ाती है- "ए राम, सोना चमार- ए राम, सोना चमार।"[38]

आठ साल की बच्ची रूपा की भाषा में चला आ रहा भाषा का यह जातिवाद भारतीय समाज और सामाजिक संस्कारों में जातिवाद की गहरी जड़ों का पता देता है!

बीसवीं सदी में बहुत सारी दलित और पिछड़ी जातियाँ अपने सामाजिक अधिकारों के लिए ऊँची जातियों से संघर्ष कर रही थीं। इस संघर्ष ने बहुत सारे नारों को जन्म दिया। ऐसा ही एक नारा यशपाल की इस कहानी में भी आया है- ‘‘ब्राह्मण, ठाकुर, लाला, इनका मुँह हो काला!’’[39] इस तरह के नारे हमारे समाज का एक पूरा परिप्रेक्ष्य स्पष्ट करते हैं। इन नारों के जरिए भी समाज में जातिवाद के बदलते हुए स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है। ये नारे एक खास समय की उपज हैं, जो भारतीय समाज में जाति के बदलते समीकरण का संकेत करते हैं।

ग्रामीण समाज में प्रयोग किए जाने वाले कहावतों-मुहावरों में भी कई बार जाति के संदर्भ मौजूद होते हैं। इनके आधार पर भी ग्रामीण समाज में विभिन्न जातियों की स्थिति तथा समाज की जातिवादी संरचना और सोच को जाना-समझा जा सकता है। ‘देहाती दुनिया’ के पात्र आपसी बातचीत में ढेरों मुहावरों-कहावतों का प्रयोग करते हैं। उनमें से कई जातियों का संदर्भ लिए रहता

हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ प्रसंगों को देखा जा सकता है। पसुपत पाँड़े जब तीर्थयात्रा के बहाने अपना 'असली मकसद' गाँठ कर लौटे तो बाबू रामटहल सिंह की बुढ़िया माता को अपने अनुभव सुनाने लगे। बुढ़िया ने पाँड़े जी के भोजन-पानी की समस्या के बारे में पूछा तो पाँड़े जी ने एक कथा बनाकर बुढ़िया को सुना दिया- ''एक और दूसरा चेला भी तो था। उसने बड़ा सुख पहुँचाया। वह पाँच पीढ़ी का चेला भी तो है। सबसे बड़ी बात यह कि अपनी जाति का था, इसलिए बनी-बनाई रसोई मिल जाती थी। आपको तो मालूम ही है कि हमारी जाति में चूल्हे-चौके का कितना बखेड़ा है- 'तीन कनौजिया, तेरह चूल्हा'।''[40]

यही पाँड़े जी तीर्थयात्रा के दौरान खेदू कहार के बेटे सजीवन को तंत्र-मंत्र सिखाने का प्रलोभन देकर उसे अपना चेला बनाकर घूमघूम कर लोगों को ठगने का काम कर रहे थे। इस प्रसंग में शिवपूजन सहाय ने लिखा है- ''चेला बड़ा चलता-पुर्जा निकला! जहाँ-जहाँ गया, हर जगह बाबा का डंका पीट दिया। बाबा तो सिर्फ 'कोईरी के देवता' बने रहते, और चेला अपनी कथक्कड़ी से लोगों पर धाक जमाए रहता।''[41] यहाँ 'कोईरी के देवता' का विशेष जातिवादी संदर्भ है। इस मुहावरे के आधार पर कोइरी जाति का सामाजिक विश्लेषण किया जा सकता है। प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकान्त ने अपनी किताब 'बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम' में कोइरी जाति के बारे में लिखते हुए इस मुहावरे का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं- ''वैसे यह जाति स्वभाव से शांत और कठोर परिश्रमी मानी जाती है। बिहार में चुपचाप बैठने वाले व्यक्ति को कहा जाता है- 'का कोइरी के देवता जइसन बैठल बाड़'। चम्पारण की सर्वे सेटलमेण्ट रिपोर्ट में मि. स्टीवेंशन मूर ने इस जाति

को बिहारी कृषक समाज की रीढ़शक्ति, कुशल उद्यमी और शांत काश्तकार, सर्वश्रेष्ठ रैयत, बागवानी में निपुण, अथक परिश्रमी जैसे विशेषणों से संबोधित किया है।''[42]

ग्रामीण समाज में प्रायः जातियों की अपनी-अपनी कुछ खास विशेषताएं भी तय हो जाती हैं। गाँवों में कई ऐसी कहावतें सुनने को मिल जाती हैं जिनमें किसी जाति विशेष की विशेषताएं या पहचान बताई गई हो। इस तरह की कहावतों की निर्मिति का भी अपना समाजशास्त्र है। कहावतों का विश्लेषण करने पर यह आसानी से बताया जा सकता है कि इनकी उत्पत्ति या निर्मिति किस जाति या समुदाय के बीच हुई है। 'देहाती दुनिया' में पसुपत पाँड़े के साले तिवारीजी पाँड़े जी को ज्ञान देते हुए कहते हैं-

''कायथ खुस कुछ दिए-दिलाये, बाह्मन खूब खिआये।

धान- पान- पौधे पनिआये, राड़ जाति लतिआये।।''[43]

जैसे धान और पान के पौधे पानी पड़ते रहने पर हरे-भरे बने रहते हैं, वैसे ही कायस्थ कुछ देते-दिलाते रहने से प्रसन्न रहते हैं, ब्राह्मण खूब खिलाते-पिलाते रहने पर प्रसन्न रहते हैं और नीच जाति वाले 'लतियाते रहने' पर ठीक रहते हैं। ज़ाहिर है इस तरह का ब्रह्मज्ञान नीच जाति का कोई व्यक्ति नहीं दे सकता, 'तिवारीजी' ही दे सकते हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से 'तुलसी बाबा' की याद आ जाती है!

'गोदान' में पं. दातादीन भी इसी जातिवादी भाषा में शास्त्र-ज्ञान देते हैं- "मगर वह राँड़ धनिया तो मुझसे लड़ने पर उतारू हो गई। भाइयों का हिस्सा दबाकर हाथ में चार पैसे हो गए, तो

अब कुपंथ के सिवा और क्या सूझेगी? नीच जात, जहाँ पेट-भर रोटी खाई और टेढ़े चले, इसी से तो सासतरों में कहा है- नीच जात लतियाए अच्छा।"[44]

ऐसा ही एक और उदाहरण 'सद्गति' कहानी में पं. घासीराम की भाषा में भी मिल जाता है। पंडित जी दुखी चमार के लिए ऐसी ही कहावत का हवाला देते हैं- "इसी से कहा है कि नीच के घर में खाने को हुआ और उसकी आँख बदली।"[45]

अब एक बार फिर 'देहाती दुनिया' के तिवारीजी की कहावत की ओर लौटें। कायस्थ जाति के लोग प्रायः सरकारी नौकरियों में रहते आए हैं। सरकारी कामों में 'देने-लेने' की पुरानी रवायत है। ऐसे में 'कायथ खुस कुछ दिए-दिलाये' का सामाजिक-आर्थिक आधार स्पष्ट हो जाता है। शिवपूजन सहाय ने 'देहाती दुनिया' उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखी है। उपन्यास का 'नैरेटर' लेखक स्वयं है। शिवपूजन सहाय स्वयं जाति के कायस्थ थे। उन्होंने उपन्यास में एक जगह अपने पिता के संबंध में लिखा है- ''हमारी नानी उन्हें हरदम सिखलाया करती थी- भर पेट कमा लो, नहीं तो पछताओगे, कुछ हाथ न लगेगा। ... कायथ देवान ऐसा गँवार नहीं होता। कितने ही दरबारों के देवान देखते-ही-देखते राजा हो जाते हैं।''[46] नानी की बात भी कायस्थों की उसी विशिष्ट पहचान को पुष्ट करती है जिसकी चर्चा तिवारीजी ने अपने दोहे में की थी!

जाति-विशेष को लेकर प्रचलित कहावतों का एक और उदाहरण चंद्रकिरण सौनरेक्सा की कहानी 'रुपया' में दिखाई पड़ता है। पंडित हरिशंकर शुक्ल को जब यह बात मालूम पड़ती है कि उनके भतीजे मणिशंकर की पत्नी कल्याणी के पिता तो ब्राह्मण हैं, किन्तु उसकी माँ नायन है, तो अपने भतीजे को यह समझाते हैं कि वह अपनी पत्नी कल्याणी को छोड़ दे। इसके लिए पंडित

हरिशंकर शुक्ल नाई जाति के बारे में प्रचलित एक कहावत का सहारा लेते हैं- “अरे, पक्षियों में कौवा और आदमियों में नव्वा सबके कान काटते हैं- जात का असर कहीं जा सकता है?”[47]

किसी भाषा में विभिन्न जातियों को लेकर प्रचलित इन कहावतों-मुहावरों का भी अपना एक समाजशास्त्र है। भाषा के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के माध्यम से समाज की उस जातिवादी मानसिकता और पूर्वग्रह को उसकी पूरी सूक्ष्मता के साथ समझा जा सकता है।

संदर्भ

---

[1] गोपाल राय, उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ-143

[2] उपन्यास का उदय, ऑयन् वॉट, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1990, पृष्ठ-4

[3] मार्क्स-एंगेल्स: साहित्य तथा कला,मार्क्स-एंगेल्स, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981, पृष्ठ- 106

[4] प्रेमचंद, गोदान, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, 1996, पृष्ठ- 164

[5] प्रेमचंद, रंगभूमि, भारतीय ज्ञानपीठ, 2011, पृष्ठ-16

[6] प्रेमचंद, ठाकुर का कुआँ (कहानी), मानसरोवर-1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ- 126

[7] प्रेमचंद, घासवाली (कहानी), मानसरोवर-1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ- 272-273

[8] प्रेमचंद, सद्गति (कहानी), मानसरोवर-4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ-18

[9] वही, पृष्ठ-22

[10] प्रेमचंद, ब्रह्म का स्वाँग (कहानी), मानसरोवर-8, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ- 123

[11] पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र': श्रेष्ठ रचनाएँ-1, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012, पृष्ठ- 130

[12] वही, पृष्ठ-130

[13] वही, पृष्ठ-130

[14] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, अधूरी आज़ादी (कहानी), वे भेड़िए (कहानी संग्रह), झारीसन प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2012, पृष्ठ-122

[15] वही, पृष्ठ-126

[16] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', निरूपमा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2005 पृष्ठ-128

[17] फणीश्वरनाथ रेणु, संपूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ-182

[18] वही, पृष्ठ-182

[19] वही, पृष्ठ-182

[20] वही, पृष्ठ -184

[21] वही, पृष्ठ- 184

[22] hindisamay.com से उद्धृत

[23] मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2001, पृ. 234

[24] उपन्यास की संरचना, पृष्ठ-363

[25] रामवृक्ष बेनीपुरी रचना संचयन, सं.-मस्तराम कपूर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ-193

[26] वही, पृष्ठ- 193

[27] वही, पृष्ठ- 193-194

[28] सद्गति (कहानी), मानसरोवर-4, पृष्ठ-20

[29] वही, पृष्ठ-21

[30] वही, पृष्ठ-19

[31] मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ- 233

[32] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, सिर्फ नौ जमातें (कहानी), दूसरा बच्चा (कहानी संग्रह), इतिहास शोध संस्थान, दिल्ली, 2007, पृष्ठ-43

[33] पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र': श्रेष्ठ रचनाएँ-1, पृष्ठ-123-124

[34] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', निरूपमा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2005 पृष्ठ-76

[35] यशपाल, संपूर्ण कहानियाँ-2, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ- 209

[36] प्रेमचंद, मुक्तिमार्ग (कहानी), मानसरोवर-3, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2005, पृष्ठ- 192

[37] प्रेमचंद, गोदान, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, 1996, पृष्ठ-11

[38] वही, पृष्ठ-11

[39] यशपाल, संपूर्ण कहानियाँ-2, पृष्ठ- 212

[40] शिवपूजन सहाय, देहाती दुनिया, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ-130

[41] वही, पृष्ठ-106

[42] प्रसन्न कुमार चौधरी, श्रीकान्त, बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ-51

[43] देहाती दुनिया, पृष्ठ-153

[44] गोदान, पृष्ठ-99

[45] सद्गति (कहानी), मानसरोवर-4, पृष्ठ-23

[46] देहाती दुनिया, पृष्ठ-94

[47] चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, रुपया (कहानी), ए क्लास का कैदी (कहानी संग्रह), पराग प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ- 56

उपसंहार

उपसंहार

साहित्य के समाजशास्त्र की जिम्मेदारी है साहित्यिक कृति की सामाजिक अस्मिता की व्याख्या करना। हिन्दी साहित्य की सामाजिक अस्मिता के संदर्भ में यदि इस बात को समझा जाए तो जाति का सवाल सबसे अहम रूप में सामने आता है। हिन्दी साहित्य जिस समाज का उत्पाद है और हिन्दी साहित्य में जो समाज अभिव्यक्त होता रहा है, उस समाज को जाति के संदर्भ से काटकर समझना लगभग असंभव है। ऐसे में हिन्दी साहित्य की सामाजिक अस्मिता को समझने में जाति एक प्रस्थान बिंदु की तरह है। लेकिन हिन्दी साहित्य के समाजशास्त्र का जो रूप आज हमारे सामने मौजूद है, उसमें जाति के सवाल को गौण करके वर्ग के सवाल को महत्वपूर्ण मान लिया गया है। यह उचित नहीं है। इस संबंध में दो बातों को समझना और ध्यान में रखना जरूरी है। पहली बात तो यह कि किसी भी भाषा के साहित्य का समाजशास्त्र उस भाषा के साहित्य के अपने सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों को ध्यान में रखकर ही विकसित किया जाना चाहिए। दूसरी बात, हमें यह देखने की जरूरत है कि हिन्दी के साहित्यकारों ने भारतीय समाज के संदर्भ में जाति की पहचान को महत्वपूर्ण माना है या वर्ग की पहचान को। हिन्दी के अधिकांश साहित्यकारों की रचनाओं में जाति की पहचान बहुत साफ-साफ दिखाई देती है। ऐसा नहीं है कि हिन्दी साहित्य वर्ग की पहचान को पूरी तरह नकारता है, लेकिन इस बात को जरूर समझना चाहिए कि हिन्दी साहित्य में वर्ग की पहचान भी उसके जातिगत आधार के साथ ही होती है, जाति के बिना नहीं। इस मामले में हिन्दी के साहित्यकारों की दृष्टि आलोचकों की तुलना में ज्यादा साफ है।

हिन्दी का कथा साहित्य अपने प्रारंभिक दौर से ही सामाजिक पहचान के तौर पर जाति की भूमिका को स्वीकार करता रहा है। हिन्दी की शुरुआती कहानियों और उपन्यासों को भी देखें तो

वहाँ पात्रों की जातिगत पहचान बहुत साफ-साफ मौजूद है। पूरे हिन्दी कथा साहित्य में जाति का मुद्दा मोटे तौर पर दो तरीके से उपस्थित है। एक तो सामान्य ढंग से केवल पात्र की जाति का उल्लेख और दूसरे, जाति को एक सामाजिक समस्या के रूप में देखना। प्रेमचंद से पहले का कथा साहित्य जाति के यथार्थ को तो अभिव्यक्त करता है, लेकिन जाति और जातिवाद की एक सामाजिक समस्या के रूप में पहचान वहाँ नहीं होती। बल्कि प्रेमचंद से पहले के नवजागरणकालीन कई कथाकारों की रचनाएँ वर्ण-जाति व्यवस्था का समर्थन और औचित्य-स्थापन ही करती हुई दिखाई पड़ती हैं। जाति व्यवस्था की एक सामाजिक समस्या के रूप में साहित्य में अभिव्यक्ति कायदे से प्रेमचंद के साहित्य से ही होनी शुरू होती है। हिन्दी नवजागरण के दौर के लेखकों में प्रेमचंद से पहले जाति के सवाल पर इतने विस्तार और इतनी गंभीरता से किसी अन्य लेखक ने विचार नहीं किया।

हिन्दी नवजागरण के दौरान 1925 के बाद हिन्दी साहित्य में जाति का सवाल ज्यादा प्रमुखता से उठाया जाने लगा। इसके पीछे कुछ ऐतिहासिक कारण रहे हैं। भारतीय राजनीति में गाँधी और अंबेडकर इस समय तक महत्वपूर्ण हो चुके थे। गाँधी अछूतोद्धार का कार्यक्रम जोर-शोर से चला रहे थे। अंबेडकर दलितों के सामाजिक अधिकारों के लिए आंदोलन कर रहे थे। इसके अलावा आर्य समाज भी दलितोद्धार के कार्यक्रम चला रहा था। इन सबके बीच हिन्दी साहित्य में भी जाति का सवाल प्रमुखता से जगह पाने लगा। यह अकारण नहीं है कि उस दौर के हिन्दी कथा साहित्य में जाति का सवाल प्रायः गाँधीवाद और आर्यसमाजी आदर्शों के फ्रेम में व्याख्यायित हो रहा था। यह बात दिलचस्प है कि 1930 तक अंबेडकर के राजनीतिक रूप से स्थापित हो जाने और दलित सवालों पर उनके मजबूत और साफ स्टैंड के बावजूद आजादी से पहले के कथा साहित्य पर अंबेडकर का बहुत स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता। संभवतः गाँधी के जबरदस्त प्रभाव के कारण

हिन्दी के साहित्यकार अंबेडकर के महत्व को समझ नहीं सके। हालाँकि जाति के सवाल पर गाँधी के विचारों से उस दौर के कथाकारों की असहमतियाँ भी हैं, लेकिन गाँधीवाद के प्रति मोहग्रस्तता ज्यादा है। बहरहाल!

साहित्य के समाजशास्त्र के संबंध में जाति की भूमिका को केवल आजादी के पहले के कथा-साहित्य के संदर्भ में देखने से बात पूरी नहीं हो पाती। सवाल उठाया जा सकता है कि क्या आजादी के बाद के हिन्दी कथा साहित्य में भी जाति की पहचान प्रमुखता से मौजूद है या वर्ग की पहचान ने जाति को अप्रासंगिक बना दिया है? रामविलास जी तो प्रेमचंद के संदर्भ में ही जातिगत ऊँच-नीच के भाव को 'डूबता हुआ यथार्थ' और वर्गों के निर्माण को 'उगता हुआ यथार्थ' बता चुके थे। आगे चलकर भी रामविलास जी की इस लाईन पर ही हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य का समाजशास्त्र आगे बढ़ा। आजादी से पहले के हिन्दी कथा साहित्य में जाति के यथार्थ की उपस्थिति और उसकी अभिव्यक्ति को देखा जा चुका है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में जाति का यथार्थ किस रूप में मौजूद है? मौजूद है भी अथवा नहीं? इस बात की जाँच-पड़ताल करने की जरूरत है। इसके लिए स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में जाति के सवाल की मौजूदगी की तलाश और उसके स्वरूप की शिनाख्त ज़रूरी है। इससे इस बात को बेहतर ढंग से समझा जा सकेगा कि क्या आजादी के बाद के हिन्दी के कथाकारों के लिए जातिगत ऊँच-नीच का भाव 'डूबता हुआ यथार्थ' है, अथवा हिन्दी के कथाकार जाति के यथार्थ को और जटिल होते हुए यथार्थ के रूप में देखते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य का परिदृश्य अत्यंत व्यापक है। सत्तर वर्षों के लंबे समय में हिंदी कथा साहित्य ने लंबी यात्रा की है। इस लंबे दौर में हिंदी कथा साहित्य के क्षेत्र में कई छोटे-बड़े आंदोलन भी होते रहे और इन सबके बीच हिंदी कथा साहित्य विकसित और समृद्ध होता रहा। हिंदी कथा साहित्य अपने प्रारंभिक दौर से, खासकर प्रेमचंद के दौर से ही यथार्थवाद का आग्रही रहा है। यथार्थवाद के इस आग्रह ने हिंदी कथा साहित्य को भारतीय समाज से जोड़े रखा तथा इसे वायवीय होने से बचाया भी। हाँ यथार्थ के स्वरूप में परिवर्तन लगातार होता रहा और साथ ही

यथार्थ को ग्रहण करने की शैली भी बदलती रही। इसने समय-समय पर हिंदी कथा साहित्य में ताजगी ही पैदा किया।

जाति का सवाल भारतीय समाज का एक जीवंत और अत्यंत महत्वपूर्ण सवाल रहा है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य भी इस सवाल से बराबर बाबस्ता रहा है। बीच-बीच में ऐसे दौर भी आए जब जाति का सवाल गौण हो गया। विशेषकर नई कहानी के दौर में शहरी जीवन, अस्तित्ववाद, मध्यवर्गीय कुंठाओं, व्यक्तिवाद आदि के दबाव में जाति के प्रश्न की ओर कहानीकारों का ध्यान कम गया। फिर भी उस दौर की ग्रामांचल की कहानियों में जाति के मुद्दे को बहुत संजीदगी के साथ उठाया गया। रेणु और मार्कंडेय इसके महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

आजादी के बाद के कहानीकारों में फणीश्वरनाथ रेणु अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, जिनकी कहानियाँ जाति के सवाल से, अपने खास अंदाज में, लगातार जुड़ी रहती हैं। 'पंचलाइट' रेणु की अत्यंत चर्चित और बहुपठित कहानी है। इस छोटी-सी कहानी में ग्रामीण समाज में विभिन्न जातियों की आपसी नोंक-झोंक को रेणु ने बहुत-ही बारीकी से पकड़ा है और बहुत-ही दिलचस्प अंदाज में उसे कहानी में पिरोया है। यहाँ ग्रामीण समाज का जातिवादी यथार्थ बड़ी ही सहजता से अभिव्यक्त होता है। कहानी की शुरूआत में ही रेणु बताते हैं कि 'महतो टोली के पंचों ने पेट्रोमेक्स खरीदा है इस बार। रामनवमी के मेले में।'[1] आगे रेणु फिर सूचना देते हैं- "गाँव में सब मिलाकर आठ पंचायतें हैं। हरेक जाति की अलग-अलग 'सभाचट्टी' है।"[2] ये सभाचट्टी जाति के मान-अपमान को लेकर बहुत संवेदनशील हैं। पेट्रोमेक्स, जिसे गाँववाले पंचलाइट कहते हैं, का खरीदा जाना भी इसी मान-अपमान के सवाल से जुड़ा है। अकेले महतो टोली की सभाचट्टी में पंचलाइट नहीं थी। आज महतो टोली के पंचों ने भी पंचलाइट खरीद ली। निस्संदेह यह महतो टोली के लिए आनंद और उत्साह का अवसर है। रेणु ने टोले के 'औरत-मर्द, बूढ़े-बच्चे' सभी के उत्साह की अभिव्यक्ति भी की है। लेकिन इस मौके पर जहाँ महतो टोली के लोग उत्साहित हैं, वहीं दूसरी जातियों के टोले वाले इनके

उत्साह को कम करने और इनका मजा लेने में कसर नहीं छोड़ते। यहाँ गाँव के समाज में ऊँची और पिछड़ी जातियों के सामाजिक समीकरण को भी देखा-समझा जा सकता है। अभी महतो टोली वाले पंचलाइट लेकर आ ही रहे थे कि गाँव के बाहर ही ब्राह्मण टोले के फुटंगी झा ने टोक दिया- "कितने में लालटेन खरीद हुआ महतो?"[3] महतो टोली (पिछड़ी जाति) वाले पंचलाइट खरीद कर ब्राह्मणों की बराबरी करने चले हैं! -इसी खीझ की प्रतिक्रिया है फुटंगी झा का यह सवाल। फिर फुटंगी झा के सवाल का जो जवाब महतो टोली की ओर से दिया गया, वह भी बड़ा व्यंजक है। जातिवादी समाज के नोंक-झोंक भरे सह-अस्तित्व को समझने का एक बेहतरीन उदाहरण है यह। महतो टोली की ओर से फुटंगी झा को जवाब मिला- "देखते नहीं हैं, पंचलैट है! बामनटोली के लोग ऐसे ही ताब करते हैं। अपने घर की ढिबरी को भी बिजली-बत्ती कहेंगे और दूसरों के पंचलैट को लालटेन!"[4] जातिवादी समाज का यथार्थ ऐसी सहजता और सरलता के साथ बहुत कम कथाकारों के यहाँ अभिव्यक्त हुआ है।

महतो टोली पंचलाइट पाकर उत्साहित है, लेकिन मुश्किल यह है कि कोई उसे जलाना नहीं जानता। पहली बार ऐसी कल-कब्जे वाली चीज से साबका पड़ा है! फिर यहाँ ऊँची जातवालों को मजा लेने का मौका मिल जाता है। कहानी का एक प्रसंग है-

"एक नौजवान ने आकर सूचना दी- "राजपूतटोली के लोग हँसते-हँसते पागल हो रहे हैं। कहते हैं, कान पकड़कर पंचलैट के सामने पाँच बार उठो-बैठो, तुरन्त जलने लगेगा।"[5]

खैर, बहुत सोच-विचार और खोजबीन के बाद मालूम होता है कि गोधन को आता है पंचलाइट बालना। वही गोधन जो गुलरी काकी की बेटी मुनरी को देखकर 'सलीमा का गाना' गाता था और इसी अपराध में महतो टोली में उसका हुक्का-पानी बंद था। पंचों ने तय किया कि जाति की इज्जत जाति की बंदिश से बड़ी चीज है। गोधन को मुक्त कर दिया गया। बहुत कुछ जुगाड़ लगाकर गोधन ने पंचलाइट जला ही दिया। पूरी टोली गोधन की अहसानमंद हो गयी। पंचों के

सरदार ने गोधन से कहा- "तुमने जाति की इज्जत रखी है। तुम्हारा सात खून माफ। खूब गाओ सलीमा का गाना।"[6] सचमुच गोधन ने महतो टोली की इज्जत रख ली थी। नहीं तो ब्राह्मण-राजपूत टोली वाले तो इनका जीना मुहाल कर देते, पूरे गाँव में महतो टोली की हँसी होती। यह किसी एक आदमी की इज्जत का सवाल नहीं था, पूरी महतो टोली की इज्जत का सवाल था!

रेणु की खासियत यह है कि वे जातिवादी तनाव को हँसी-ठिठोली में 'डायल्यूट' कर देते हैं। रेणु की कहानियों में कई जगहों पर सीधे-सीधे या सांकेतिक रूप से जातिवादी शोषण-उत्पीड़न के प्रसंग आते हैं, लेकिन रेणु इस तरह के प्रसंगों के आधार पर प्रायः अपनी कहानियों में किसी तनाव की सृष्टि नहीं करते, बल्कि ऐसे प्रसंगों के बीच भी 'जीवन के सौरभ' की सृष्टि करके माहौल को हल्का और रोचक बना देते हैं। 'रसप्रिया' कहानी का पँचकौड़ी मिरदंगिया किसी भी अनजाने लड़के को बेटा कहते डरता है, क्या पता कौन ब्राह्मण का बच्चा निकल जाए और बेचारे मिरदंगिया की शामत आ जाए! 'अपरूप-रूप' वाले मोहना को देखकर भी वह इसी डर के मारे उसे बेटा कहते-कहते रुक जाता है...कहीं ब्राह्मण का बच्चा न हो! इस डर का कारण बताते हुए रेणु लिखते हैं- "...परमानपुर में उस बार एक ब्राह्मण के लड़के को उसने प्यार से 'बेटा' कह दिया था। सारे गाँव के लड़कों ने उसे घेरकर मारपीट की तैयारी की थी- "बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा? मारो साले बुड्ढे को घेरकर! ...मृदंग फोड़ दो।"[7] गजब की 'सोशल इंजिनीयरिंग' होती है जातिवादी समाज की! बच्चे भी अपनी पैदाइशी जातिवादी दबंगई के अधिकार के प्रति कितने सचेत हैं! यह जातिवादी समाज का यथार्थ है। इस यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई, रेणु का काम हो गया। अब वे इस प्रसंग को और आगे खींचकर कहानी में कोई तनाव सृजित नहीं करते। तुरंत इस तनाव को 'डायल्यूट' करते हैं-

“मिरदंगिया ने हँसकर कहा था, “अच्छा, इस बार माफ कर दो सरकार! अब से आप लोगों को बाप ही कहूँगा।”

“बच्चे खुश हो गये थे। एक दो-ढाई साल के नंगे बालक की ठुड्डी पकड़कर वह बोला था, “क्यों, ठीक है न बापजी?”

“बच्चे ठठाकर हँस पड़े थे।”[8]

‘रसप्रिया’ कहानी के इस प्रसंग से पाठक तक जातिवादी समाज का यथार्थ संप्रेषित हो जाता है, बिना किसी तनाव के। रेणु दरअसल हमेशा इस बात के प्रति सचेत हैं कि समाज में तमाम प्रकार के शोषण-उत्पीड़न-अन्याय के बावजूद जीवन का राग निरंतर बजता है। रेणु इसी राग को पकड़ते हैं अपनी कहानियों में। और, यहीं रेणु प्रेमचंद से भिन्न ठहरते हैं। रेणु की कहानियों में जातिवादी शोषण और संघर्ष का वह रूप नहीं मिलता जो प्रेमचंद की कहानियों में मिलता है। यहाँ अगड़ी-पिछड़ी जातियों की आपसी नोंक-झोंक ज्यादा है, उस तरह का संघर्ष नहीं है। प्रेमचंद जब जातिवादी शोषण की कहानी लिखते हैं, तो वहाँ शोषण का पूरा तनाव कहानी में झलकता है। वहाँ शोषक और शोषित की साफ-साफ तस्वीरें उभर जाती हैं, पात्र एकदम ‘ब्लैक एंड व्हाइट’ में दिखाई पड़ने लगते हैं। रेणु की कहानियों में प्रायः परिस्थितियाँ और पात्र इस प्रकार ‘ब्लैक एंड व्हाइट’ में दिखाई नहीं पड़ते। वहाँ हमेशा जीवन अपने विविधवर्णी रूप में मौजूद है, मुस्कुराता हुआ। रेणु का लक्ष्य है ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक संपन्नता को उभारना। ग्रामीण समाज में जातिवादी आग्रह और द्वेष मौजूद हैं, लेकिन उन सब के बीच जीवन के प्रति एक गहरी रागात्मक संपृक्ति का भाव ज्यादा प्रबल है। जैसे ही जीवन के ‘पेंच-ओ-ख़म’ सुलझते हैं, जीवन का राग बज उठता है- बड़ी ही सहजता से, बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के। यह रेणु का अपना खास स्टाइल है, अंदाज़े बयाँ है।

अपने पहले उपन्यास 'मैला आँचल' (1954) में भी रेणु जाति के सवाल को पूरी संजीदगी के साथ उठाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत का गाँव अपने मुकम्मल अर्थों में यहाँ अभिव्यक्ति पाता है। रेणु ने आजादी से दो-तीन वर्ष पहले से लेकर आजादी के करीब एक वर्ष बाद तक के समय को कथा में उपस्थित किया है। यानी रेणु ने पराधीनता और स्वतंत्रता के संक्रमण के दौर के भारत के यथार्थ को पकड़ने का प्रयास किया है और निश्चय ही वे इसमें सफल भी रहे हैं। उपन्यासकार ने बिहार के एक पिछड़े गाँव को 'मेरीगंज' के रूप में कथा का केंद्र बनाया है, जो उत्तर भारत के तमाम पिछड़े गाँवों का प्रतीक है।

उत्तर भारतीय गाँवों के सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए जाति की संरचना को बारीकी से समझना अनिवार्य है। रेणु इस बात को बखूबी समझते हैं। यह अकारण नहीं है कि उपन्यास के पहले भाग के दूसरे अध्याय में ही रेणु मेरीगंज की सामाजिक-जातिगत संरचना और जातिवादी समीकरणों को स्पष्ट कर देते हैं। मेरीगंज की सामाजिक संरचना का परिचय रेणु इन शब्दों में प्रारंभ करते हैं- "मेरीगंज एक बड़ा गाँव है; बारहो बरन के लोग रहते हैं।"[9] बारहों बरन के लोगों के रहने के बावजूद गाँव में तीन मुख्य जातियों के अलग-अलग दल हैं, जो गाँव के सामाजिक जीवन में प्रभावशाली भूमिका में हैं। रेणु आगे लिखते हैं- "अब गाँव में तीन प्रमुख दल हैं, कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्हीं तीनों दलों में बँटे हुए हैं।"[10]

'मैला आँचल' में पिछड़ी जातियों के राजनीतिक उभार और सामाजिक अधिकारों के लिए उनके आंदोलनों का साफ असर दिखाई पड़ता है। मेरीगंज में कायस्थों, राजपूतों के अलावा यादवों का दल काफी प्रभावशाली है। मेरीगंज के दो प्रमुख राजनीतिक कार्यकर्त्ता बालदेव (कांग्रेसी) और कालीचरण (सोशलिस्ट) दोनों यादव हैं। उपन्यासकार सचेत रूप से यह दिखाता है कि पिछड़ी जातियाँ अपने जाति नाम के साथ क्षत्रिय जोड़कर अपनी पहचान बनाना चाहती हैं। उपन्यास में यदुवंशी क्षत्रिय, कुशवाहा क्षत्रिय, कुर्म छत्री, धनुकधारी छत्री, आदि जाति नामों का प्रयोग कई

बार हुआ है। पिछड़ी जातियों द्वारा जनेऊ धारण करने और अपने जातिनाम के साथ क्षत्रिय जोड़ने का आंदोलन उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक से ही प्रारंभ हो गया था और इसके खिलाफ ऊँची जातियों का सामूहिक हिंसक प्रतिरोध भी चला आ रहा था। इस जनेऊ आंदोलन का केंद्र भी बिहार ही था। इस आंदोलन के खिलाफ ऊँची जातियों की सामूहिक हिंसा की सबसे बड़ी वारदात 26 मई, 1925 की लाखोचक की घटना है।[11] इसके बाद इस तरह की सामूहिक हिंसा की वारदातें थम गईं। लेकिन पिछड़ों के जनेऊ धारण करने और जातिनाम के साथ क्षत्रिय जोड़ने के खिलाफ अगड़ी जातियों का असंतोष और उनकी चिढ़ यथावत बनी रही। 'मैला आँचल' के पहले भाग के दूसरे अध्याय में ही इस असंतोष को रेणु ने अभिव्यक्त किया है- "जनेऊ लेने के बाद भी राजपूतों ने यदुवंशी क्षत्रिय को मान्यता नहीं दी। इसके विपरीत समय-समय पर यदुवंशियों के क्षत्रियत्व को वे व्यंग्य विद्रूप के बाणों से उभारते रहे।"[12]

पिछड़ी जातियों के खिलाफ ब्राह्मण टोली के बूढ़े ज्योतिष जी का असंतोष इन शब्दों में फूटता है- "यह राजपूतों के चुप रहने का फल है कि आज चारों ओर, हर जाति के लोग गले में जनेऊ लटकाए फिर रहे हैं।- भूमफोड़ क्षत्री तो कभी नहीं सुना था...। शिव हो! शिव हो!"[13]

पिछड़ी जातियों के राजनीतिक उभार से ऊँची जातियों में व्याप्त 'फ्रस्ट्रेशन' का एक और प्रसंग 'मैला आँचल' में आता है, जब हरगौरी सिंह (राजपूत) बालदेव जी की राजनीतिक सक्रियता का मजाक उड़ाता है- "आप तो लीडर ही हो गए। तो आजकल कांग्रेस आफिस का चौका-बर्तन कौन करता है...। अरे भाई, सभी काशी चले जाओगे? पत्तल चाटने के लिए भी तो कुछ लोग रह जाओ। जेल क्या गए, पंडित जमाहिरलाल हो गए। कांग्रेस आफिस में भोलटियरी करते थे, अब अंधों में काना बनकर यहाँ लीडरी छाँटने आया है। स्वयंसेवक न घोड़ा का दुम!"[14] हरगौरी की चिढ़ और उसका गुस्सा उसे हिंसक बना देता है और वह बालदेव जी को मारने के लिए दौड़ पड़ता है। इस गुस्से और 'फ्रस्ट्रेशन' का कारण एक ही है- 'ग्वाला होकर लीडरी!'

भारतीय लोकतंत्र ने जातिवादी शोषण की प्रक्रिया को शिथिल किया है। हरेक व्यक्ति के राजनीतिक अधिकारों को सुनिश्चित करके लोकतंत्र ने जातिवादी वर्चस्व को तोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आजाद हिंदुस्तान की राजनीति में अगड़ी-पिछड़ी जातियों के बदलते समीकरण के अध्ययन-विश्लेषण से यह बात साफ ज़ाहिर होती है। दलित-पिछड़ी जातियों के सशक्तिकरण की प्रक्रिया में लोकतंत्र की बड़ी भूमिका रही है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया ने ही तमाम दलित-पिछड़ी जातियों में आत्मसम्मान की भावना पैदा की और इन्हें सामाजिक-राजनीतिक चेतना से संपन्न बनाया। अगड़ी जातियों की निरंकुशता और सामंतशाही पर भी कुछ लगाम कसा। 'मैला आँचल' में यादवों के प्रति राजपूत टोली और ब्राह्मणों के असंतोष को हम देख चुके हैं। लोकतंत्र और इसके भीतर पिछड़ी जातियों द्वारा अपने राजनीतिक वर्चस्व के लिए चले आंदोलनों ने इतना तो किया ही कि "यादव क्षत्रियटोली को अब 'गुअरटोली' कहने की हिम्मत कोई नहीं करता।"[15]

आजादी के बाद के कहानिकारों में मार्कण्डेय उन कहानीकारों में से हैं, जिन्होंने गाँव और कस्बे को हिन्दी कहानी के परिदृश्य से गायब होने से बचाए रखा। मार्कण्डेय की अधिकांश कहानियाँ गाँव-कस्बे की ही कहानी है। उनकी कहानियों में जाति के जो पक्ष उभर कर सामने आए है, उसका एक बड़ा कारण इन कहानियों का ग्रामीण परिवेश है। आजादी के बाद नई कहानी के दौर में प्रायः शहरी मध्यवर्ग कहानी के केन्द्र में आ गया। वहाँ की समस्याएँ, जीवन शैली आदि अलग ढंग की हैं। हलाँकि जाति की मौजूदगी शहरी मध्यवर्गीय समाज में भी है, लेकिन ग्रामीण समाज की संरचना में जाति जिस तरह एक 'विजिवल आइडेंटिटी' है, उस तरह शहरी मध्यवर्गीय समाज में नहीं। यह अकारण नहीं है कि 'नई कहानी' या उसके बाद की भी हिन्दी कहानी (दलित विमर्श के उभार से पहले) में जाति का प्रश्न कोई बहुत गंभीर मुद्दा नहीं बन पाता।

मार्कण्डेय की कहानियों के पात्र भी प्रायः अपनी जातिगत पहचान के साथ ही उपस्थित होते हैं। मार्कण्डेय की कहानियों में गाँव की पारंपरिक जातिवादी संरचना को बखूबी देखा-पहचाना जा सकता है। ऊँची जातियों के दबदबे को मार्कण्डेय अपनी अधिकांश कहानियों में प्रकट करते हैं।

गुलरा के बाबा, 'हंसा जाई अकेला' कहानी के बाबा और 'बीच के लोग' कहानी के फउदी दादा के रूप में मार्कण्डेय ने ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो ऊँची जाति (तीनों ठाकुर) के होने के बावजूद गाँव के दलितों-पिछड़ों के प्रति सहानुभूति का रूख रखते हैं। यद्यपि बराबरी का भाव तो यहाँ भी संभव नहीं हुआ है। लेकिन ये तीनों पात्र पुरानी पीढ़ी के लोग हैं। इन्हीं की नई पीढ़ी में दलितों-पिछड़ों के प्रति यह सहानुभूति भी नहीं है, है तो बस जातिवादी कट्टरता और दबंगई। 'गुलरा के बाबा' कहानी में ही नई पीढ़ी का देवी सिंह चैतू अहीर के प्रति जातीय विद्वेष से भरा हुआ है। उसका एक कथन द्रष्टव्य है-

"अरे गरूर का नतीजा यही होता है। कट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुरों का! अब इन कमीनों की हिम्मत इतनी हो गयी?"[16]

एक अन्य कहानी 'बातचीत' में भी ठाकुरों की दबंगई का उल्लेख मार्कण्डेय एक पात्र के संवाद के जरिए करते हैं- "गयादीन को तो जानते ही हो; दूसरे की बहू-बेटियों पर निगाह रखना, रात को खेत कटवा लेना, खरिहान फुँकवा देना; इसी में तो इनकी ठकुरी है।"[17]

ठाकुरों द्वारा पिछड़ो-दलितों के खेत कटवा लेने या तहस-नहस कर देने का प्रसंग 'बीच के लोग' कहानी में भी आता है जब हरिदयाल ठाकुर अपने साथियों के साथ मिलकर बुझावन (दलित) के खेत का सारा आलू खोद डालता है और उसकी खेत चौपट कर देता है।

सरकारी तंत्र और पुलिस-प्रशासन में ऊँची जाति के लोगों की पहुँच और दबदबे को मार्कण्डेय अपनी कहानी 'दौने की पत्तियाँ' में स्पष्ट करते हैं। आजादी के तुरंत बाद ग्रामीण विकास

के लिए सरकारी योजनाओं के तहत गाँव में सिंचाई की सुविधा के लिए नहर निकाला जाना है नहर के रास्ते में गाँव के तिवारी जी की ज़मीन पड़ जाती है। लेकिन तिवारी जी असर-रसूख वाले ठहरे, उन्होंने सबकुछ मैनेज कर लिया। तिवारी का खेत तो साफ बच जाता है, लेकिन गाज गिरती है 'नीच जात' के बेचारे भोला पर। गाँव की जिस वीरान, भुतही जमीन को अपनी हाड़तोड़ मेहनत से हरा-भरा बना कर भोला ने 'गाँव की दुलहन' बना दिया था, वह पूरी ज़मीन (केवल एक बीघा) नहर के लिए चली जाती है। तिवारी और भोला के साथ सरकारी तंत्र और प्रशासन का अलग-अलग रवैया केवल दो अलग-अलग व्यक्तियों के साथ उनका रवैया नहीं है, बल्कि यह प्रशासन के भीतर की जातिवादी संरचना को भी उद्घाटित करती है। यह अकारण नहीं है कि दलित जाति का गरीब मजदूर सरकारी नीतियों और कानून पर भरोसा नहीं कर पाता।

मार्कण्डेय की कहानी 'बीच के लोग' में बुझावन (दलित) का बेटा मनरा, जो 'लाल झंडा वाली पार्टी' के प्रभाव में भी है, कानून और प्रशासन के चरित्र को समझता है- "कानून और न्याय गरीब को खेत देता नहीं, उससे छीनता है। हम ऐसे धोखे में नहीं आएंगे।"[18] मनरा के इस कथन में उसकी वर्ग-चेतना मुखरित हुई है, लेकिन पूरी कहानी के संदर्भ में मनरा के इस कथन को देखें तो यह वर्ग चेतना जाति-चेतना से पूरी तरह कटी हुई नहीं है, बल्कि वर्ग के जातिगत आधार को स्पष्ट करने वाली है। मार्कण्डेय अपनी अधिकांश कहानियों में वर्ग की जातिगत संरचना का ध्यान रखते हैं।

मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी है- 'हलयोग'। दलितों के प्रति सवर्ण समाज के रवैये को अभिव्यक्त करने वाली यह कहानी ब्राह्मणों-ठाकुरों की असहिष्णुता और उनके शातिरपन को उद्घाटित करती है। जाति के चमार चौथी राम का गाँव के स्कूल में अध्यापक हो जाना एक 'अनहोनी बात' थी। इसने वर्णाश्रमी समाज की 'पत्थर की लीक हुई मानसिकता' पर 'मर्मांतक आघात' पहुँचाया था। नतीजा, ब्राह्मण-ठाकुरों ने वर्णाश्रम की रक्षा का बीड़ा उठाया और चौथी

राम के समतामूलक समाज की स्थापना के प्रयासों को सिरफिरे की हरकत के रूप में प्रचारित किया और चौथी राम को तरह-तरह से प्रताड़ित करने के बाद उसे विक्षिप्त घोषित कर अकेले मरने के लिए छोड़ दिया। यह है सवर्ण समाज की बौखलाहट जो अपने सामने किसी नीची जाति वाले को उठता हुआ नहीं देख सकता। मार्कंडेय ने बड़ी बारीकी से दलितों की पीड़ा को कथा का रूप दिया है।

आजादी के कुछ ही वर्षों बाद नागार्जुन के दो महत्वपूर्ण उपन्यास 'बलचनमा' (1952) और 'बाबा बटेसरनाथ' (1954) प्रकाशित हुए। नागार्जुन के उपन्यास अपनी समग्रता में कोई खास प्रभाव पैदा नहीं करते, लेकिन इनमें जाति का सामाजिक यथार्थ खूब बारीक तरीके से अभिव्यक्त हुआ है। नागार्जुन के भीतर का कम्युनिस्ट यद्यपि समाज के वर्गीय ढाँचे को सामने रखता है, लेकिन एक संवेदनशील रचनाकार होने के नाते ग्रामीण भारतीय समाज की जातिवादी संरचना को नागार्जुन कभी नजरअंदाज नहीं करते। नागार्जुन के उपर्युक्त दोनों ही उपन्यास इस लिहाज से महत्वपूर्ण हैं कि ये गाँव की जातिवादी संरचना की परतों को अत्यंत सूक्ष्मता से खोलते हैं। एक और महत्त्वपूर्ण बात जो नागार्जुन के उपन्यासों में दिखाई पड़ती है, वह है सामाजिक वर्गों की जातिगत संरचना की पहचान। वर्ग और जाति के अंतःसंबंधों को समझने या सामाजिक वर्गों के जातिगत आधार को समझने में नागार्जुन के उपर्युक्त दोनों उपन्यास हमारी मदद करते हैं। वर्ग की पहचान हम उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के आधार पर करते हैं। भारत में जाति एक ऐसा कारक है जो बहुत हद तक उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व को सुनिश्चित करता रहा है। इस तरह भारतीय समाज में वर्ग को जाति से अलग करके समझना भारी भूल होगी। नागार्जुन के उपन्यासों में जाति-वर्ग के इस गठजोड़ को बेहतर ढंग से देखा-समझा जा सकता है। 'बलचनमा' उपन्यास में बलचनमा के माध्यम से नागार्जुन बताते हैं- "आसपास के इलाकों में दुसाध, मुसहर चमार, खतबे, पासी, धुनिया, जुलाहा लोगों की बस्तियाँ थीं। मुसीबत के मारे, खगती से सताए हुए जन-बनिहार आजकल भी पेट बेचते फिरते हैं। और भैया उन दिनों भी इनका यही हाल था। फूल बाबू के बाप (ब्राह्मण जमींदार) इन्हीं गरीबों की जमीन-जजात हड़प-हड़पकर औकात वाले बने थे। इन लोगों का

यही पेशा था।... छोटी जातवाले जन-बनिहारों के पास होता ही क्या? बहुत हुआ तो दो-चार धुर की डीह, दो-एक मड़ैया, एकाध बकरी-बाछी। मगर भैया इन कसाईयों के चलते बेचारों के पास यह सब भी नहीं रह पाता।...अदालत उनकी, हाकिम उनका, थाना-दरोगा उनका, पुलिस उनकी।...बड़ी जातवालों की माया तब भी अपार थी और अब भी। बात-बात में अपनी गोटी वही लाल करते हैं।"[19]

यही भारतीय जातिवादी समाज का यथार्थ है। छोटी जातियाँ यहाँ प्रायः उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के अधिकार से वंचित रही हैं। जमीन के मालिक प्रायः ऊँची जाति वाले रहे हैं, जिनके खेतों में मजदूरी करने को छोटी जाति के लोग मजबूर हैं। ज़ाहिर है ऐसे समाज का वर्ग-विभाजन भी निश्चित तौर पर जाति-आधारित ही हो सकता है। अपने एक अन्य उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' में भी नागार्जुन वर्ग-जाति के इस अंतःसंबंध को स्पष्ट करते हैं। 1960 के दशक के बिहार के अकाल की चर्चा करते हुए बाबा बटेसरनाथ बताते हैं- "बस्ती भर में तीन ही परिवार ऐसे थे जिन्हें एक जून अंत तक चावल नसीब होता रहा। एक था तर्क पंचानन (चंद्रमणि मिश्र) का परिवार। दूसरा परिवार था राजाबहादुर के पुरोहित का। तीसरा था एक राजपूत काश्तकार का घर।"[20] बाबा आगे बताते हैं- "भूख से तड़पकर दम तोड़ने वालों में छोटी जाति वालों की ही तादाद अधिक हुआ करती थी।"[21]

हिंदी उपन्यासों के आधार पर मोटा-मोटी यह कहा जा सकता है कि यहाँ आम तौर पर दलित और पिछड़ी जातियों के प्रति रचनाकारों का रुख अपेक्षाकृत सहानुभूतिपूर्ण है। ऊँची जाति के पात्रों के चरित्र में प्रायः एक किस्म का जातिवादी अहंकार, दबंगई और लंपटता है। इसके पीछे दरअसल रचनाकार की भारतीय समाज की समाजशास्त्रीय समझ काम कर रही है। नागार्जुन भी अपने उपन्यासों में ऊँची जाति वालों का चरित्र-चित्रण करते हुए इस समाजशास्त्रीय समझ को सामने रखते हैं। 'बलचनमा' उपन्यास में ऊँची जाति के जमींदारों का चरित्र-चित्रण द्रष्टव्य है-

"बड़े लुच्चे होते हैं ये लोग।...खान-पान और आराम की कमी नहीं, काम करेंगे नहीं। किसी की लड़की सयानी हुई नहीं कि निशाना साधने लग जाते हैं।...

...बड़े घरों के क्या जवान, क्या बूढ़े, बहुतेरों की निगाह पाप में डूबी रहती थी। गौना होकर कोई नई-नवेली किसी के घर आती तो इन लुच्चों की आँख उसकी घूँघट के इर्द-गिर्द मंडराया करती। ...किसी की इज्जत-आबरू को बेदाग रहने देना न पसंद था उन्हें।

...बड़े खानदान का आवारा से आवारा आदमी पंडितों और पुरोहितों से भलमनसाहत का फतवा पा जाता है।"[22]

'बाबा बटेसरनाथ' के टुनाई पाठक और जैनरायन झा भी परले दर्जे के धूर्त्त हैं। गाँव की बरगद वाली जमीन को कब्जा करने के लिए ये दोनों गाँव के लोगों के साथ तमाम तरह के छल करते हैं। विरोधियों को किनारे करने के लिए एक बेचारे गूँगे चमार की हत्या करवाकर उसकी हत्या के आरोप में उन लोगों को फँसा देते हैं, जो उनकी जमीन हड़पने की राह में बाधा थे।

कहने का आशय यह कि ऊँची जाति वालों की धूर्त्तता और उनके सामाजिक चरित्र को हिंदी के अन्य रचनाकारों की तरह नागार्जुन ने भी पकड़ा है और अपने उपन्यासों में उसकी अभिव्यक्ति की है।

हमारा सामाजिक अनुभव हमें बताता है कि ऊँची जातियों की महिलाएँ घर से बाहर काम के लिए नहीं निकलतीं। खेत में या और भी कहीं घर से बाहर महिलाओं का काम करना ऊँची जाति वालों की कुलीनता के खिलाफ है। भारतीय समाज की जातिगत संरचना में यह देखना बड़ा दिलचस्प है कि जैसे-जैसे जातिवादी श्रेष्ठता का बोध कम होता जाता है, वैसे-वैसे स्त्रियाँ घर से बाहर निकलती जाती हैं। ऊँची जातियों में जहाँ स्त्रियाँ बिल्कुल बाहर के काम नहीं करतीं, वहीं पिछड़ी जातियों के साधारण गृहस्थों की स्त्रियाँ बाहर आकर खेतों में काम करती हैं और दलितों में तो स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर बाहर का काम करती हैं। इनके लिए यह जरुरी भी है अन्यथा घर भर का पेट ही नहीं भरेगा। दरअसल भारतीय समाज में जातियों के सामाजिक अर्थशास्त्र को भी

समझना जरूरी है। ऊँची जातियाँ प्रायः संपन्न रही हैं बनिस्पत पिछड़ी और दलित जातियों के। इसलिए स्त्रियों को घर में रखने की कुलीनता का निर्वाह वहाँ आसान है। इसके पीछे पूरा अर्थशास्त्र काम कर रहा है। हालाँकि धीरे-धीरे यह कुलीनता सहूलियत कम, बोझ ज्यादा बन जाती है। लिहाजा आर्थिक रूप से विपन्न ऊँची जाति वाले भी कुलीनता के नाम पर इन परंपराओं को ढोते रहते हैं। यह उनका जातिवादी संस्कार ही है जो उन्हें ऐसा करने को विवश करता है। नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' में जातियों के इस सामाजिक अर्थशास्त्र को भी देखा जा सकता है- "बड़ी जाति वाले चाहे कितना ही गरीब हों, उनके घर की औरतें रोजी-धंधा के कामों में मर्दों का हाथ नहीं बँटा सकतीं। उनके यहाँ औरतें निकम्मी-निठल्ली बैठी रहती हैं। जितना ही बड़ा खानदान होगा, औरतों में उतना जास्ती निठल्लापन पाओगे। हमारी औरतें मेहनत-मजूरी का दाना खाती हैं। अपनी माँ-बहनों और बहू-बेटियों के हाथ-पैर हमारे यहाँ सिरिफ छूने-मसलने या नचाने-थिरकाने का सामान नहीं हुआ करते; हमारी जिंदगी का सहारा हैं वे हाथ-पैर।"[23]

ज़ाहिर है नागार्जुन के उपन्यास जाति और वर्ग के अंतःसंबंधों को स्पष्ट करने के साथ-साथ जाति के सामाजिक अर्थशास्त्र की तहों को भी खोलते हैं।

रांगेय राघव अपने उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' में जाति के सवाल को अलग ढंग से उठाते हैं। यह उपन्यास जरायमपेशा, खानाबदोश करनटों के जीवन की त्रासदी को संभवतः पहली बार हिंदी पाठकों के सामने रखता है। करनटों के समाज और जीवन का ऐसा विशद चित्रण इससे पहले हिंदी के किसी दूसरे उपन्यास में नहीं मिलता। लेकिन रांगेय राघव का उद्देश्य केवल करनटों के जीवन और उसकी त्रासदी को पाठकों के सामने रखना नहीं है, बल्कि वह इसके माध्यम से भारतीय समाज की जाति व्यवस्था के कई पहलुओं को सामने लाने का प्रयास करते हैं।

उपन्यास का नायक सुखराम करनट है। करनटों की सामाजिक हैसियत अत्यंत दयनीय है, जिसकी खाई पत्तल को मेहतर भी नहीं उठाते। मतलब भारतीय समाज व्यवस्था में सबसे नीचे की हैसियत रखता है करनट सुखराम। करनट होने के कारण जो सामाजिक प्रतारणा सुखराम को

झेलनी पड़ती है, वह तो अपनी जगह है, लेकिन उसकी समस्या दूसरी है। उसे अपने बाप के माध्यम से यह मालूम होता है कि वह करनट नहीं, बल्कि ठाकुरों के खानदान से है। तीन पीढ़ी पहले कोई ठकुरानी महल से भागकर करनटों के बीच आ गई थी और उसी के वंश में है सुखराम। उसी वंश के ठाकुरों का एक अधूरा किला है, जिसका मालिक सुखराम खुद को मानता है, क्योंकि उसके बाप ने उसे यही सब बताया है। अब करनट सुखराम ठाकुर होने के भ्रम में जीता है और अपने को करनटों से अलग और श्रेष्ठ समझता है।

सुखराम के भीतर ठकुराई का जो सुप्त अहं था, उसके प्रभाव में वह अपनी वास्तविक स्थिति को भुलाए रहता था। मेहतरों के हाथ का छुआ वह नहीं खाता था, उनका हुक्का भी नहीं पीता था। सुखराम की स्थिति विचित्र है। वह हमेशा अपने करनट होने और ठाकुर होने के द्वंद्व के बीच जीता है। वह अपनी वास्तविकता से आँखें चुराकर एक भ्रम में जीना चाहता है, क्योंकि वहाँ उसे अधिकार-सुख मिलता है, जातिवादी श्रेष्ठता का अहंकार उसे संतुष्ट करता है। इसी अधिकार-सुख और जातिवादी अहंकार में सुखराम बेहोश पड़ा रहना चाहता है। इसी कारण वह अपनी वास्तविक स्थिति और अपने वास्तविक समाज के प्रति नकारात्मकता और उदासीनता से ग्रस्त है।

सुखराम का यह द्वंद पूरे उपन्यास में मौजूद है। उपन्यास के अंत में सुखराम अपने इसी द्वंद्व में अपनी पालित बेटी चंदा की हत्या भी कर देता है। सुखराम के ठाकुर होने के भ्रम और करनट होने के यथार्थ के द्वंद्व के बीच ही उपन्यास का पूरा ताना-बाना बुना गया है।

इस उपन्यास में जाति से जुड़े कुछ दूसरे प्रसंग भी हैं, जिनमें जातिवादी शोषण का चित्र सामने आया है। ठाकुरों द्वारा चमारों पर अत्याचार का प्रसंग जातिवादी क्रूरता को बेनकाब कर देता है। ठाकुरों ने चमारों के खेतों में खड़ी फसलें काट लीं, स्त्रियों की इज्जत लूट ली और कई चमारों की हत्या कर दी। ठाकुरों के अत्याचार का वर्णन एक चमार स्त्री करती है- "बुद्धा, हीरा और पंगा को नंगा कर के बेतों से पीटा और उनकी औरतों के मिर्च भर दी।...पंगा की बहू के पेट में था। गिर गया। वह मर गई।"[24] सुखराम ठाकुर होने के भ्रम में जीता है, लेकिन ठाकुरों के वहशीपन की आलोचना

करता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। सुखराम की सोशल ट्रेनिंग ठाकुरों की तरह नहीं, बल्कि दबे-कुचले करनट की तरह हुई है। सुखराम का सामाजिक व्यवहार भी प्रायः करनटों की तरह ही है।

जातिवादी घृणा और शोषण की शिकार दलित जातियाँ भी अपने से नीची जातियों की तलाश कर लेती हैं और उनसे वैसा ही जातिवादी व्यवहार करती हैं। रांगेय राघव ने इस बात को बहुत पहले साफ-साफ पकड़ा है। उपन्यास के एक प्रसंग में वे लिखते हैं- "चमार ढेड़ कहलाते थे, पर भंगियों से उतनी ही नफरत करते थे, जितनी ऊँची जात वाले चमारों से।"[25] ध्यान देने की बात है कि दलितों के बीच के इस जातिवाद की बहुत कम चर्चा उस समय तक होती थी। बाद में ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि ने अपनी कहानियों में दलितों के ब्राह्मणवादी और जातिवादी व्यवहारों को सामने लाने का काम किया है।

जाति के सवाल को आजादी के बाद के कई उपन्यासकारों ने दलित समस्या के संदर्भ में उठाया है। इन उपन्यासों में दलित समाज के यथार्थ के साथ-साथ जाति व्यवस्था की कठोरता और अमानवीयता अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई है। 1972 में प्रकाशित जगदीश चंद्र का उपन्यास 'धरती धन न अपना' दलित जीवन का एक प्रमाणिक दस्तावेज है। जगदीश चंद्र ने इस उपन्यस में पंजाब के दलित जीवन, विशेषकर चमारों के जीवन के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों का चित्रण किया है।

उपन्यास का मुख्य पात्र काली छह साल कानपुर के एक कपड़े के कारखाने में मजदूरी करने के बाद वापस अपने गाँव लौटा है। काली चमार है। काली के गाँव में अधिकतर चमार और जाट भूमिपति बसते हैं, कुछेक बनिया और पंडित भी हैं। भूमिहीन चमार जाटों के खेतों में काम करते हैं। इस रूप में गाँव के जाटों और चमारों के बीच मालिक और मजदूर का संबंध है। काली की स्थिति गाँव के अन्य चमारों से इस अर्थ में भिन्न है कि वह जाटों के खेतों में काम नहीं करता, इसलिए जाटों से दबता भी कम है। जगदीश चंद्र असल में काली के रूप में एक ऐसे चरित्र का सृजन करते हैं जो जाति की पहचान को छोड़कर वर्गीय पहचान हासिल करना चाहता है। उसे 'चमार' कहे जाने से चिढ़ है। काली शहर के कारखाने में मजदूरी करके आया है। उसने देखा है कि वहाँ ऊँची जाति के

लोग भी मजदूरी करते हैं। शहर से लौटे काली और गाँव के अन्य चमारों की स्थिति में यह एक बुनियादी अंतर है। शहर के मजदूरों का कोई एक जातीय आधार नहीं है, जबकि गाँव के मजदूरों का स्पष्ट जातीय आधार है। इसलिए ग्रामीण मजदूरों का शोषण केवल आर्थिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक भी है। वर्ग के इस जातीय आधार के कारण ग्रामीण खेत मजदूरों की स्थिति शहरी औद्योगिक मजदूरों से एकदम भिन्न हो जाती है। ग्रामीण मजदूर आर्थिक रूप से भी शहरी औद्योगिक मजदूरों की तुलना में अधिक बंधे हुए हैं। इन्हें अन्ततः ऊँची जातियों के भूमिपतियों के सहारे ही जीना है। आजीविका के लिए उनके खेतों में काम करने के लिए ये मजबूर हैं। इसलिए वे उनसे आर-पार की लड़ाई नहीं लड़ सकते। अन्ततः उन्हें समझौते का रास्ता अपनाना ही पड़ता है। 'धरती धन न अपना' के चमारों की हालत भी ऐसी ही है। जाट भूमिपतियों के शोषण से तंग आकर और काली के प्रोत्साहन से वे हड़ताल तो करते हैं, लेकिन कुछ ही दिनों में फाके की नौबत आ जाती है और उन्हें जाटों के आगे हार मानना पड़ता है। गाँव के दलित मजदूरों के इसी दोहरे शोषण का जीवन्त और प्रामाणिक चित्रण जगदीश चन्द्र ने इस उपन्यास में किया है।

आजादी के दौर से ही दलितों के धर्मांतरण का मुद्दा एक अहम मुद्दा रहा है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास में भी यह मुद्दा अत्यंत महत्वपूर्ण तरीके से उठाया जाता रहा है। जगदीश चंद्र भी उपन्यास की आनुषंगिक कथाओं के जरिए जातिवादी समाज में धार्मान्तरण के सवाल को उठाते हैं। उपन्यास का एक पात्र है नन्दसिंह, जो जाति का चमार है। जातिवाद के चंगुल से छुटकारा पाने के लिए वह दो बार अपना धर्म बदलता है। पहले वह सिख धर्म में धर्मान्तरित हो जाता है। लेकिन उसकी जाति से उसका पिंड नहीं छूटता। उपन्यास का एक पात्र सन्तसिंह की टिप्पणी पूरे जातिवादी समाज की टिप्पणी के तोर पर पढ़ी जा सकती है- "सिख बन जाने का मतलब यह तो नहीं कि चमार नहीं रहा। धर्म बदलने से जात तो नहीं बदल जाती।"[26]

सिख बनकर भी जब नन्दसिंह अपनी जाति से मुक्त नहीं हो पाता तो वह ईसाइयत में जातिमुक्ति की संभावना तलाशता हुआ ईसाई बन जाता है। लेकिन नतीजा वही ढाक के तीन पात! घडुम चौधरी (जाट) का व्यंग्य जातिवादी समाज के रवैये को समझने के लिए पर्याप्त है- "सुना

चमारा, ईसाई बनने के बाद कुछ फर्क पड़ा? क्या टट्टी-पेशाब पहले की तरह ही करता है या तरीका बदल गया है?...चमड़ा काला हो या लाल, कमाया हुआ हो या कच्चा, आखिर चमड़ा है।''[27] बसन्ता (चमार) की टिप्पणी धर्मान्तरण से जातिमुक्ति की उम्मीद को तार-तार कर देती है- ''वाह-वाह...नंदसिंहा, तेरे सिर पर अभी सींग तो उगे नहीं...पागला, तू कुछ भी बन जा, लेकिन रहेगा चमार का चमार ही। जात कर्म से नहीं, जन्म से बनती है।''[28] लब्बोलुवाब यह कि धर्मान्तरण भी जाति के कलंक को धो नहीं पाता। एक बार जिस जाति में पैदा हो गए, उससे मुक्ति कतई संभव नहीं है। जातिवादी समाज आपको मुक्त होने ही नहीं देगा! कोई लाख चाहे, लेकिन व्यक्तिगत तौर पर, बिना सामाजिक तौर पर जाति-मुक्ति के, अपनी जातिगत पहचान को छोड़ सकना उसके बूते के बाहर है।

दलित जीवन पर लिखा गया एक और उपन्यास अमृतलाल नागर का 'नाच्यौ बहुत गोपाल' 1977 में प्रकाशित हुआ। मेहतरों के जीवन पर लिखा गया यह एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। उपन्यास की कथा का सूत्रधार अंशुधर शर्मा स्वयं ब्राह्मण हैं, लेकिन वे मेहतरों की बस्ती में घूम-घूमकर लोगों के इंटरव्यू लेकर मेहतर समाज को समझने की कोशिश कर रहे हैं। असल में लेखक ने सूत्रधार अंशुधर शर्मा के रूप में स्वयं का ही स्थानापन्न स्थापित किया है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र श्रीमती निर्गुनियां जन्मना ब्राह्मण हैं, लेकिन परिस्थितियों के सागर के डूबते-उतराते मेहतरानी बन जाती हैं और अन्ततः एक मेहतरानी के रूप में ही अपनी पहचान बनाए रखती हैं। निर्गुनियां के माध्यम से ही मेहतर समाज के जीवन की नारकीयता को उद्घाटित करने का प्रयास लेखक ने अपने इस उपन्यास में किया है।

जातिमुक्ति के उपाय के रूप में धर्मान्तरण की निष्फलता को जगदीश चन्द्र की तरह अमृतलाल नागर भी अपने उपन्यास में सामने रखते हैं। दरअसल ईसाई मिशनरियों के प्रभाव में बड़े पैमाने पर दलितों का रूझान धर्मान्तरण की ओर हुआ। लेकिन सवाल है कि क्या ईसाई बन जाने से दलितों की सामाजिक हैसियत में कोई बुनियादी परिवर्तन आया? यह सच है कि ईसाई

मिशनरियों ने दलितों के प्रति सहानुभूति का रूख रखा, दलितों की भौतिक स्थिति कुछ अच्छी भी हुई। लेकिन अन्ततः जिस सामाजिक सम्मान की आकांक्षा में उन्होंने धर्म परिवर्तन किया, वह उन्हें प्राप्त न हो सका। जातिवादी भारतीय समाज में यह संभव भी नहीं है। एक व्यवस्था के रूप में जाति के समूल नाश के बिना किसी व्यक्ति या समुदाय की जाति से मुक्ति संभव नहीं है। 'नाच्यौ बहुत गोपाल' में नागर जी भी इस मुद्दे को सामने रखते हैं। सूत्रधार कहता है- ''एक बात जो मेरे अनुभव में और आ रही है, इन हरिजनों का संघर्ष केवल इस देश के हिन्दुओं से ही नहीं बल्कि मुसलमानों और ईसाइयों से भी है। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, ऐसी कौन-सी भारतीय जाति है जो अपने आप को मेहतरों से ऊँचा नहीं समझती और जो उन्हें छूने से घिनाती नहीं है...। जो कुलीन हिन्दू अथवा कुलीन मुसलमान ईसाई बनते हैं, वे अकुलीन ईसाइयों से शादी-ब्याह नहीं करते है।''[29] मतलब कि धर्मान्तरण भी इस जातिवादी ऊँच-नीच से छुटकारा दिलाने में असफल ही सिद्ध होता रहा है।

मेहतरों के जीवन को ही केंद्र में रखकर मदन दीक्षित ने एक महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा- 'मोरी की ईंट', जिसका प्रकाशन 1996 में हुआ। यह उपन्यास मेहतरों के जीवन के सामाजिक-आर्थिक पक्षों को बेहतर तरीके से अभिव्यक्त करता है। यह उपन्यास दलित विमर्श की इस अवधारणा को भी मजबूती से खंडित करता है कि दलितों के जीवन पर लिखने के लिए स्वयं दलित होना आवश्यक है। लेखक दलित नहीं है, लेकिन लेखक ने अनुभूति की प्रामाणिकता को सुनिश्चित किया है।

उपन्यासकार ने अपने अनुभवों को आधार बनाकर चुंगी के मेहतरों की जिंदगी के आर्थिक और सामाजिक पहलुओं को प्रामाणिक बनाकर प्रस्तुत किया है। चुंगी में सफाई कर्मचारी के तौर पर नौकरी करने वाले मेहतर-मेहतरानियों के रोजमर्रा के संघर्षों और 'गमे-राजगार' को चित्रित करने के साथ-साथ चुंगी के जमादार और अमला-अफसरों के द्वारा मेहतरानियों के शारीरिक शोषण के गोरखधंधे को भी लेखक ने बेपर्दा किया है।

भारतीय समाज में जातिवाद की गहरी जड़ों और इसकी अनंत श्रेणियों के कारण यहाँ प्रत्येक जाति, क्या बड़ी-क्या छोटी, जातिवादी संस्कारों से ग्रस्त हैं। इन सब जातियों के बीच एक श्रेणी बनी हुई है। लेकिन मेहतरों की स्थिति प्रायः सबसे नीची है। दूसरी दलित जातियाँ भी मेहतरों के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार करती है। लेखक 'वाजिबुल अर्ज' में अपना यह अनुभव सामने रखता है- ''इस बीच अन्य बहुत-सी बातों के साथ मुझे इस बात का भी खूब अच्छी तरह से अहसास हो गया कि सवर्ण और मध्यम जातियाँ तो क्या, अधिकांश अनुसूचित जातियाँ भी मेहतरों को अछूत ही समझती हैं और धर्म बदल लेने पर भी भारतीय समाज में मेहतरों की मेहतरियत में कोई अंतर नहीं आता।''[30]

लेखक के उपुर्यक्त कथन से धर्मान्तरण की वास्तविकता पर भी ध्यान जाता है। यह उपन्यास इस मुद्दे को बड़े विस्तार से उठाता है। उपन्यास की मुख्य कथा के समानान्तर एक दूसरी कथा ईसाई धर्म में धर्मान्तरित हिन्दुओं की भी चलती है। लेखक ने पूरे विस्तार से इस धर्मान्तरण के भीतर के जातिवाद को उभारा है। धर्मान्तरित ईसाइयों की कोटियों -'ब्राह्मण ईसाई' और 'दलित ईसाई'- की पहचान लेखक ने अपने उपन्यास में की है। 'ब्राह्मण ईसाइयों' के बारे में लेखक उपन्यास में लिखता है- ''और सच तो यह है कि वे खुद ईसाई साहबियत के साथ, अपना ब्राह्मण अभिजात्य भी बनाए रखना चाहते थे। डोम-चमारों के ईसाई हो जाने पर भी वे उन्हें डोम-चमार ही मानकर उनसे एक निश्चित दूरी बनाए रखते थे।''[31] इसी तरह 'दलित ईसाइयों' की भी एक कोटि है, जिनके साथ समाज का रवैया अस्पृश्यता का ही है। यानि दलित अपनी जातिगत पहचान से मुक्त होने की कोशिश में अपना धर्म तक बदल लेता है, लेकिन जातिवादी समाज उसे उसकी जाति से मुक्त नहीं होने देता। उसकी जाति उसके साथ टंगी ही रहती है। उपन्यास के एक ईसाई धर्मांतरित मेहतर पात्र खैराती को भी इस बात का अहसास होता है। खैराती का बड़ा भाई खैराती के भ्रम को साफ करते हुए कहता है- ''तू बड़ा भोला है रे, खैराती!...धर्म की तोबा-पलटी से हमारी जात पर कोई असर नहीं पड़ता। मुसलमान बना लिया तो लालबेगी कहने लगे, हलालखोर कहने लगे; अल्लन,

बिल्लन, अहमदा, मोहमदा नाम रख दिए। सिक्ख बना लिया तो मजहबी कहने लगे; झंडा सिंह, गंडा सिंह, बसन्ता सिंह नाम रख दिए। ईसाई बना लिया तो जान्सन, थाम्पसन, ऐडविन, ग्लैडविन नाम रख दिए। रहे मेहतर के मेहतर, नरक बटोरने का पट्टा हमारे नाम बदस्तूर कायम रहा।''[32]

मेहतरियत के सामाजिक दंश और उससे मुक्ति के तमाम उपायों के मृगमरीचिका साबित होने की सच्चाई को यह उपन्यास बड़ी संजीदगी से सामने रखता है।

जाति के सवाल को हिन्दी साहित्य में एकदम से महत्वपूर्ण बना दिया दलित विमर्श ने। दलित साहित्य लेखन की शुरुआत के साथ अंबेडकरवाद को साहित्य में प्रमुखता से जगह मिली। दलित विमर्श ने अंबेडकर के विचारों और आदर्शों के आलोक में जाति के सवाल को नए ढंग से उठाया। दलित विमर्श ने जाति के सवाल को परिधि से उठाकर एकदम केंद्र में स्थापित कर दिया। अब जाति का सवाल दलित नजरिए से नए रूपों में उद्घाटित होने लगा। दलित साहित्य के माध्यम से जाति व्यवस्था और जातिवादी शोषण के ऐसे पक्ष हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त हुए जो इससे पहले पूरी तरह से अनुपस्थित थे। इसने हिन्दी साहित्य का फ्लेवर बदल दिया। हिन्दी साहित्य में यह एक प्रकार का 'नवनवोन्मेष' था।

दलित कथाकारों ने जाति के सवाल को सबसे धारदार तरीके से हिन्दी कथा साहित्य में उठाया । जाति व्यवस्था के शोषण का सर्वाधिक शिकार भी दलित रहे हैं। इसलिए यह बहुत स्वाभाविक भी था। जाति व्यवस्था अपने क्रूरतम रूप में दलितों के प्रसंग में दिखाई पड़ती है। मनुवादी जातिवादी व्यवस्था ने दलितों के जिम्मे जो काम सौंपा है, वह मानवता को शर्मसार करने वाला है। सिर पर मैला ढोने की प्रथा मानवता को शर्मसार करने वाली ऐसी ही एक जातिवादी प्रथा है, जिसे पूरा भंगी समाज ढोने को मजबूर है। दलित कहानियों ने हिंदी साहित्य को ऐसे अनुभवों से परिचित कराया। इससे पहले के साहित्य में इस तरह के अनुभव इतनी गहरी प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध नहीं थे। सूरजपाल चौहान की कहानी 'बदबू' भंगियों द्वारा सिर पर मैला ढोने की प्रथा को केंद्र में रखकर लिखी गई अत्यंत प्रभावशाली कहानी है। भारतीय समाज की जातिवादी संरचना के भीतर संतोष (कहानी की नायिका) पढ़ी-लिखी होने के बावजूद भंगी होने के नाते सिर पर मैला ढोने के लिए विवश है। पारिवारिक-सामाजिक दबावों के बीच मैले की बदबू को

अपने दिल-दिमाग में बर्दाश्त करते हुए संतोष अंततः इस काम को अपनी नियति मानने पर मजबूर हो जाती है। व्यक्तिगत प्रतिरोधी चेतना परास्त हो जाती है, जाति का सच जीत जाता है। भारतीय समाज में जाति की सड़ाँध ने जो बदबू फैलाई है, उससे मुक्ति कहाँ है!

जातिवाद दरअसल एक मानसिकता है, जिससे जरूरी नहीं कि केवल ऊँची जाति वाले ही ग्रस्त हों। जातिवादी शोषण का दंश झेलने वाले दलितों के भीतर भी यह जातिवादी मानसिकता उतने ही अमानवीय रूप में मौजूद हो सकती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कहानी 'शवयात्रा' में दलितों के भीतर के इसी ब्राह्मणवाद या जातिवाद को सामने लाते हैं। 'शवयात्रा' चमारों के गाँव में अकेले बल्हार परिवार की मार्मिक कहानी है। बल्हारों की स्थिति चमारों के बीच वैसी ही है, जैसी ब्राह्मणों-ठाकुरों के बीच चमारों की होती है। इस कहानी में चमार बल्हार जाति के सुरजा और उसके बेटे कल्लन के साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करते हैं, जैसे चमारों के साथ ऊँची जाति वाले करते हैं। प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' में दुखी चमार के साथ जो व्यवहार पंडित घासीराम करता है, 'शवयात्रा' में सुरजा और कल्लन के साथ चमारों का व्यवहार उससे जरा भी अलग नहीं है। 'सद्गति' के पंडित घासीराम का जातिवादी संस्कार उसे दुखी की लाश को हाथ लगाने से रोकता है तो 'शवयात्रा' में बल्हार कल्लन की बेटी सलोनी की लाश को दलितों के श्मशान में जलाने की इजाजत नहीं मिलती- "चमारों का श्मशान गाँव के निकट ही था। लेकिन उसमें बल्हारों को अपने मुर्दे फूँकने की इजाजत नहीं थी।"[33]

दरअसल 'शवयात्रा' दलित विमर्श से आगे की कहानी है। यह दलित विमर्श को आईना दिखाने वाली कहानी है, उसका आत्मसाक्षात्कार कराती हुई कहानी है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी अन्य कहानियों में भी दलित समाज के भीतर के ब्राह्मणवाद को पहचानते हैं। 'सलाम' वाल्मीकि जी की अत्यंत चर्चित कहानियों में से है। 'सलाम' कहानी कई

मायने में महत्वपूर्ण है। पहली बात तो यह कि कमल उपाध्याय को गाँव वालों की निगाह में भंगी बनाकर कहानीकार कमल का भंगी तथा दलित जीवन की वास्तविकता से साक्षात्कार कराता है और इस तरह देखे-सुने यथार्थ और भोगे हुए यथार्थ के फर्क को बड़ी ही मजबूती से सामने रखता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात इस कहानी में है दलितों में उभरती प्रतिरोध की चेतना। हरीश जैसा पढ़ा-लिखा युवक सलाम जैसी जातिवादी और अपमानजनक प्रथा को ढोने से इनकार कर देता है। तीसरी बात जो इस कहानी को सामान्य दलित कहानियों से अलग करती है, वह है इस कहानी के बिल्कुल आखीर में एक दलित बच्चे का यह कहना कि "नहीं...नहीं, मैं मुसलमान के हाथ की बणी रोट्टी नहीं खाऊँगा...नहीं खाऊँगा...नहीं खाऊँगा।"[34]

जहाँ एक ओर युवा पीढ़ी अपने साथ हो रहे ब्राह्मणवादी शोषण के प्रति प्रतिरोध की चेतना से लैस हो रही है, वहीं दूसरी तरफ उसकी आने वाली पीढ़ी उसी ब्राह्मणवादी साँचे में ढल रही है। दलित समाज जिस ब्राह्मणवादी शोषण का शिकार है, कुछ अन्य समुदायों के प्रति वह स्वयं उसी ब्राह्मणवादी अस्पृश्यता की चेतना से ग्रस्त है। जातिवाद की इस 'आयरनी' को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने बहुत बारीकी से पकड़ा है।

दलित विमर्श के अंतर्विरोध को और उसकी सीमाओं को स्पष्ट करती एक और कहानी है सत्यप्रकाश की कहानी 'दलित ब्राह्मण'। यह कहानी दलित विमर्श और आरक्षण का लाभ लेते हुए अफसर बने एक ऐसे दलित व्यक्ति की कहानी है, जो अपने ही जातिवर्ग के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं करता। दलित समाज के प्रति एक आगे बढ़े हुए दलित व्यक्ति की जिम्मेदारी को सुनिश्चित करती यह कहानी विजय रंजन कुरील (कहानी का पात्र) जैसे दलित के व्यवहार के जरिए दलित विमर्श को आईना दिखाने का काम करती है। विजय रंजन कुरील स्वयं दलित होने के बावजूद दलित समाज के प्रति वही ब्राह्मणवादी अफसरशाही वाला रवैया रहता है जो कोई गैर-दलित या ब्राह्मण रखता है। कहानी का शीर्षक अपने को सार्थक करता है कुरील जैसे 'दलित ब्राह्मणों' के जरिए।

सवर्ण जातियों द्वारा दलितों पर अत्याचार की ढेरों कहानियाँ लिखी गई हैं। बल्कि यह कहें कि सवर्णों द्वारा अत्याचार दलित कहानियों की केंद्रीय थीम रही है। इसी तरह की एक कहानी है मोहनदास नैमिशराय की 'अपना गाँव'। इस कहानी में गाँव के जमींदार ठाकुर का बेटा दलित कबूतरी (कहानी की दलित स्त्री पात्र) को पूरे गाँव में नंगा घुमाता है, क्योंकि कबूतरी उसे अपने साथ मनमानी करने से रोकती है। दलित स्त्री के साथ ठाकुरों का यह व्यवहार कोई अचरज की बात नहीं है। हमारा समाज इस तरह की घटनाओं से भरा पड़ा है। लेकिन इस कहानी की खास बात यह है कि यह कबूतरी की घटना के माध्यम से दलित समाज में पैदा होते आक्रोश को भी अभिव्यक्त करती है। दलित अब और अत्याचार सहने को प्रस्तुत नहीं हैं। लेकिन इस कहानी के अंत में जिस किस्म के प्रतिरोध को दर्शाया गया है, वह बहुत व्यावहारिक नहीं लगता। बुजुर्ग दलित हरिया के नेतृत्व में दलितों द्वारा निर्णय लिया जाता है कि 'हम अपना नया गाँव बसाएंगे'। दलितों द्वारा नया गाँव बसाने की बात करना 'अमरदेसवा' की तरह एक यूटोपिया तो हो सकता है, लेकिन इसकी व्यावहारिकता में अनेक समस्याएँ हैं, जिनकी तह में कहानीकार नहीं जा पाया है।बहरहाल!

राजेश कुमार बौद्ध की कहानी - 'आतंक' ठाकुरों के अत्याचार और गाँव भर के दलितों में उनके आतंक की कहानी है। पुलिस-प्रशासन में अपने लोगों के बूते गाँव के ठाकुर गाँव की दलित स्त्रियों के साथ अमानवीय और अपमानजनक हिंसा का व्यवहार करते हैं और दलित समाज उनके आतंक के मारे उनका विरोध तक कर पाने में असमर्थ है। अंततः एक दलित स्त्री विमला साहसपूर्वक उनका विरोध करती है और सात ठाकुरों की हत्या करके जेल चली जाती है। कहानी जातिवादी समाज व्यवस्था के इस यथार्थ को सामने लाती है कि ऊँची जाति वाले तमाम अमानवीयता बरतने के बावजूद आरोपमुक्त हैं और दलित स्त्री अथवा पुरुष अपने सम्मान की रक्षा करने का अपराधी! जातिवादी समाज की यह विडंबना दुर्भाग्य से हमारे समाज का सच है!

आजाद भारत के लोकतंत्र में दलितों की बदलती हुई स्थिति और उससे तालमेल न बिठा पाने वाली प्रतिगामी सवर्ण मानसिकता को अभिव्यक्त करने वाली एक सशक्त कहानी है रत्नकुमार सांभरिया की कहानी 'फुलवा'। किसी समय गाँव में जमींदार की टहलुआई करने वाली फुलवा का

बेटा पढ़-लिख कर एस.पी. बन जाता है और फुलवा अपने बेटे-बहू के साथ शहर के भव्य सरकारी मकान में रहने लगती है। दूसरी तरफ, जमींदार की जमीन उसके पाँच बेटों में बँटकर थोड़ी-थोड़ी रह जाती है, जमींदारी चली जाती है। गाँव के जमींदार का लड़का रामेश्वर अपने बेपढ़े-लिखे बेटे को नौकरी में लगवाने के लिए सिफारिश करने शहर आता है अपने गाँव के पंडित माताप्रसाद से मिलने के लिए। पंडित माताप्रसाद का मकान ढूंढ पाने में असफल रामेश्वर फुलवा के घर चला जाता है। फुलवा की स्थिति का जैसा अनुमान उसने किया था, उसके बिल्कुल उलट उसने पाया। गाँव की दलित फुलवा जो उसकी हवेली में बेगार खटती थी, यहाँ रानी की तरह रहती है! फुलवा की हैसियत देखकर रामेश्वर जल-भुन जाता है। उसका जातिवादी आग्रह एक दलित को उससे लाख दर्जे अच्छी हालत में देख कर जैसे फुफकारने लगता है। जब वह पंडित माताप्रसाद की विधवा से मिलता है तब उसका जातिवादी आग्रह उसकी बातों से फूट पड़ता है- "दादी, फुलवा चाहे सोने की हो जाए, रहेगी उसी जात की। मैंने तो उसके घर का पानी तक नहीं पिया। धर्म भ्रष्ट होने से मर जाना अच्छा समझता है, रामेश्वर सिंह।"[35]

जाति के झूठे अभिमान से भरा रामेश्वर सिंह फुलवा के आतिथ्य और सत्कार को ठुकरा देता है, लेकिन अंततः परिस्थितिवश और अपनी जरूरत और गरज के आगे लाचार होकर वह फुलवा के पास जाता है। रत्नकुमार सांभरिया की यह कहानी दलितों की बदलती सामाजिक स्थिति के साथ-साथ जातिवादी समाज के बदलते रवैये को पाठकों के सामने रखती है। जातिवादी समाज के रवैये में परिवर्तन कुछ तो स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में घटित होता है और कुछ लाभ और गरज के दबाव में। पंडित माताप्रसाद की विधवा और फुलवा का परस्पर व्यवहार और संबंध स्वाभाविक तौर पर जाति की सीमा को तोड़ता है, जबकि रामेश्वर अपनी गरज से जाति की मर्यादा तोड़ने पर मजबूर होता है। यह कहानी गाँव और शहर में जातिवाद के बदलते समीकरण को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करती है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में गैर-दलित लेखकों ने भी दलित मुद्दों पर खूब लिखा है। दलित साहित्य के लिए स्वानुभूति की शर्त्त की अनिवार्यता को यदि किनारे कर दें तो गैर-दलित

लेखकों की दलित संबंधी कहानियाँ दलित साहित्य को समृद्ध ही करती हैं। ऐसी ही एक कहानी है मधुकर सिंह की कहानी 'पहली मुक्ति'। 'पहली मुक्ति' जातिवादी समाज व्यवस्था में ऊँची जाति के द्वारा दलित जातियों के शोषण और उत्पीड़न तथा दलितों के भीतर पैदा हो रहे आक्रोश और प्रतिरोध को अभिव्यक्त करने वाली कहानी है। ऊँची जाति के गजानन बाबू गाँव में दबंगई और लंपटई के लिए मशहूर हैं। उनके पास पैसा है, रसूख है, लिहाजा उनके अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत किसी में नहीं है। दलित जाति का रघुनी अपने पिता की मृत्यु के बाद गजानन बाबू का बँधुआ टहलुआ बनता है और गाँव से शहर तक उनकी सेवा में लगा रहता है। रघुनी के मन में गजानन बाबू के प्रति नफरत तो है, लेकिन इस नफरत को आक्रोश और प्रतिरोध में बदलने में मोहन रघुनी की मदद करता है। शहर में मोहन के साथ रहते हुए रघुनी के भीतर और मुहल्ले के अन्य दलितों के भीतर प्रतिरोध की चेतना का विकास होता है और गजानन बाबू के शोषण का प्रतिकार भी होता है। इसी बीच कोई अज्ञात व्यक्ति गजानन बाबू को छुरा मार देता है और अंततः उनकी मौत हो जाती है। पूरी कहानी में ऊँची जाति के लोगों की सत्ता और शासन से साँठ-गाँठ और तमाम तरह के जातिवादी राजनीतिक दाव-पेंच की बारीकियों को देखा समझा जा सकता है।

जातिवाद से लड़ने में भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों की भूमिका को लेकर प्रायः बहसें होती रही हैं। एक जमाने तक कम्युनिस्ट पार्टियाँ औद्योगीकरण के रास्ते वर्ग-विभाजन और फिर वर्ग-संघर्ष की स्वाभाविक प्रक्रिया के तहत भारतीय समाज में क्रांति लाने का स्वप्न देखती रहीं। लिहाजा ये भारतीय समाज की वास्तविक नियामक- जाति व्यवस्था की उपेक्षा करती रहीं। कई मौकों पर कम्युनिस्ट पार्टियों ने सामाजिक न्याय की लड़ाइयाँ लड़ीं, लेकिन तब भी वर्ग-संघर्ष की जगह जाति-संघर्ष की सच्चाई को वे स्वीकार करने से बचती रहीं। जातिवाद से मुक्ति की लड़ाई में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों और कम्युनिस्ट आंदोलन की भूमिका को बहस के केंद्र में रखकर मधुकर सिंह ने एक कहानी लिखी है- 'पाठशाला'। इस कहानी का नायक हीरामन दलित है, जिसके माध्यम से कहानीकार अपनी बात पाठकों तक पहुँचाता है। कहानी के एक अन्य पात्र प्रोफेसर अतुल ब्राह्मण हैं और बड़े कम्युनिस्ट नेता हैं। हीरामन और प्रोफेसर अतुल की बहसों के माध्यम से कहानीकार जातिवाद के खिलाफ संघर्ष में भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों की भूमिका को सामने रखता है।

हिरामन प्रोफेसर अतुल से कहता है- "हमारे यहाँ कम्युनिस्ट पार्टियाँ सामाजिक विषमताओं से कब लड़ीं? जाति और वर्ण के खिलाफ कब संघर्ष किया? और वर्ग-संघर्ष की बात करने लगे।"[36]

यह बात बराबर कही जाती रही है कि भारत की तमाम वामपंथी पार्टियों में शीर्ष पर ब्राह्मण अथवा ऊँची जातियों के लोग रहे हैं। जातिवाद वहाँ भी 'ऑपरेट' हो रहा है। जाति मुक्ति की लड़ाई के प्रति वामपंथी पार्टियों की उदासीनता का एक कारण संभवतः यह भी रहा है। मधुकर सिंह अपनी इस कहानी में इस बात को भी स्पष्ट करते हैं।

सत्यप्रकाश की कहानी 'दलित ब्राह्मण' की चर्चा ऊपर की गई है। अपनी उस कहानी में सत्यप्रकाश एक दलित व्यक्ति के ब्राह्मणवादी अफसरशाही की गिरफ्त में जाने की जिस तरह से आलोचना करते हैं, उसी तरह काशीनाथ सिंह अपनी एक कहानी 'वे तीन घर' में एक ऐसे दलित युवक विपत की कहानी कहते हैं जो छात्र जीवन में दलित समाज के साथ हो रहे अत्याचार के प्रति आक्रोश से भरा है, मार्क्सवाद से प्रभावित है, उसके भीतर बदलाव की व्यापक चेतना है, लेकिन आगे चलकर उसे राजनीति की 'मलाई' का चस्का लगता है और वह धीरे-धीरे वह सब कुछ करने लगता है जो उसकी नज़र में 'सभ्य समाज' वाले करते हैं। उसने इसी कारण घर भी उन 'सभ्य लोगों' के बीच ही लिया जहाँ केवल तीन घरों को छोड़कर और कोई 'आलतू-फालतू' लोग नहीं रहते।

इसी कहानी का एक दूसरा किरदार है मदन। मदन जाति का ब्राह्मण है और विपत का बचपन का दोस्त है। विपत की दोस्ती ने "इनके जीवन का ढर्रा ही बदल दिया था। उन्हीं के चलते मदन ने कभी जनेऊ नहीं रखी, 'कच्ची-पक्की' के चक्कर में नहीं पड़े, ...उन्होंने ब्राह्मणों में कुजात कहलाना पसन्द किया और सबसे अपना नाता तोड़ लिया।"[37] मदन ने अपने को 'डिकास्ट' किया और जीवन भर करता रहा।

कहानी का कॉन्ट्रास्ट यही है कि जाति के जिस सामाजिक दंश से लड़ने के लिए ब्राह्मण जाति का मदन अपने को 'डिकास्ट' करता है, वहीं दूसरी तरफ उसका प्रेरणा स्रोत विपत अपने ही दलित समाज से दूरी बनाकर 'सभ्य समाज' में अपने लिए एक सुरक्षित कोना ढूंढ़ने और अपने को 'अपग्रेड' करने के चक्कर में लग जाता है। एक दूसरा कान्ट्रास्ट भी है। अपने दलित समाज से कटकर वह जिन सफेदपोश लोगों के बीच उनकी तरह का बनकर अपने को सामाजिक रूप से 'अपग्रेड' करना चाहता है, उन सफेदपोशों के बच्चे भी विपद के बच्चों के साथ नहीं खेलते! विपत यह समझता है कि चमार होने का जो टैग उसके साथ लगा है, वह छूटेगा नहीं, फिर भी वह जीवनशैली बदलकर 'उन जैसा' बन जाने की कोशिश में कुछ भी बाकी नहीं छोड़ता। विपत इस बात को समझ नहीं पाता कि व्यक्तिगत मुक्ति संभव ही नहीं, मुक्ति सामाजिक ही हो सकती है, सामाजिक मुक्ति में ही व्यक्तिगत मुक्ति संभव है। विपत अकेला भाग रहा है मुक्ति की चाहत में, लेकिन वह समझ नहीं पाता कि वह मुक्ति की तरफ नहीं, बंधन और दलदल की तरफ बढ़ रहा है। मदन अपने मित्र विपत को यही बात समझाता भी है- ''मुझे लग रहा है कि जहाँ हम रह के बरबाद हो चुके हैं, तुम उधर ही जा रहे हो, और अफसोस इस बात का नहीं है कि तुम वहाँ जाना चाह रहे हो, अफसोस यह है कि वहाँ जाने में तुम खुशी और संतोष का अनुभव कर रहे हो।''[38]

काशीनाथ सिंह की यह कहानी अपने व्यापक प्रभाव में दलित आंदोलन के भटकाव और उसके आत्मघाती 'ट्रेंड' की ओर भी संकेत करती है।

दलित साहित्य में कहानियों की तुलना में उपन्यास लेखन का 'ट्रेंड' अपेक्षाकृत कम है। लगभग 35-40 वर्षों के दलित लेखन में उपन्यासों की संख्या काफी कम है। दलित उपन्यास लेखन की शुरुआत भी अपेक्षाकृत देर से हुई। 'छप्पर' को हिन्दी का पहला दलित उपन्यास माना जाता है, जिसका प्रकाशन 1994 में हुआ।

दलित साहित्य अंबेडकरवादी चेतना को दलित साहित्य की कसौटी मानता है। अंबेडकर दलितों के उत्थान के लिए शिक्षा को बहुत जरूरी मानते हैं। उनका दलितों के लिए संदेश है 'शिक्षित बनो, संगठित बनो, संघर्ष करो'। 'छप्पर' उपन्यास में अंबेडकर के सिद्धांत का असर बहुत साफ देखा जा सकता है। उपन्यासकार जयप्रकाश कर्दम ने अपने एक लेख में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है- "हजारों साल से दलितों के अन्याय, अपमान, उत्पीड़न और अभाव के पीछे प्रमुख कारण उनका अशिक्षित होना रहा है।...बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर ने बहुत गहराई और गंभीरता से इस तथ्य को समझा था और दलित समाज को समझाया था कि शिक्षित हुए बिना उनके जीवन में परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं है। बाबा साहब अंबेडकर के जीवन और विचारों से प्रोत्साहित और प्रेरित दलित साहित्य में दलित शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण और केंद्रीय विषय है।"[39]

'छप्पर' उपन्यास के अधिकांश दलित पात्र शिक्षा के महत्व को लेकर जागरूक दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास का नायक चंदन, उसके माता-पिता रमिया और सुक्खा तथा शहर में चंदन का मकान मालिक हरिया- ये सभी दलित पात्र इस बात को अच्छी तरह महसूस करते हैं कि दलितों की मुक्ति का रास्ता शिक्षा से ही खुल सकता है।

'छप्पर' उपन्यास के शुरुआती हिस्से में उपन्यासकार ने जातिवादी सामाजिक व्यवस्था के यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। इस जातिवादी समाज व्यवस्था में ब्राह्मणों की सुविधाजनक स्थिति को रेखांकित करते हुए उपन्यासकार लिखता है- "किसी और मुल्क या गैर जाति में पैदा हुआ होता तो भूखा मरता काणाराम, लेकिन धन्य हो भारत की समाज व्यवस्था कि यहाँ पर ब्राह्मण भूखा मर ही नहीं सकता। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में ब्राह्मण उससे टैक्स वसूल करता है। चाहे कितना ही अशिक्षित, अयोग्य और अक्षम क्यों ना हो लेकिन एक ब्राह्मण, पंडित पुरोहिताई करके सुख और सम्मान से जी सकता है।"[40]

जातिवादी समाज विभिन्न जातियों के कर्तव्याकर्तव्य तय कर देता है। ऊँची जातिवाले नीची जातिवालों को अपने से आगे बढ़ते हुए किसी भी तरह से नहीं देखना चाहते। नीची जातिवालों का

कर्तव्य यही है कि ठाकुरों-ब्राह्मणों की जी हुजूरी करते रहें और उनके शोषण को प्रसाद मानकर चुपचाप ग्रहण करते रहें! ऐसे में किसी दलित युवक का जातिवादी समाज के नियमों को चुनौती देना तो एक अनहोनी बात है। उपन्यास में चंदन का पढ़ाई के लिए शहर चला जाना ऐसी ही अनहोनी बात थी- "चन्दन जब शहर पढ़ने गया था तो जैसे भूचाल आ गया था सारे गाँव में। ब्राह्मण-ठाकुर सबके कान खड़े हो गए थे।...ब्राह्मण और ठाकुरों से लेकर लाला-साहूकार तक सब हैं इस गाँव में और बड़े-बड़े पैसे और हैसियत वाले, पर आज तक किसी का बेटा शहर पढ़ने नहीं गया। लेकिन सुक्खा चमार का बेटा पढ़ने शहर चला गया। नाक कट गई सबकी। सबके सिर पर मूत दिया एक चमार ने। पहले हल्की-हल्की सुगबुगाहट हुई लोगों में फिर स्वर तीखा होता गया।"[41]

बेटे को पढ़ने के लिए शहर भेजने के 'समाज-विरुद्ध' और 'शास्त्र-विरुद्ध' कृत्य के लिए सुक्खा को ठाकुर साहब और काणे पंडित का कोपभाजन बनना पड़ता है। चंदन का ऊँची पढ़ाई के लिए शहर जाना जातिवादी समाज के ठेकेदारों को पूरे समाज का अपमान जान पड़ता है।

सुक्खा को इस अपराध की सजा मिलती है सवर्ण समाज द्वारा। तमाम तरह के सामाजिक बहिष्कार के अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है और अंततः सुक्खा वह गाँव छोड़कर दूसरे गाँव चले जाने के लिए मजबूर हो जाता है। जातिवादी समाज का यह शोषणपरक यथार्थ उपन्यास के प्रारंभिक हिस्से में अभिव्यक्त हुआ है।

'छप्पर' उपन्यास का नायक चंदन अंबेडकरवादी चेतना-संपन्न युवक है। दलितों की शिक्षा और शिक्षा के जरिए दलित समाज के उत्थान तथा उसकी मुक्ति के लिए चंदन आंदोलनात्मक प्रयास करता है। शहर आकार चन्दन अपनी पढ़ाई जारी रखते हुए दलितों के लिए स्कूल चलाता है और दलितों को जागरूक बनाने के लिए उन्हें हर तरह से समझाता है। सदियों से पुरोहितों और धर्मग्रंथों के बहकावे में अपनी दुर्गति को अपनी नियति मान कर बैठे लाचार दलितों की चेतना को जगाने के लिए चंदन उन्हें विस्तार से समझाता है- "समाज धर्म द्वारा प्रेरित और संचालित है, हमारी सामाजिक स्थिति धार्मिक आदेशों का ही परिणाम है। 'धर्म-ग्रंथ' ही हमारे शोषण और अत्याचार

की जड़ें हैं। इन जड़ों को उखाड़ फेंकने की जरूरत है और उसके लिए जरूरी है कि लोग अधिक-से-अधिक पढ़ें ताकि इन धर्म ग्रंथों में निहित अन्याय और असमानता के दर्शन को समझ सकें तथा अन्याय, शोषण और असमानता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए स्वयं को तैयार कर सकें।"[42]

इस उपन्यास की एक बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें लेखक जातिवादी शोषण की समस्या का अतिसरलीकृत समाधान प्रस्तुत करता है। चंदन के द्वारा दलितों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण दलितों में आत्मसम्मान और प्रतिरोध की चेतना जागृत होती है- यहाँ तक तो बात समझ में आती है। लेकिन दलितों के चेतना संपन्न होते ही पूरा जातिवादी शोषण तंत्र उनके सामने घुटने टेक देता है (!)- यह चमत्कार कैसे घटित हो जाता है, लेखक ने नहीं बताया। 'छप्पर' उपन्यास का संदेश ग्रहण किया जाए तब तो यही लगता है कि दलितों के शिक्षित होते ही जातिवादी शोषण का अभेद्य किला भरभराकर गिर जाएगा। शिक्षा पर इतना अतिविश्वास तो बाबासाहब को भी नहीं था। उन्नीस सौ नब्बे के बाद के गंभीर दलित लेखक के द्वारा जातिवाद के अंत का इतना सतही चमत्कारिक समाधान देखकर आश्चर्य होता है। समाज में ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन चमत्कार के अलावा और किसी भी तरह से हो सकता है क्या? इस चमत्कार के एक नहीं कई उदाहरण उपन्यास में देखे जा सकते हैं।[43]

लेखक इन चमत्कारों के अलावा चिरपरिचित 'हृदय-परिवर्तन' की तकनीक का भी सहारा लेता है। ठाकुर साहब का हृदय परिवर्तित हो जाता है और "अगले ही दिन गाँव की पंचायत बुलाई ठाकुर साहब ने और केवल अपने गुजारे लायक थोड़ी-सी जमीन अपने पास रखकर अपनी सारी जमीन गाँव के गरीब और खेतीहीन मजदूरों में बाँट दी उन्होंने और दूसरे लोगों की तरह अपने हाथों से खेतों में काम करना शुरू कर दिया।"[44] ठाकुर साहब सदाशयता की हद तो तब कर देते हैं जब अपनी हवेली छोड़कर एक छोटे से मकान में रहने लगते हैं और सुक्खा को 'ठाकुर साहब' संबोधन करने से मना करके खुद को हरनाम बुलाने का आग्रह करते हैं! ध्यान देने की बात है कि हृदय परिवर्तन की यह तकनीक वर्षों पुरानी, तीस के दशक की गाँधीवादी तकनीक है, जिसके लिए

दलित विमर्शकारों ने प्रेमचंद की काफी आलोचना भी की है। जयप्रकाश कर्दम तो हृदय परिवर्तन करवाने की होड़ में प्रेमचंद को भी पीछे छोड़ देते हैं!

उमराव सिंह जाटव का उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' 2008 में प्रकाशित हुआ। दलित उपन्यासों में यह कुछ हद तक परिपक्व कहा जा सकता है। इस उपन्यास में उमराव सिंह जाटव दलित समस्या के प्रति आर्यसमाजी और गाँधीवादी 'अप्रोच' और उनके छद्म की बारीक आलोचना करते हैं। उपन्यासकार धर्मांतरण की भी असलियत को सामने रखता है। गैर-दलित उपन्यासकारों के यहाँ तो धर्मांतरण की आलोचना पहले से मौजूद है, लेकिन दलित उपन्यासकारों के यहाँ धर्मांतरण की आलोचना प्रायः नहीं मिलती। 'थमेगा नहीं विद्रोह' उपन्यास की पात्र और उपन्यास के काफी हिस्से की 'नैरेटर' चावली अपने बाबा के बारे में बताती है- "बाबा जो धर्म की दमनकारी सोच को धकियाते हुए अपने भंगी के काम को त्याग कर आरियासमाजी बने थे वही ईसाई होकर भी आखिरकार फिर से उसी भंगी की 'जून' में जा पड़े।"[45]

'थमेगा नहीं विद्रोह' उपन्यास एक और कारण से भी दूसरे दलित उपन्यासों से अलग है। यह उपन्यास केवल ऊँची जातियों द्वारा दलितों के शोषण-उत्पीड़न को विषय नहीं बनाता, बल्कि उससे आगे बढ़कर दलित समाज के अंतर्विरोधों को भी पहचानने की कोशिश करता है। यह बात ठीक है कि भारतीय जातिवादी समाज ने दलितों का जबर्दस्त शोषण किया है, लेकिन आजाद भारत में लोकतान्त्रिक प्रक्रिया और सरकारी नीतियों, आरक्षण, आदि का लाभ उठाते हुए दलित समुदाय के जो लोग थोड़ा आगे बढ़ सके, उन्होंने अपने दलित समाज के लिए क्या और कितना किया? उपन्यासकार इस सवाल को सामने रखते हुए दलित विमर्श की ओर से आत्मालोचन करता हुआ लिखता है- "लेकिन वे बीसियों-तीसियों पुलिस अधिकारी, बैंक अधिकारी, प्रधानाध्यापक, शिक्षक, वकील, सेना में, पुलिस में भरे पड़े लोग जो इसी जाटव मुहल्ले से उपजे हैं? सब कुछ गया-गुजरा ही नहीं है इस जटवाड़े में। लेकिन वे बीसियों-तीसियों पुलिस अधिकारी, बैंक अधिकारी,

प्रधानाध्यापक, शिक्षक, वकील, सेना में, पुलिस में भरे पड़े लोगों ने पलटकर क्या दिया है इस मुहल्ले को, इस जाति को? पढ़े-लिखे, मरखने बने बेरोजगार लोगों का हुजूम! इन्होंने केवल अपने झोपड़ों को घर बनाने को ही जीवन का चरम एवं परम उद्देश्य तथा इति समझ लिया है। जो पिछड़ गए हैं, छूट गए हैं उनके दर्द का कोई बोझ इनकी आत्मा पर नहीं है। संतुष्टि की एक गहरी साँस- हम बच गए उस ज़लालत भरी ज़िंदगी से, बस, इतना-भर इनका उद्देश्य! जयचंद से भी बड़े अपराधी इन लोगों को बाबा साहेब कभी क्षमा नहीं करेंगे।"[46]

दलित साहित्यकारों की आत्मालोचन की यह मुद्रा दलित साहित्य का अगला और परिपक्व चरण है।

कैलाश चंद चौहान अपने उपन्यास 'सुबह के लिए' (2011) में दलित समस्या और जातिवाद की समस्या को अपेक्षाकृत अधिक संजीदगी से उठाते हैं। उपन्यासकार कैलाश चंद चौहान भी दलितों के उत्थान के लिए शिक्षा को ही सबसे जरूरी और कारगर माध्यम मानते हैं। इस अर्थ में 'छप्पर' उपन्यास तथा प्रस्तुत उपन्यास में बहुत कुछ साम्य है।

कैलाश चंद चौहान अपने उपन्यास में जाति की सामाजिक निर्मिति के सवाल को भी उठाते हैं। उपन्यास का नायक विक्रम और एक अन्य पात्र हेमंत एक ही पिता काले, जो कि वाल्मीकि जाति का है, के जैविक पुत्र हैं। विक्रम की माँ फूलो काले की पत्नी है और हेमंत की माँ सोनी ठाकुर बलदेव सिंह की पत्नी। सोनी का पति बलदेव सिंह संतानोत्पत्ति के लिए अक्षम है, लेकिन बलदेव सिंह के परिवार वालों को खोट सोनी में नजर आता है और वे बलदेव सिंह की दूसरी शादी की तैयारी में लग जाते हैं। परिवार को वारिस चाहिए। लिहाजा सोनी अपने घर और खेत पर काम करने वाले काले का इस्तेमाल कर अपने परिवार को वारिस दे देती है। बलदेव सिंह और उसका परिवार सोनी और कालो के बेटे हेमंत को बलदेव सिंह का ही पुत्र समझता है। बहरहाल!

विक्रम और हेमंत दोनों वाल्मीकि जाति के पिता की जैविक संतान हैं, लेकिन दोनों की अलग-अलग पारिवारिक-सामाजिक स्थिति में दोनों की अलग-अलग जातियाँ और सामाजिक हैसियत निर्धारित हो जाती हैं- एक चूहड़ा बन जाता है और दूसरा ठाकुर! सोनी को संबोधित करते हुए उपन्यासकार लिखता है- "वह समझ नहीं पा रही थी कि क्यों इंसानों में खून का असर नहीं, संस्कारों का असर होता है। जन्म लेते समय सब एक जैसे होते हैं, बिल्कुल निश्छल, कोमल, निष्कपट, कोई दुर्भावना नहीं, कोई जाति, धर्म नहीं। बच्चे जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, परिवार समाज के लोग यह सब सिखा देते हैं। उनके दिमाग में घोलते हैं। बच्चे उन्हें ग्रहण करते हुए बड़े होते हैं।"[47]

दलितों की उन्नति और उनके भीतर आत्मसम्मान की भावना को पैदा होते देखकर अगड़ी जातियों की भौंहें तनने लगती हैं। उन्हें अपना वर्चस्व टूटता-सा मालूम पड़ने लगता है। कारण स्पष्ट है। उनका ऊँचापन तो इन्हें नीच बनाए रखने में ही है, इसलिए उनकी पूरी कोशिश होती है कि ये दलित किसी भी प्रकार सिर न उठाने पाएँ। इस उपन्यास का नायक विक्रम शहर से इंजीनियरिंग की डिग्री लेकर सरकारी इंजीनियर नियुक्त हो गया है। यह बात गाँव की ऊँची जातिवालों को पच नहीं रही। वे बात-बात पर विक्रम को जातिसूचक गालियाँ देते हैं और मारपीट तक करते हैं और दलितों की ओर से किसी भी तरह के प्रतिरोध को बर्दाश्त करना नहीं चाहते।

इस उपन्यास की खास बात यह है कि यह जातिवाद और दलित समस्या पर बात करते हुए केवल अगड़ी जातियों के जातिवादी रवैये को ही सामने नहीं रखता, बल्कि दलित जातियों के भीतर के जातिवाद और आपसी एकजुटता के अभाव को भी रेखांकित करता है। वाल्मीकि (चूहड़ा) दलितों में भी दलित जाति मानी जाती है। चमार इन्हें अपने से भी दलित मानते हैं और कई बार इनके साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा अगड़ी जातियाँ चमारों के साथ करती हैं। इस तरह दलितों के बीच भी आपसी एकजुटता बनी नहीं रहती। प्रस्तुत उपन्यास में काले और फूलो के विवाह का प्रसंग है, जिसमें दूल्हे काले की घुड़चढ़ी को लेकर ऊँची जातियों और चूहड़ों में तनाव

पैदा हो जाता है। इस प्रसंग में उपन्यासकार जो कुछ लिखता है, उससे दलितों के आपसी फूट और उनके भीतर के जातिवाद को देखा जा सकता है- "गाँव में वाल्मीकियों के घर कम थे। दलितों की संख्या का हिसाब लगाया जाए तो उनकी संख्या कम नहीं थी, सभी एकजुट होते तो मुकाबला किया भी जा सकता था- लेकिन सभी अलग-थलग थे। 'भई चूड़ों के साथ विवाद है, इसलिए वे ही निबटें।' यह सोचने वालों की संख्या ज्यादा थी।"[48]

इन सबके अलावा इस उपन्यास की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जातिवाद और दलित समस्या के किसी सरलीकृत समाधान की कोई पेशकश नहीं की गई है। उपन्यासकार किसी भी किस्म के नकली आदर्शवाद से बचते हुए समाज में दलितों की वास्तविक स्थिति को सामने रख देता है। स्वयं दलित समाज के भीतर के अंतर्विरोधों को भी उपन्यासकार सामने रखता है। अन्य कई दलित उपन्यासकारों की तरह कैलाश चंद चौहान किसी भी तरह के हृदय परिवर्तन का सहारा नहीं लेते। यह उपन्यासकार की व्यावहारिक दृष्टि का सबसे बड़ा प्रमाण है।

भारतीय राजनीति में उन्नीस सौ नब्बे के बाद का दौर जाति के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है। 1989 में मंडल आयोग की रिपोर्ट आई, जिसमें पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफ़ारिश की गई। इससे शिक्षा, नौकरियों और सत्ता पर कब्जा जमाए बैठी ऊँची जातियों में जबर्दस्त असंतोष फूट पड़ा। बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन हुए। आरक्षण पर नए सिरे से बहसें तेज हुईं। समाज का जातिवादी चेहरा खुलकर सामने आया।

इसके अलावा जो दूसरी बात महत्वपूर्ण है वह है भारतीय राजनीति में दलित-पिछड़ी जातियों का उभार। नब्बे के दशक से ही भारतीय राजनीति में दलित-पिछड़ी जातियों की भागीदारी की पहल होनी शुरू हो गई। आजाद भारत के लोकतान्त्रिक मूल्यों का असर तकरीबन चालीस वर्षों बाद अंततः दिखना शुरू हो गया। अब जाकर भारतीय लोकतन्त्र के लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई जहाँ समाज के हर हिस्से की भागीदारी सुनिश्चित हो सकी। इस परिघटना ने भारतीय समाज और राजनीति का चेहरा बहुत हद तक बदला। जाहिर है राजनीति में दलितों-पिछड़ों का यह उभार पहले से सत्ता पर कब्जा जमाईं ऊँची जातियों की आँख की किरकिरी साबित

हो रहा था, लिहाजा उसकी प्रतिक्रिया भी अलग-अलग ढंग से सामने आ रही थी। नब्बे के बाद के हिन्दी कथा साहित्य में यह परिदृश्य दिखाई पड़ता है।

1991 में लिखी रमेश उपाध्याय की कहानी 'फासी-फंतासी' पिछड़ी जाति को दिए जाने वाले आरक्षण की घोषणा और उसके विरोध में बड़े पैमाने पर हो रहे आंदोलनों, मार-पीट आदि को केन्द्र में रखकर ही लिखी गई है। पिछड़ी जाति के लिए आरक्षण के विरोध में ऊँची जाति के युवकों-छात्रों का आंदोलन और उस परिस्थिति में एक पिछड़ी जाति के लड़के (सुनील वर्मा) और एक ब्राह्मण लड़की (वंदना शर्मा) का प्रेम करना इस कहानी में संघर्ष की सृष्टि करता है।

जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'नो बार' में भी मंडल आयोग की सिफ़ारिशों के लागू होने और दलितों-पिछड़ों के राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के बाद की परिस्थितियों में ऊँची जातियों के 'फ्रस्ट्रेशन' को देखा जा सकता है। कहानी का मुख्य पात्र राजेश दलित है। एक वैवाहिक विज्ञापन में 'कास्ट नो बार' देखकर वह लड़की वालों से संपर्क करता है। सारी बातें लगभग तय हो ही गई थीं कि एक दिन अपने होने वाले ससुर के साथ राजनीति पर बात करते हुए राजेश ने काशीराम और मायावती की राजनीति के समर्थन में कुछ बातें कह दीं। लड़की के पिता को राजेश के दलित होने का संदेह हो गया और बात यहीं गड़बड़ा गई।

बहरहाल, लड़की का पिता ब्राह्मण है और भारतीय राजनीति में दलितों-पिछड़ों के उभार से खासा क्षुब्ध है। दलितों-पिछड़ों की राजनीति और मंडल आयोग की सिफ़ारिशों के लागू होने पर प्रतिक्रिया करते हुए वह कहता है- "ये सब जातिवाद फैला रहे हैं, समाज को तोड़ रहे हैं। जाति की राजनीति कर रहे हैं।...अच्छा खासा सब कुछ चल रहा था। समाज प्रोग्रैसिव हो रहा था। जातिवाद अपनी मौत मर रहा था, लेकिन वी.पी. सिंह के बच्चे ने मसीहा बनने के चक्कर में मंडल कमीशन लागू कर जातिवाद को फिर से जिंदा कर दिया। ...लालू और मुलायम की तो फिर भी गनीमत है।

कांशीराम और मायावती को देखो, ये तो बिना जाति के बात ही नहीं करते। वी.पी. सिंह ने आग लगाई, ये आग में घी डालकर उसे भड़का रहे हैं।"[49]

जब ऊँची जातियाँ दलितों-पिछड़ों का हक मारकर सत्ता पर पूरी तरह कब्जा जमाए बैठी थीं, तब समाज प्रोग्रेसिव था और जातिवाद अपनी मौत मर रहा था, लेकिन जब दलित-पिछड़े अपने हक की लड़ाई लड़ते हुए सत्ता में थोड़ी-बहुत जगह हासिल कर पाने की स्थिति तक पहुँचे तो अचानक जातिवाद फैलने लगा! कैसी भ्रामक दलील है यह! लेकिन यह केवल कहानी की बात नहीं है। हमारा जातिवादी समाज इसी तरह की भ्रामक दलीलों के सहारे जीता रहा है। इन्हीं भ्रामक दलीलों का पर्दाफाश जब दलित-पिछड़ी जातियों ने करना शुरू किया तो अगड़ी जातियाँ तिलमिला उठीं। इसी जातिवादी तिलमिलाहट की अभिव्यक्ति नब्बे के बाद की कई कहानियों में मिलती है।

हृषिकेश सुलभ की कहानी 'पांडे का पयान' 1990 के बाद के बदलते सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में जातिवादी समीकरणों को समझने के लिहाज से काफी महत्वपूर्ण है। कहानी का मुख्य पात्र तिरलोचन पांडे एक पारंपरिक ग्रामीण जातिवादी मानसिकता का प्रतिनिधि किरदार है। तिरलोचन पांडे आर्थिक तंगी से परेशान होकर अपने गाँव से भागकर पटना अपने गोतिया के काका नटवर पांडे के यहाँ पहुँचते हैं, जहाँ उनका सामना जातिवाद के शहरी संस्करण से होता है। पारंपरिक ग्रामीण समाज और नब्बे के बाद के शहरी और ग्रामीण समाज की जातिवादी संरचना में बहुत कुछ बदल चुका है। यह कहानी तिरलोचन पांडे के द्वंद्व के जरिए इस बदलाव को बड़ी बारीकी और कुशलता से पकड़ती है।

अस्सी के बाद बिहार की राजनीति में पिछड़ों का उभार बड़ी तेजी से होता है और नब्बे के बाद तो बिहार की राजनीति का जातीय समीकरण एकदम उलट जाता है।[50] इस कहानी में इस बदले हुए राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य को बहुत ही सूक्ष्मता से कहानीकार ने प्रकट किया है। तिरलोचन पांडे मानसिक द्वंद्व की प्रक्रिया में आत्मालाप करते हैं- "जबसे इन छोट जातियों की

सरकार बनी है, गाँव-जवार में साले गरदा उड़ाए फिर रहे हैं। सरकारी नौकरी-चाकरी में अधिया का बँटवारा हो गया। हैजा की तरह सकल समाज में मंडल का रोग फैल गया।''[51]

पिछड़ों-दलितों के सामाजिक-राजनीतिक उभार से तथाकथित ऊँची जातियों में व्याप्त असंतोष और घृणा को इस कहानी के माध्यम से देखा-समझा जा सकता है। तिरलोचन पांडे की छटपटाहट द्रष्टव्य है- ''गाँव-जवार में अजब हवा बह रही है। पंडित जात को जड़ से मिटाने पर तुले हैं सब। जीवछा दुसाध के बेटा मनोहरा और लालचनवा अहीर के बेटा मदना की नेतई से सारा गाँव बेहाल है। एक जमाना हम लोगों के दादा-परदादा का था कि सरऊ सब दुआर के सामने से मूंडी नवाकर आता-जाता था और अब तो बीच बाजार में कुरता-पैजामा झाड़कर निकलता है सब।''[52]

आजादी के पहले के साहित्य में जातिवादी वर्चस्व और शोषण के खिलाफ दलितों-पिछड़ों के प्रतिरोध का जो स्वर आकांक्षा के रूप में अभिव्यक्त हुआ था, वह स्वातंत्र्योत्तर, खासकर उन्नीस सौ अस्सी के बाद के साहित्य में सामाजिक यथार्थ के रूप में अभिव्यक्त होने लगा। प्रेमचंद ने गोदान में सिलिया के बाप के द्वारा मातादीन के मुँह में हड्डी ठुँसवाकर सामाजिक यथार्थ का नहीं, बल्कि सामाजिक भवितव्य का संकेत किया था। हृषिकेश सुलभ की इस कहानी में देवना दुसाध की जनाना रमपतिया के साथ रासलीला करते हुए धरे गए कन्हैया पांडे को ''दुसाध टोला वालों ने कूट दिया।...दुआर पर जाकर माई-बहन कर गया। एक हजार रुपया दंड लगाया।''[53] नब्बे के दशक के उत्तर भारतीय समाज के संदर्भ में यह भवितव्य का संकेत नहीं, बल्कि यथार्थ है, जो बदलते हुए सामाजिक-राजनीतिक समीकरणों का नतीजा है।

यह कहानी जहाँ एक तरफ गाँव के बदलते सामाजिक-राजनीतिक महौल में पिछड़ों-दलितों के साथ ऊँची जातिवालों के संघर्ष को दिखाती है, वहीं दूसरी तरफ राजधानी पटना में पिछड़ों-दलितों के साथ ऊँची जातिवालों के गठजोड़ को भी पकड़ती है। 'राजधानी के जातिवाद' को देखकर

तिरलोचन को झटका लगता है- ''गाँव से बिल्कुल अलग है यहाँ की रीत। जिसकी जात-बिरादरी वाले गाँव में अलग पार्टी बनाकर लड़ते फिर रहे हैं, वही यहाँ पाँव लगी कर रहा है। यहाँ तो पंडित और दुसाध एक खाट पर साथ बैठकर मुँह से मुँह सटाए बतिया रहे हैं। अंडल-मंडल सब फेल है यहाँ।''[54]

लम्बे समय से राजधानी में रह रहे नटवर पांडे समझ चुके हैं कि भलाई समय के साथ चलने में है, जो प्रभावशाली है उसका पल्ला पकड़े रहो, चाहे वह किसी भी जाति का हो! भतीजे तिरलोचन पांडे को भी वह यही सीख देते हैं- ''सुनो, अपना अकिल-ज्ञान और पंडिताई सहेजकर रखो। गाँव ना है कि...। और एक बात कान खोलकर सुन लो, मोतिया-फकीरवा मत करो...चमरा-दुसाध मत कहो...परदेश में रहना चाहते हो तो अपना माथा बदलो।''[55] बात तिरलोचन पांडे को समझ में आ जाती है। कहानी का अंत तिरलोचन पांडे के 'जातिवादी व्यक्तित्वांतरण' के संकेत के साथ होता है।

भारतीय लोकतंत्र पर लंबे समय तक प्रभुत्वशाली जातियों का कब्जा रहा है। यद्यपि आज भी स्थितियाँ पूरी तरह नहीं बदली हैं, लेकिन दलित-पिछड़ी जातियों के राजनीतिक चेतना संपन्न होने के साथ थोड़ा बहुत परिवर्तन तो आया है। प्रभुत्वशाली जातियाँ अपने सामाजिक दबदबे, संपत्ति और पुलिस-प्रशासन के साथ अपनी साँठ-गाँठ के बूते पर भारतीय लोकतंत्र को बंधक बनाती रही हैं। चुनाव की पूरी प्रक्रिया को प्रभुत्वशाली जातियाँ प्रभावित करती हैं। प्रेमकुमार मणि की कहानी 'उसका वोट' भारतीय लोकतंत्र और जाति के इसी सहसंबंध को केंद्र में रखती है। कहानी का कथा-केंद्र 'सोना टोला' है, जहाँ आजादी के चालीस साल बाद भी लोकतंत्र बहाल नहीं हो पाया है। मणि लिखते हैं- "बहुत पुराना टोला है और बहुत पुराना लोकतंत्र। लेकिन इस टोले के लोगों ने आज तक किसी चुनाव में वोट नहीं दिया। बावन से लेकर अब तक के चुनावों में इस टोले के वोटरों का बूथ बगल के गाँव सुहावनपुर में रहा। सत्तावन के चुनाव में हरंगी चार-पाँच लोगों को समझा-

बुझाकर वोट डालने ले गया था। भागते-भागते भी उसके पीठ पर तीन जबरदस्त लाठियाँ पड़ गई थीं। हरंगी रैदास ने बासठ के चुनाव के वक्त जगजीवन राम तक को चिट्ठी लिखी थी कि हम साठ घर दलित-बैकवर्ड कभी वोट नहीं डाल पाते। हमलोगों का बूथ बबुआन टोली से हटा दिया जाए। कि नवरंगी बाबू बहुत जुलूम करते हैं। छुआछूत मानते हैं।"[56]

प्रेमकुमार मणि की यह कहानी आजादी के चालीस साल बाद दलितों-पिछड़ों की राजनीतिक सुगबुगाहट को भी रेखांकित करती है। दलित-पिछड़े अब अपने राजनीतिक अधिकारों को प्रभुत्वशाली जातियों से डरकर छोड़ने को तैयार नहीं हैं। दलित-पिछड़े अब मुकाबला करने की मुद्रा में प्रस्तुत हो रहे हैं। यह कहानी दलित-पिछड़ी जातियों के राजनीतिक उभार का संकेत करने वाली कहानी है। प्रेमकुमार मणि बिहार में दलितों-पिछड़ों के इस राजनीतिक उभार में वामपंथ की भूमिका को भी रेखांकित करते हैं। सोना टोला के लिए अलग बूथ की स्वीकृति और लोगों को राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूक और एकजुट करने का काम आंदोलन पासवान करता है जो 'तिनतरवा पार्टी की वर्करी' करता है। इसके अलावा पलटन कुम्हार का बेटा जानकी भी टोले के लोगों को एकजुट करता है जो 'तिनतरवा पाटी की ग्राम समिति का सचिव' है। एक और प्रसंग है जिसमें वामपंथ की भूमिका को रेखांकित किया गया है- "मंगेसर पासी गाँव के सबसे ऊँचे ताड़ पर चढ़ गया है और उसने तीन तारों वाला झंडा उसकी चोटी पर फहरा दिया है- क्रांतिकारी झंडा।"[57]

बहरहाल! कहानी में सोना टोला के तमाम दलित-बैकवर्ड मतदान के अपने लोकतांत्रिक अधिकार का इस्तेमाल नहीं कर पाते हैं। सुहावनपुर के बबुआन लोग सत्ता, संपत्ति और शस्त्र के बल पर एक बार फिर लोकतंत्र को बंधक बनाने में कामयाब हो जाते हैं। लेकिन कहानी निराशा के साथ समाप्त नहीं होती। आशा और उत्साह का एक वाक्य मरते-मरते हरंगी रैदास कह जाता है- "मैंने वोट दे दिया जानकी। आंदोलन से कह देना बक्सा खाली नहीं जाएगा।"[58] हरंगी रैदास की यह बात नब्बे के दशक में दलितों-पिछड़ों के राजनीतिक उभार का साफ-साफ संकेत कर देती है।

भारतीय समाज में उच्च शिक्षण संस्थान जातिवाद का अड्डा बन चुके हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सतीश देशपांडे अपने एक लेख में भारतीय शिक्षण संस्थानों के जातिवादी चरित्र को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "बात बेचैन कर सकती है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय विश्वविद्यालयों में, हाल तक एक अपार्थाईड-नुमा (नस्लभेद-नुमा) जाति-भेद कायम रहा है। यह सही है कि शास्त्रीय नस्लभेदी व्यवस्था के तर्ज पर हमारे यहाँ जातीय भेदभाव को कानूनी जामा नहीं पहनाया गया, बल्कि इसके विपरीत भारतीय गणराज्य ने समान नागरिकता के सिद्धान्त को शुरू से ही अपनाया... लेकिन इस कानूनी समता के बावजूद उच्च शिक्षा पर एक अल्पसंख्यक समुदाय का कमोबेश एकाधिकार रहा है, और यह है साधन-सम्पन्न सवर्णों का समुदाय। स्पष्ट शब्दों में कहें तो...भारत में प्रत्यक्ष कानूनी संरक्षण न मिलने के बावजूद एक किस्म का व्यावहारिक जातीय बहिष्कार पनपा जिसने हमारे सबसे प्रतिष्ठित अभिजात विश्वविद्यालयों को प्रायः 'सवर्ण विश्वविद्यालय' बना डाला।"[59]

चूँकि विश्वविद्यालयों में मौजूद लोग तथाकथित 'पढ़े-लिखे' लोग हैं, इसलिए वहाँ जातिवाद काफी 'सोफ़ेस्टिकेटेड' तरीके से अपना काम करता है। दलित-पिछड़ी जाति के विद्यार्थियों को आरक्षण की सुविधा के कारण शिक्षण संस्थानों में नामांकन अगर मिल भी जाता है, तो वहाँ पहुँचकर वे लगातार जातिवादी व्यवस्था के निशाने पर रहते हैं। 1984 में प्रकाशित गिरिराज किशोर का उपन्यास- 'परिशिष्ट' भारत की उच्च शिक्षा-व्यवस्था के इसी जातिवादी चेहरे को बेपर्दा करता है।

अनुकूल और रामउजागर जैसे दलित समाज से आने वाले विद्यार्थियों के माध्यम से उपन्यासकार ने आई.आई.टी. जैसे उच्च और प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थानों की सवर्ण और ब्राह्मणवादी मानसिकता को पहचानने का प्रयास किया है। दलितों को मिलने वाले आरक्षण के प्रति ऊँची जातियों का विद्वेषपूर्ण रवैया कितना घृणित और हिंसक हो सकता है, इसे इस उपन्यास में देखा जा सकता है। उपन्यास का एक महत्वपूर्ण पात्र रामउजागर संस्थान के जातिवादी माहौल में इतनी घुटन और इतना अपमान महसूस करता है कि अंततः आत्महत्या कर लेता है। रामउजागर की

आत्महत्या ऊच्च शिक्षण संस्थाओं में जातिवादी और दलित विरोधी माहौल के प्रतिकार स्वरूप की गई आत्महत्या है। असल में यह एक दलित विरोधी, जातिवादी समाज द्वारा की गई सांस्थानिक हत्या है, जिसके कई वास्तविक और ताजे उदाहरण हमारे समाज में मौजूद हैं।

प्रेमकुमार मणि का उपन्यास 'ढलान' आजादी के ठीक बाद की भारतीय राजनीति, खासकर उत्तर भारत की राजनीति के जातिवादी समीकरणों का जायजा लेते हुए भारतीय समाज में जाति के यथार्थ की बारीकी से पहचान करता है। बिहार के रानाबिगहा और पुरंदरपुर नाम के दो गाँवों को कथा-केंद्र बनाकर अगड़ी और पिछड़ी जातियों की टकराहट को बिल्कुल जीवंत रूप में प्रेमकुमार मणि ने चित्रित किया रानाबिगहा पिछड़ों का गाँव है। पुरंदरपुर में भूमिहार बाभनों का प्रभुत्व है। उपन्यास की कथा इन्हीं दोनों गाँवों की आपसी जातिगत टकराहट के माध्यम से आगे बढ़ती है।

भारतीय राजनीति में जाति हमेशा से एक महत्त्वपूर्ण भूमिका में रहती आई है। किसी उम्मीदवार की जीत-हार उसकी और उसके मतदाताओं की जाति से बहुत हद तक तय होती रही है। 'ढलान' उपन्यास का घटनाक्रम 1957 के बिहार विधानसभा चुनाव के समय का है। इस चुनाव के माध्यम से भारतीय राजनीति के जातिवादी चरित्र को और साथ ही जातियों के राजनीतिकरण की प्रक्रिया को मणि जी ने बड़ी ही बारीकी से पकड़ा है और उपन्यास में अभिव्यक्त किया है।

ऊँची जातियाँ हमेशा से सत्ता पक्ष में रही हैं। कोई-न-कोई जोड़-तोड़ करके, तिकड़म लगाकर वे सत्तातंत्र में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती रही हैं। इनके लिए पार्टी, सिद्धांत, विचारधारा- इन सब का कोई मतलब नहीं है। जिस तरीके से अपना जातिवादी स्वार्थ सिद्ध होता हो, वह तरीका ही इनके लिए सबसे बेहतर है। 'ढलान' उपन्यास में पुरंदरपुर के भूमिहारों के माध्यम से इस बात को खूब भली प्रकार समझा जा सकता है। उपन्यास में 1957 के बिहार विधानसभा चुनाव का प्रसंग है, जिसमें नौरंगपुर विधानसभा सीट से कांग्रेस के उम्मीदवार हुए केशव सिंह और कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार हुए वरुण शर्मा। पुरंदरपुर के भूमिहार कम्युनिस्टों को पानी पी-पीकर गाली देते थे, लेकिन वरुण शर्मा के उम्मीदवार बनते ही "पुरंदरपुर का भूमिहार

टोला...रातों-रात कम्युनिस्ट हो गया था...आठ-दस घरों पर लाल झंडे लग गए हैं। लगभग पूरा टोला कम्युनिस्ट उम्मीदवार का समर्थक हो गया है।"[60] पुरंदरपुर के भूमिहारों के इस हृदय परिवर्तन का कारण सिर्फ एक ही था- वरुण शर्मा भूमिहार थे। 'त्रिवेणी संघ' के पुराने कार्यकर्त्ता चंदन दुबे पुरंदरपुर के भूमिहारों की इस जातिवादी चालाकी और मौकापरस्ती को स्पष्ट करते हैं- "अब यही देखिए कि कितनी जल्दी वे बदल गए। अब तक कांग्रेस का उम्मीदवार भूमिहार होता था। वे अपनी जात को वोट देते थे... लेकिन अब की। इस बार। इस बार कांग्रेस का उम्मीदवार भूमिहार नहीं है, कम्युनिस्ट पार्टी का उम्मीदवार है। इसलिए वह कम्युनिस्ट पार्टी को वोट देंगे। अब आप ही सोचिए, कौन है जातिवादी।"[61] उपन्यास के एक अन्य बुजुर्ग पात्र, रानाबिगहा निवासी महाशय जी भी 1952 के चुनाव का हवाला देते हुए भूमिहारों की जातिवादी राजनीति की कलई खोलते हैं- "तब भी यही वरुण शर्मा उम्मीदवार थे। लेकिन उस बखत ये पुरंदरपुर के लोग क्यों नहीं दिए कम्युनिस्ट पार्टी को ओट? इसीलिए न कि कांग्रेस का उम्मीदवार भी भूमिहार था।"[62]

साफ है कि पुरंदरपुर के भूमिहारों के मतदान का बहुत स्पष्ट जातिवादी आधार है। वोट भूमिहार को देंगे- उसकी पार्टी चाहे जो हो। स्वतंत्र भारत की राजनीति लगभग पूरे देश में इसी जातिवादी समीकरण से तय हो रही है।

ऊँची जातियों के सामंत-जमींदार अपनी जातिवादी दबंगई और सामाजिक दबदबे से चुनाव की पूरी प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। इलाके के पिछड़ों-दलितों को डरा-धमकाकर और मारपीट कर उन्हें वोट न देने देना इनके लिए आम बात है। इस उपन्यास में भी ऐसे प्रसंग आए हैं।

दरअसल आजाद भारत में हमने जो लोकतंत्र स्थापित किया, उस पर अधिकांश कब्जा ऊँची जातियों का ही रहा। लेकिन धीरे-धीरे ये स्थितियाँ बदली हैं। नब्बे के दशक में दलित-पिछड़ी जातियों का राजनीतिक उभार बहुत तेजी से हुआ। इससे भारतीय राजनीति की सामाजिक संरचना

बदली है। ऊँची जातियों का प्रभुत्व तो आज भी है, लेकिन उनका एकाधिकार खत्म हुआ है। यह सब लोकतांत्रिक प्रक्रिया के कारण ही संभव हो सका है।

ऊँची जातियों की एक खास विशेषता यह है कि वे अपनी समस्याओं का सार्वभौमिकरण करने में चतुर होते हैं। दलितों-पिछड़ों की समस्या उनकी व्यक्तिगत समस्या है और ऊँची जाति वालों की समस्या पूरे समाज और पूरी मानवता की समस्या! ऊँची जातियों का यह एक खास सामाजिक चरित्र है, जिसे प्रेमकुमार मणि ने बिल्कुल ठीक नोटिस किया है। अपने इस उपन्यास में वे लिखते हैं-

"असराफ टोला अपनी हर बात में पूरे गाँव का हवाला देता है।

जैसे वे कहेंगे अदालत (उपन्यास का एक पात्र- अदालत शर्मा) की हार से पूरे गाँव को पटकनी लगी। हर कोई और वे भी जानते हैं कि साढ़े चार सौ घरों में से चार सौ घर उनके खिलाफ ही रहते हैं। फिर भी हवाला पूरे पुरंदरपुर का देंगे। मानो वही लोग पुरंदरपुर हों। मिस्त्रीजी इसी को कहते हैं कुलीन शेखी। उनका कहना है कुलीनता के उद्बोधन का यही तरीका है। ब्रह्मांड, निखिल विश्व, अखिल भारतीय से नीचे उनकी कोई बात होती ही नहीं। उनका कोई भी मामला अखिल भारतीय होता है। हमारी बड़ी-से-बड़ी बात को टोले-मुहल्ले की बात बताकर खारिज कर देंगे, या मजाक उड़ाएँगे।"[63]

जातिवादी समाज का अनुभव रखने वाला कोई भी व्यक्ति ऊँची जाति वालों की इस 'कुलीन शेखी' से अपरिचित न होगा।

प्रेमकुमार मणि का यह उपन्यास उत्तर भारतीय समाज में मौजूद जातिवाद की परतों को खोलता है। जातिवादी समाज का उपन्यासकार का अनुभव जितना प्रामाणिक है, उसका विश्लेषण उतना ही बारीक।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य के उपर्युक्त प्रातिनिधिक उदाहरणों के आधार पर इस बात को समझा जा सकता है कि जाति का सवाल अब भी हिन्दी के कथाकारों के लिए अप्रासंगिक नहीं हुआ है। यह हो भी नहीं सकता। जब तक हिन्दी का साहित्यकार अपनी सामाजिक पक्षधरता के प्रति सचेत होगा, वह जाति के सवाल की अवहेलना कर ही नहीं सकता। जाति के सवाल को नजरंदाज करके किया गया भारतीय समाज का कोई भी विश्लेषण न सिर्फ अधूरा होगा, बल्कि भ्रामक होगा। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथाकार भी इस बात को अच्छे-से समझते हैं।

आजादी से पहले और आजादी के बाद के हिन्दी कथा साहित्य में जाति के सवाल की उपस्थिति और उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप के विश्लेषण के आधार पर हिन्दी कथा साहित्य में जाति और जातिवाद के चित्रण की विकास यात्रा को मोटे तौर पर तीन चरणों में विभाजित करके देखा जा सकता है। पहला चरण है आजादी से पहले के कथा साहित्य में जाति और जातिवाद के चित्रण का। इस दौर के कथा साहित्य में जातिवादी शोषण का यथार्थ अभिव्यक्त हुआ, जहाँ ऊँची जातियों द्वारा मुख्यतः दलित जातियों, और कहीं-कहीं पिछड़ी जातियों, के शोषण और उन पर अत्याचार की अभिव्यक्ति हुई। यहाँ ऊँची जातियों को दलितों-पिछड़ों की ओर से कोई खास चुनौती नहीं मिलती। प्रतिरोध का स्वर यहाँ बहुत कम सुनाई पड़ता है। दूसरा चरण आजादी के बाद और मुख्य रूप से दलित साहित्य के साथ शुरू होता है। दलित साहित्य में दलितों पर ऊँची जातियों के अत्याचार के साथ-साथ दलितों के प्रतिरोध की भी अभिव्यक्ति होती है। अब ऊँची जातियों के वर्चस्व को चुनौती मिलनी शुरू होती है और इसी के साथ अगड़ी जातियों का असंतोष भी दिखाई पड़ना शुरू होता है। तीसरा चरण 1990 के बाद के साहित्य में दिखाई पड़ता है, जहाँ दलितों-पिछड़ों के राजनीतिक रूप से मजबूत होने और सत्ता में भागीदार होने तथा मण्डल आयोग की रिपोर्ट के सामने आने के बाद अगड़ी जातियों में एक किस्म का 'फ्रस्ट्रेशन' दिखाई पड़ता है। जातिवाद एक नए कलेवर में दिखाई पड़ना शुरू होता है। शहरों में रहने वाले ऊँची जाति के लोगों

में एक किस्म का जातिवादी समायोजन भी दिखाई पड़ता है। दलित-पिछड़ी जातियों के प्रभावशाली व्यक्तियों के साथ जाति की मर्यादा को तोड़ने में अगड़ी जाति के 'समझदार' लोगों को कोई परेशानी नहीं होती। ये हवा का रुख देखकर दलितों-पिछड़ों के साथ 'मधुर' संबंध बनाने में हिचकते नहीं हैं। इस दौर के कथा साहित्य में ऊँची जाति के लोगों का 'जातिवादी व्यक्तित्वांतरण' दिखलाई पड़ता है। साथ ही जातिवादी व्यवहार का स्वरूप भी पहले की तुलना में काफी बदल गया है। ज़ाहिर है यह सब जाति के जटिल होते हुए यथार्थ का संकेत है। भारतीय समाज में जाति संबंधों के बदलते स्वरूप पर ध्यान दें तो लगभग यही स्थिति दिखाई पड़ती है। हिन्दी के कथाकार इस अर्थ में भारतीय समाज में जाति-संबंध का इतिहास भी अपनी रचनाओं में दर्ज करते रहे हैं।

हिन्दी साहित्य का समाजशास्त्र निश्चित ही जाति के सवाल को अनदेखा करके विकसित नहीं किया जा सकता। जाति के सवाल को अनदेखा करके हिन्दी साहित्य का जो समाजशास्त्र विकसित किया जाएगा, उसे हम हिन्दी साहित्य पर जबरन आरोपित भले कर दें, मगर साहित्य का ऐसा समाजशास्त्र न तो साहित्य को समझने में मददगार होगा और न समाज को।

संदर्भ

---

[1] फणीश्वरनाथ रेणु, सम्पूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ- 182

[2] वही, पृष्ठ- 182

[3] वही, पृष्ठ- 182

[4] वही, पृष्ठ- 182

[5] वही, पृष्ठ- 184

[6] वही, पृष्ठ- 185

[7] वही, पृष्ठ- 115

[8] वही, पृष्ठ- 115

[9] फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृष्ठ-14

[10] वही, पृष्ठ-15

[11] देखें- प्रसन्न कुमार चौधरी/श्रीकांत, बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ-74-83

[12] मैला आँचल, पृष्ठ-15

[13] वही, पृष्ठ-15

[14] वही, पृष्ठ-19

[15] वही, पृष्ठ-16

[16] मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2010, पृष्ठ- 8

[17] वही, पृष्ठ- 208

[18] वही, पृष्ठ- 494

[19] नागार्जुन, नागार्जुन रचनावली-4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृष्ठ- 157-158

[20] वही, पृष्ठ- 379

[21] वही, पृष्ठ- 381

[22] वही, पृष्ठ- 166-167

[23] वही, पृष्ठ- 221

[24] रांगेय राघव, कब तक पुकारूँ, राजपाल एंड संस, 2014, पृष्ठ- 262

[25] वही, पृष्ठ- 113

[26] जगदीश चंद्र, धरती धन न अपना, आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2013, पृष्ठ- 130

[27] वही, पृष्ठ- 156

[28] वही, पृष्ठ- 185

[29] अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 2013, पृष्ठ- 30

[30] मदन दीक्षित, मोरी की ईंट, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृष्ठ- 9

[31] वही, पृष्ठ- 57

[32] वही, पृष्ठ- 40

[33] मुद्राराक्षस(संपा.), नई सदी की पहचान: श्रेष्ठ दलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ- 28

[34] ओमप्रकाश वाल्मीकि, सलाम (कहानी संग्रह), राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ- 19

[35] रत्नकुमार सांभरिया, दलित समाज की कहानियाँ (कहानी संग्रह), अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2014, पृष्ठ- 27

[36] मधुकर सिंह, पहली मुक्ति (कहानी संग्रह), क्षितिज प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृष्ठ- 151

[37] सुभाष चंद कुशवाह (संपा.), जातिदंश की कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृष्ठ- 69

[38] वही, पृष्ठ- 81

[39] जयप्रकाश कर्दम, एक जीवन के लिए एक जीवन का अंत (लेख), हंस (पत्रिका), सत्ता विमर्श और दलित विशेषांक, अगस्त, 2004, पृष्ठ- 80

[40] जयप्रकाश कर्दम, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृष्ठ- 31

[41] वही, पृष्ठ- 31

[42] वही, पृष्ठ- 40

[43] देखें, वही, पृष्ठ- 88, 89, 99, 102, 117

[44] वही, पृष्ठ- 113

[45] उमराव सिंह जाटव, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृष्ठ- 222

[46] वही, पृष्ठ- 312

[47] कैलाश चंद चौहान, सुबह के लिए, आरोही प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृष्ठ- 67

[48] वही, पृष्ठ- 45

[49] जातिदंश की कहानियाँ, पृष्ठ- 214

[50] देखें, प्रसन्न कुमार चौधरी / श्रीकांत, बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ- 316-317

[51] जातिदंश की कहानियाँ, पृष्ठ- 171

[52] वही, पृष्ठ- 170

[53] वही, पृष्ठ-171

[54] वही, पृष्ठ-177

[55] वही, पृष्ठ- 167

[56] प्रेमकुमार मणि, उपसंहार (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृष्ठ- 143

[57] वही, पृष्ठ- 145

[58] वही, पृष्ठ-150

[59] सतीश देशपांडे, 'कमज़ोर' छात्र और 'कुलीन' संस्थान: भारतीय विश्वविद्यालयों में लोकतंत्रीकरण की चुनौतियाँ (लेख), बया (पत्रिका), भारत की उच्च शिक्षा विशेषांक-1, जनवरी-मार्च, 2017, पृष्ठ- 8

[60] प्रेमकुमार मणि, ढलान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ- 119

[61] वही, पृष्ठ- 126

[62] वही, पृष्ठ- 126-127

[63] वही, पृष्ठ- 214-215

ग्रंथानुक्रमणिका

आधार ग्रंथ:

1. अमृतलाल नागर, नाच्यौ बहुत गोपाल, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 2013
2. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', हरिऔध ग्रंथावली-5, तरुण कुमार (संपा.), प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2010
3. इन्द्र बसावड़ा, घर की राह, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, 2015
4. उमराव सिंह जाटव, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008
5. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सलाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2000
6. कैलाश चंद चौहान, सुबह के लिए, आरोही प्रकाशन, दिल्ली, 2011
7. गरिमा श्रीवास्तव (संपादन एवं प्रस्तुति), वामा शिक्षक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 2009
8. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, ए क्लास का कैदी, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
9. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, दूसरा बच्चा, इतिहास-शोध संस्थान, दिल्ली, 2007
10. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, वे भेड़िए, झारीसन प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2012,
11. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, हिरनी, सहयोग प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृष्ठ-148
12. जगदीश चंद्र, धरती धन न अपना, आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2013
13. जयप्रकाश कर्दम, छप्पर, राहुल प्रकाशन, दिल्ली, 2013
14. जयशंकर प्रसाद, तितली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010
15. जयशंकर प्रसाद, प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ एवं निबंध, सत्यप्रकाश मिश्र (संपा.), लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009
16. जयशंकर प्रसाद, प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ एवं निबन्ध, सत्यप्रकाश मिश्र (संपा.), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009
17. नागार्जुन, नागार्जुन रचनावली-4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011
18. पं.श्रद्धाराम फुल्लौरी, भाग्यवती, ऋषभचरण जैन एवम् संतति, नई दिल्ली, 1988
19. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', मनुष्यानन्द (बुधुआ की बेटी), रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, दिल्ली, 1958

20. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', श्रेष्ठ रचनाएँ, खंड-1 और 2, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2012
21. प्रेमकुमार मणि, उपसंहार (कहानी संग्रह), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2009
22. प्रेमकुमार मणि, ढलान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
23. प्रेमचंद, कर्मभूमि, सुमित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010
24. प्रेमचंद, गोदान, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, 1996
25. प्रेमचंद, प्रेमाश्रम, मारुति प्रकाशन, मेरठ
26. प्रेमचंद, मानसरोवर, खंड-1 से 8, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001
27. प्रेमचंद, रंगभूमि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011
28. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2004
29. फणीश्वरनाथ रेणु, संपूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010
30. भवदेव पाण्डेय (संपा.), हिन्दी कहानी का पहला दशक, रेमाधव पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2006
31. भुवनेश्वर मिश्र, बलवंत भूमिहार और घराऊ घटना, प्रस्तुति- रामनिरंजन परिमलेंदु, विद्या विहार, नई दिल्ली, 2005
32. मदन दीक्षित, मोरी की ईंट, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, 1996
33. मधुकर सिंह, पहली मुक्ति, क्षितिज प्रकाशन, दिल्ली, 2013
34. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010
35. मुद्राराक्षस(संपा.), नई सदी की पहचान: श्रेष्ठ दलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, 2012
36. यशपाल, दिव्या, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011
37. यशपाल, संपूर्ण कहानियाँ, खंड-1 से 4, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010
38. रत्नकुमार सांभरिया, दलित समाज की कहानियाँ, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2014
39. रमणिका गुप्ता (चयन एवं सम्पादन), दलित कहानी संचयन, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, 2012
40. रांगेय राघव, कब तक पुकारूँ, राजपाल एंड संस, 2014
41. रामवृक्ष बेनीपुरी रचना संचयन, सं.मस्तराम कपूर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2009

42. रूपनारायण सोनकर, सूअरदान, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, 2013
43. लाला श्रीनिवास दास, परीक्षा-गुरु, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002
44. शिवपूजन सहाय, देहाती दुनिया, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012
45. शिवपूजन सहाय, शिवपूजन रचनावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1956
46. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', शेखर: एक जीवनी, पहला भाग, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 2009
47. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', सम्पूर्ण कहानियाँ, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 2013
48. सुभाष चंद कुशवाह (संपा.), जातिदंश की कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 2009
49. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निराला रचनावली, खंड-3 और 4, नन्दकिशोर नवल (संपा.), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2006
50. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', निरुपमा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2005

संदर्भ ग्रंथ:

1. अभय कुमार दुबे (संपा.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2007
2. अमृतराय (संकलन और रूपांतर), प्रेमचंद: विविध प्रसंग, भाग-2, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
3. अमृतराय, कलम का सिपाही, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1992
4. ऋग्वेद-संहिता (मूलमात्रम), चौखंभा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2011
5. ए.आर.देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, 2009
6. ए.बी.बर्धन, वर्ग, जाति आरक्षण और जातिवाद के खिलाफ संघर्ष, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1990
7. एम.एन.श्रीनिवास, आधुनिक भारत में जाति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2009
8. एम.एन.श्रीनिवास, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2009

9. ओंकार शरद (संपा.), लोहिया के विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
10. ओंकार शरद, लोहिया: एक प्रामाणिक जीवनी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009
11. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2014
12. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2013
13. कमल नयन चौबे, जातियों का राजनीतिकरण, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008
14. कँवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
15. किशोरलाल मशरूवाला, गाँधी विचार-दोहन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, 2011
16. गिरिराज किशोर, डॉ. आनंद कुमार (संपा.), लोहिया के सौ वर्ष, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 2011
17. गिरीश मिश्र एवं व्रजकुमार पांडेय, बिहार में जातिवाद, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
18. गेल ओमवेट, दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति, सेज पब्लिकेशन्स इंडिया प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, 2009
19. गेल ओमवेट, दलित दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
20. गोपाल राय, उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2012
21. गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002
22. गोपाल राय, हिन्दी कहानी का इतिहास, खंड-1 और 2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2010
23. चन्द्रकान्त बान्दिवडेकर, उपन्यास: स्थिति और गति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2009
24. चमन लाल (संपा.), जगदीश चंद्र : दलित जीवन के उपन्यासकार, आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2010
25. जीतेन्द्र गुप्ता(संपा.), जाति-प्रथा: दो निबन्ध, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2008
26. जे.एच.हटन, भारत में जाति-प्रथा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2007
27. ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद-पूर्व के हिन्दी उपन्यास, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, 1998
28. ज्ञानचंद जैन, प्रेमचंद-पूर्व के हिन्दी उपन्यास, आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली, 1998
29. डा.अंबेडकर संपूर्ण वाङमय, खंड-1 से 21, डा.अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2000

30. डॉ. कृष्णदेव झारी(संपा.), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की विशिष्ट कहानियाँ, इण्डियन बुक बैंक, दिल्ली, 2013
31. डॉ. गंगासागर राय (संपा. एवं व्याख्या), याज्ञवल्क्यस्मृतिः, चौखंभा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2011
32. डॉ. जयप्रकाश कर्दम(संपा.), जाति: एक विमर्श, नवभारत प्रकाशन, दिल्ली, 2008
33. डॉ. ब्रजकिशोर स्वाईं(संपा.), नारदस्मृतिः, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2008
34. डॉ. शिवशंकर अवस्थी (संपा. एवं हिन्दी भाष्यकार), पुरूषसूक्त भाष्यसङ्गहः, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1994
35. तुलसीदास, रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2058
36. दामोदर धर्मानंद कोसंबी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1998
37. पं. रामगोविन्द त्रिवेदी(अनुवाद), हिन्दी ऋग्वेद-संहिता, चौखंभा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1992
38. प्रमोद रंजन, आयवन कोस्का (संपा.), बहुजन साहित्य की प्रस्तावना, द मार्जिनलाइज्ड प्रकाशन, वर्धा, 2016
39. प्रसन्न कुमार चौधरी एवं श्रीकान्त, स्वर्ग पर धावा: बिहार में दलित आंदोलन, वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2005
40. प्रसन्न कुमार चौधरी, श्रीकान्त, बिहार में सामाजिक परिवर्तन के कुछ आयाम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2010
41. बच्चन सिंह, उपन्यास का काव्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2014
42. बजरंग बिहारी तिवारी, दलित साहित्य: एक अंतरयात्रा, नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015
43. भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
44. भगवतीचरण वर्मा , भगवतीचरण वर्मा की संपूर्ण कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011

45. भगवान सिंह, भारतीय परंपरा की खोज, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
46. महर्षि दयानंद सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश:, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली
47. मुद्राराक्षस, धर्मग्रन्थों का पुनर्पाठ, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005
48. मैनेजर पांडेय, साहित्य और दलित दृष्टि, सर्वेश कुमार मौर्य (संपा.), स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
49. मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2001
50. रंगनायकम्मा, जाति प्रश्न के समाधान के लिए: बुद्ध काफी नहीं, अंबेडकर भी काफी नहीं, मार्क्स जरूरी हैं, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, 2011
51. राजकिशोर(संपा.), हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
52. राजकिशोर, जाति कौन तोड़ेगा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2005
53. राधाकुमुद मुखर्जी, प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000
54. राम कमल राय, राममनोहर लोहिया: आचरण की भाषा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
55. रामविलास शर्मा, 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2011
56. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1998
57. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1994
58. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000
59. रावसाहेब कसबे, आंबेडकर और मार्क्स, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2009
60. रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोक जीवन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1980
61. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000
62. वाचस्पति गैरोला (संपादन तथा व्याख्या), कौटिलीय अर्थशास्त्रम, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2011
63. वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर
64. विश्वनाथ त्रिपाठी, कहानी के साथ-साथ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016

65. वीर भारत तलवार, किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008
66. वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य: कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियाँ, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1994
67. वैदिक सूक्त-संग्रह, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2067
68. शिवराज आचार्य कौण्डिन्न्यायन (संपादन, अनुवाद तथा व्याख्या), मनुस्मृति, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2008
69. श्यामाचरण दुबे, भारतीय समाज, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2008
70. श्रीभगवान सिंह, गाँधी और दलित भारत-जागरण, भारतीय ज्ञानपीठ, 2010
71. श्रीमुनिलाल गुप्त (अनुवाद), श्रीविष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2069
72. संजीव खुदशाह, आधुनिक भारत में पिछड़ा वर्ग, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2010
73. सच्चिदानंद सिन्हा, जाति व्यवस्था, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2006
74. सुवीरा जायसवाल, वर्णजाति व्यवस्था, ग्रंथशिल्पी, दिल्ली, 2011

अँग्रेजी पुस्तकें

1. Dipankar Gupta (Ed.), Social Stratification, Oxford University Press, New Delhi, 2011
2. Dr. V. Kannupillai (Ed.), Caste, Siddharth Books, Delhi
3. G.S. Ghurye, Caste and Race in India, Popular Prakashan, Bombay, 2008
4. Gail Omvedt, Understanding Caste, Orient Blackswan, New Delhi, 2015
5. Louis Dumont, Homo Hierarchicus, Oxford University Press, New Delhi, 2009
6. M.K.Gandhi, Hindu Dharm, Orient Paperbacks, New Delhi, 2005
7. Nicholas B. Dirks, Castes of Mind, Permanent Black, Delhi, 2010
8. Surinder S. Jodhka, Caste, Oxford University Press, New Delhi, 2012
9. Susan Bailey, Caste, Society and Politics in India, Cambridge University Press, 2010

पत्रिकाएँ

1. **आरोह** , अंक-1, वर्ष- 1, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, 2013
2. **पक्षधर**, उपन्यास आलोचना महाविशेषांक, भाग- 1, जुलाई-दिसंबर, 2015
3. **पक्षधर**, उपन्यास आलोचना महाविशेषांक, भाग- 2, जनवरी-जून, 2016
4. **फॉरवर्ड प्रेस**, मई, 2015
5. **बया**, भारत की उच्च शिक्षा विशेषांक-1, जनवरी-मार्च, 2017
6. **हंस**, सत्ता विमर्श और दलित विशेषांक, अगस्त, 2004